ऋक्तन्त्र

एक परिशीलन

डॉ. सुरेश प्रकाश पाण्डेय

JACL-KRC
013126

केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जयपुर

पुस्तकालय

पुस्तक संख्या………………………………

वर्गीकरण संख्या………………………………

13126

केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जयपुर

पुस्तकालय

वर्गीकरण सं०................

पुस्तक सं०.....13126..... दिनाङ्क.................

यह पुस्तक नीचे अङ्कित तिथि या उससे पूर्व लौटा दी जानी चहिये । यदि पुस्तक निर्धारित तिथि से अधिक समय तक पाठक अपने पास रखेंगे तो 5 पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब शुल्क देय होगा ।

12 : 2 U

केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जयपुर

पुस्तकालय

पुस्तक संख्या..

वर्गीकरण संख्या..

केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जयपुर

पुस्तकालय

वर्गीकरण सं० ....

पुस्तक सं० 13126 दिनाङ्क ....

यह पुस्तक नीचे अङ्कित तिथि या उससे पूर्व लौटा दी जानी चहिये । यदि पुस्तक निर्धारित तिथि से अधिक समय तक पाठक अपने पास रखेंगे तो 5 पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब शुल्क देय होगा ।

12 : 2U

U [illegible]

ऋक्तन्त्र : एक परिशीलन

ऋक्तन्त्र : एक परिशीलन

305
16.9.92

डॉ० सुरेश प्रकाश पाण्डेय

Forwarded Free of cost with
the compliments of Rashtriya
Sanskrit Sansthan, New Delhi

परिमल पब्लिकेशन्स्
दिल्ली

प्रकाशक :
परिमल पब्लिकेशन्स
२७/२८, शक्तिनगर
दिल्ली-११०००७
दूरभाष—७१२ ७२०९

© लेखक

प्रथम संस्करण : १९९१

JACL-KRC
013126

मूल्य : २००.००

मुद्रक :
अमर कम्पोजिंग एजेन्सी,
शाहदरा, दिल्ली-११००३२

प्राक्कथन

मानव-सभ्यता की कहानी जितनी प्राचीन है, जिज्ञासा का इतिहास उतना ही पुराना है। इसी ने मुझे प्रातिशाख्य साहित्य की ओर आकृष्ट किया एवं वेदों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सामवेद की कौथुमशाखा से सम्वद्ध प्रातिशाख्य 'ऋक्तन्त्र' पर आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने को प्रेरित किया।

प्रस्तुत शोध-प्रवन्ध डॉ० पद्मा मिश्र, प्रोफेसर, संस्कृत एवं पालि विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के निर्देशन में सम्पन्न हुआ है। विषय की दुरूहता तो सर्वविदित है। इस कार्य की पूर्ण परिणति में व्यस्त क्षणों के बावजूद उन्होंने पर्यवेक्षण, सम्मति और विचार-विमर्श के लिये जो समय निकाला है, उनके इस अविस्मरणीय अमित स्नेह और अनुग्रह के लिये चिर-ऋणी हूँ।

इस प्रबन्ध की पूर्णता के लिये डॉ० विश्वनाथ भट्टाचार्य, अध्यक्ष, संस्कृत एवं पालि विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी का मैं अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने समय-समय पर मेरी विभिन्न प्रकार से सहायता की है।

अनेक स्थलों पर विचार-विमर्श के लिए अपना अमूल्य समय देकर संस्कृत महाविद्यालय के भूतपूर्व वेद विभागाध्यक्ष पं० ए०एम० रामनाथ दीक्षित ने और संयोजन-सम्मर्श देकर डॉ० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य, भूतपूर्व विभागाध्यक्ष, संस्कृत एवं पालि विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने जो मुझे उपकत किया है उसके लिए मैं इन आचार्य-द्वय का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

प्रातिशाख्यों पर कार्य करने की भावना का स्फुरण पूज्य गुरुवर डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा, रीडर, संस्कृत एवं पालि विभाग, की प्रेरणा से हुआ है। अतएव उनके प्रति कृतज्ञताज्ञापन मेरा परम कर्तव्य है।

डॉ० सुधाकर मालवीय, डॉ० व्यास मिश्र, डॉ० टी० शिवमूर्ति एवं विभागीय पुस्तकालयाध्यक्ष पं० चिन्तामणि झा और उन ग्रन्थकारों का भी मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, जिनसे मैंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहायता ग्रहण की है।

ग्रन्थ के प्रकाशक परिमल पब्लिकेशन्स् के अध्यक्ष श्री के० एल जोशी को साधुवाद देना अपना कर्तव्य समझता हूँ जिन्होंने अत्यल्प समय में सुचारु रूप में इसे प्रकाशित कर विद्वज्जनों के सामने प्रस्तुत किया ।

अन्त में सुधी जनों के समक्ष, ग्रन्थ को, इस आशा से प्रस्तुत कर रहा हूँ कि—

शान्तप्रियाः परमतत्त्वविदो महान्तः
वैगुण्यपुञ्जमपि सद्गुणतां नयन्ति ।
दोषावलीं परितापितया मृदूनि
ज्योतींषि विष्णुपदभाञ्जि विभूषयन्ति ॥

अस्तु ।

सुरेश प्रकाश पाण्डय

विषयानुक्रमणिका

		पृष्ठ
	प्राक्कथन	(v)
	संकेतिका	(ix)
	भूमिका	१
१	अक्षर-समाम्नाय	३१
२	वर्णोच्चारण	६२
३	अक्षर	९२
४	मात्रा	१००
५	स्वर	११३
६	संहिता	१३४
	परिशिष्ट	
	१. ऋक्तन्त्र के सूत्रों का टिप्पणी सहित अनुवाद	२११
	२. ऋक्तन्त्र में उद्धृत आचार्यों का संक्षिप्त विवरण	२४२
	३. ऋक्तन्त्र में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली	२४७
	४. पारिभाषिक शब्दावली के समानार्थक अंग्रेजी शब्द	२४९
	५. सामवेद का स्वराङ्कन प्रकार	२५२
	६. स्वरों का आङ्गिक प्रदर्शन	२५५
	सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची	२५९

संकेतिका

अथर्व०	अथर्ववेद संहिता
अ० पु०	अग्नि पुराण
आ० गृ० सू०	आश्वलायन गृहसूत्र
आ० सं०	आरण्य संहिता
आ० श्रौ०	आश्वलायन श्रौतसूत्र
उ० भा०	उवट भाष्य
ऋ० अ०	ऋग्वेदानुक्रमणी
ऋ० तं० वि०	ऋक्तन्त्र विवृत्ति
ऋ० प्रा०	ऋग्वेद प्रातिशाख्य
ऋ० भा०	ऋग्वेद भाष्य
ऐ० आ०	ऐतरेय आरण्यक
क० व्या०	कच्चायन व्याकरण
का० व्या०	कातन्त्र व्याकरण
का० धा० व्या०	काशकृत्स्न धातु व्याख्यान
सू०	सूत्र
का० नि० शि०	कालनिर्णय शिक्षा
कौ० शि०	कौटलीय शिक्षा
गौ० शि०	गौतमी शिक्षा
चा० व० सू०	चान्द्रवर्ण सूत्र
चा० शि०	चारायणी शिक्षा
जै० न्या० वि०	जैमिनीय न्यायमाला विवरण प्रकाशिका
जै० सू०	जैमिनीय सूत्र
तं० वा०	तंत्रवार्त्तिक
त्रि०	त्रिभाष्य रत्न
तै० आ०	तैत्तिरीय आरण्यक
अ० प्रा०	अथर्ववेद प्रातिशाख्य
अ० भा०	अनन्तभट्ट भाष्य
आ० ब्रा०	आर्षेय ब्राह्मण
आपि० शि०	आपिशल शिक्षा

ईशो०	ईशोपनिषद्
ऋ०	ऋग्वेद
ऋ० सं०	ऋक्तन्त्र
ऋ० तं० वृ०	ऋक्तन्त्र वृत्ति
ऋ० प्रा० वि० वि०	ऋक्प्रातिशाख्य विष्णुद्वयवर्ग वृत्ति
ऋ० भा० भू०	ऋग्वेद भाष्य भूमिका
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
का० प०	कातन्त्र परिशिष्ट
का० श्रौ०	कात्यायन श्रौतसूत्र
का० सं०	काठक संहिता
काश० व्या०	काशकृत्स्न व्याकरण
कौ० ब्रा०	कौषीतकि ब्राह्मण
गो० ब्रा०	गोपथ ब्राह्मण
च० अ०	चतुरध्यायिका
चा० व्या०	चान्द्र व्याकरण
छा० उ०	छान्दोग्योपनिषद्
जै० व्या०	जैनेन्द्र व्याकरण
जै० ब्रा०	जैमिनीय ब्राह्मण
त० बो०	तत्त्व बोधिनी
ता० ब्रा०	ताण्ड्यमहाब्राह्मण
तु०	तुलनीय
तै० प्रा०	तैत्तिरीय प्रातिशाख्य
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
धा० पा०	धातुपाठ
ना० शि०	नारदीया शिक्षा
नै० च०	नैषध चरित
पा० शि०	पाणिनीय शिक्षा
पारि० शि०	पारिशिक्षा
पु० सू०	पुष्पसूत्रम्
प्रा० प्र० शि०	प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा
प्रौ० म०	प्रौढ मनोरमा
बा० म०	बाल मनोरमा
बृ० दे०	बृहद्देवता

म० भा०	महाभाष्य
म० शि०	मल्लशर्म शिक्षा
मा० भा०	माहिषेय भाष्य
माहे० सू०	माहेश्वर सूत्र
मु० उ०	मुण्डकोपनिषद्
मै० उ०	मैत्रायणीयोपनिषद्
या० शि०	याज्ञवल्क्य शिक्षा
लो० शि०	लोमशी शिक्षा
वा० प०	वाक्यपदीय
वा० सं०	वाजसनेयि-संहिता
वै० आ०	वैदिकाभरण भाष्य
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
शि० सं०	शिक्षा संग्रह
शु० य०	शुक्लयुजुर्वेद संहिता
शौ० शि०	शौनक शिक्षा
षो० शि०	षोडश श्लोकी शिक्षा
सं० व्या०	संक्षिप्तसार व्याकरण
तै० सं०	तैत्तिरीय संहिता
ना० शा०	नाट्यशास्त्र
नि०	निरुक्त
प० पा०	पदपाठ
पा० सू०	पाणिनीय सूत्र
पारा० शि०	पाराशर शिक्षा
प्र० उ०	प्रश्नोपनिषद्
प्रयो० व्या०	प्रयोगरत्नमाला
ब्र० सू०	ब्रह्म सूत्र
बृ० उ०	बृहदारण्यक उपनिषद्
भा० पु०	भागवत पुराण
महा० भा०	महाभारत
मा० उ०	माण्डूक्योपनिषद्
मा० शि०	माण्डूकी शिक्षा
मा० सं०	माध्यन्दिन संहिता
मुग्ध० व्या०	मुग्धबोध व्याकरण

मै० सं०	मैत्रायणी सहिता
ल० मा० शि०	लघु माध्यन्दिन शिक्षा
व० प्र० शि०	वर्णरत्नप्रदीप शिक्षा
वा० भा०	वात्स्यायन-भाष्य
वि० व०	विष्णुवर्णद्वय वृत्ति
व्या० शि०	व्यास शिक्षा
शाक० व्या०	शाकटायन व्याकरण
शि० सू०	शिवसूत्रम्
शै० शि०	शैशिरीय शिक्षा
श्वे० उ०	श्वेताश्वतरोपनिषद्
स० स० शि०	सर्वसम्मत शिक्षा
सं० व्या० वृ०	संक्षिप्तसार व्याकरण वृत्ति
सं० पा०	संहिता पाठ
सा० वे०	सामवेद संहिता
सा० सर्वा०	सामवेद सर्वानुक्रमणी
सार० व्या०	सारस्वत व्याकरण
सु० र० भा०	सुभाषित रत्न सुधा भाण्डागार
सु० व्या०	सुपद्म व्याकरण
स्वरा० शि०	स्वराष्टक शिक्षा
हेम०	हेमचन्द्र शब्दानुशासन
सा० द०	साहित्यदर्पण
सा० सं०	सामतन्त्रम्
सा० ब्रा०	सामविधान ब्राह्मण
सि० कौ०	सिद्धान्त कौमुदी
स्व० सि० च०	स्वरसिद्धान्त चन्द्रिका
स्वरा०	स्वरानुक्रमणी
हरिना० व्या०	हरिनामामृत व्याकरण

भूमिका

सामवेद का महत्त्व

भारतीय वाङ्मय में ही नहीं, अपितु विश्व साहित्य में अनुपम तथा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण वेदों को ऋग्वेद में सृष्टि के मूल-पुरुष से उद्भुत बताया गया है। पुरुष सूक्त में पुरुष से सृष्टि के विभिन्न अंशों के प्रादुर्भाव का वर्णन करते हुए ऋषि ने सर्वहुत् यज्ञ ने ऋक्, साम और यजुः की उत्पत्ति का उल्लेख किया है।[1] इससे स्पष्ट है कि तत्कालीन ऋषिगण वेदों की गणना में साम को दूसरा स्थान देते थे।[2] परन्तु कालान्तर में संभवतः यज्ञ के प्राधान्य के कारण यजुः का स्थान दूसरा एवं साम का तीसरा हो गया। परम्परया यही परिपाटी प्रचलित है।

मौलिकता की दृष्टि से सामवेद में न्यूनता नहीं के बराबर है, तथापि गायन की दृष्टि से वेदों में यह प्रमुख है। गद्य, पद्य और गायन में गायन सर्वाधिक मनोहारी एवं प्रभावी होता है। साधारण गद्य की अपेक्षा छन्द का, छन्द की अपेक्षा काव्य का, काव्य की अपेक्षा गायन का एवं गायन में भी गानों का आलाप विशेष प्रभावशाली होता है सामवेद के महत्त्व का यह मूलकारण प्रतीत होता है।

ओङ्कार की श्रेष्ठता के प्रतिपादन के सन्दर्भ में ऋचाओं का सार-तत्त्व साम को कहा गया है।[3] जैसे पुष्प वृक्ष का शोभाधायक होता है, उसी प्रकार पुष्पस्वरूप गानात्मक सामवेद वेदवृक्ष का अलंकरण है।[4] गायत्री से अर्क का निर्माण किया जाता है और अर्क से साम बनते हैं, अतः साम ही श्रेष्ठ माना जाता है।[5] यज्ञ में साम को सुनकर देवगण आनन्दित होते हैं।[6] इन्द्र प्रकाश-

---

१. तस्मात्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे। —ऋ०, १०.९०.९

२. अथर्ववेद, १६.६.१३; ११.७.२४, इन दोनों स्थलों पर साम का निर्देश ऋक् के बाद ही हुआ है।

३. वाच ऋग्रसः ऋचः सामरसः साम्न उद्गीथो रसः। —छा०उ०, १.१.२

४. सामवेद एवं पुष्पम्। छा०उ०, ३.३.१

५. (क) गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम। —ऋ०, १.१६४.२४,
(ख) न परः साम्नो विदुः।

६. ऋतस्य सामन् रणयन्त देवाः। —ऋ०, १.१४७.१, ऋ० २.२३.१६

मान विद्युत रूपी आयुध लेकर सामगान के श्रवण के निमित्त शीघ्र ही आ जाते हैं।[१] बृहस्पति भी सामगान से आनन्दित होते हैं।[२] अतएव साम को प्राण, सभी वेदों का सार, ब्राह्मणों का परमप्रिय और स्वर्गलोक का प्रकाश कहा गया है।[३] यह धारणा समीचीन ही है कि लोक कल्याणकारी, विभूतिमय और उपकारक होने के कारण सामवेद महत्त्वपूर्ण है। श्रीकृष्ण ने वेदों में सामवेद को अपना स्वरूप कहा है।[४] इससे भी सामवेद की प्रमुखता स्पष्ट है। इन निर्देशों से साम तथा साम के आकर सामवेद का महत्त्व स्वतः सिद्ध है।

सामवेदीय शाखाएँ

प्राचीन वाङ्मय में सामवेद की एक हजार शाखाओं का उल्लेख है,[५] परन्तु इनके नाम कहीं नहीं मिलते। ऐसा प्रतीत होता है कि ये शाखाएँ कालान्तर में नष्ट हो गयीं।[६] नामतः तेरह शाखाओं का ही निर्देश किया गया है।[७] मैक्समूलर

---

१. स हि द्युता विद्युता वेति साम। —ऋ०, १०.९९.२

२. बृहस्पतिः सामभिः ऋक्वो अर्चतु। —ऋ०, १०.३६.५

३. (क) प्राणः सामवेदः। श०ब्रा०, १४.४.३.१२. (ख) छा०उ०, १.३.७; बृ०उ०, २.४.१०

४. वेदानां सामवेदोऽस्मि। गीता, १०.४२

५. साम वै सहस्रवर्त्मनि। श०ब्रा०, १०.५.१.४२, षड्विंशब्राह्मण, १.६
तु० (क) सहस्रवर्त्मा सामवेदः। म०भा०, १.१.१
(ख) कूर्मपुराण। १.५२.२०. (ग) अ०पु०, १५.२८-२९

६. सामवेदस्य किल सहस्रभेदा आसीदनध्यायेष्वधीयानास्ते शतक्रतुवज्रेणाभिहताः प्रनष्टाः। —चरणव्यूह-३
तु० प्रपञ्चहृदय, द्वितीय प्रकरण, आथर्वण परिशिष्ट।

७. सामेव पूर्वाभिः षड्भिः पूर्वं तर्पयेदाचार्यमाचार्यांश्च जैमिनितवल्कारं सात्युमुग्रं राणायनिं दुर्वाससं च भागुरिं गौरण्डियं गोर्गुलविं भगवन्तमोपमन्यवं काराडिं सावर्णिः गार्ग्यं वार्षगण्यं दैवन्त्यमित्येतांस्त्रयोदश। —जै०गृ०सू०, १.१४

तु० राणायनी सात्यमुग्री दुवासा अथ भागुरिः। भारण्डो गोर्गुजवीर्भगवानौपमन्यवः॥
दारालो गार्ग्य सावर्णी वार्षगण्यश्च ते दश। कुथुमिः शालिहोत्रश्च जैमिनीयश्च त्रयोदश। —चरणव्यूह—३

और बर्नेल ने सामवेद की पाँच ही शाखाएँ स्वीकार की हैं।[1] आजकल केवल तीन ही शाखाएँ समुपलब्ध हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है—

(१) **कौथुम**—सामवेदीय शाखाओं में इसका स्थान अत्यन्त ही विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण है।

इस शाखा का प्रचलन अधिकांशतः गुजराती नागर ब्राह्मणों में है। चरण-व्यूह में कौथुमशाला के छः प्रमुख भेदों का वर्णन किया गया है।[2] इसकी एक अवान्तरशाखा ताण्ड्य है, जो अत्यन्त विश्रुत है। आचार्य शंकर ने ताण्ड्य और छान्दोग्योपनिषद् को इसी शाखा से सम्बद्ध बतलाया है।[3]

(२) **राणायनीय**—राणायनीय शाखा के सात और नौ भेदों का विवेचन मिलता है।[4] इसकी अवान्तरशाखा सात्यमुग्रि में एकार और ओकार के ह्रस्व उच्चारण विधि का उल्लेख किया गया है।[5] कौथुम और राणायनीय शाखा में उच्चारणगत भेद प्राप्त होता है। कौथुम शाखा के उ, इ और न राणायनीय शाखा में क्रमशः व, य और ण उच्चरित होते हैं। यथा—

कौथुम	**राणायनीय**
हाउ	हावु
राइ	रायि
वाजेषु नो	वाजेषु णो

---

१. कौथुम, जैमिनीय, राणायनीय, गौतमी एवं नैगीय।
(i) Max Muller, F. Ancient Sanskrit Literature, p. 110.
(ii) Burnell, A.C. R. ktantra, p. 24
(iii) C.F. Samasramin, S. Traytparicaya, p. 40

२. तत्र कौथुमानां षड्भेदाभवन्ति। कौथुमाः आसुरायणाः वातायनाः प्राञ्जलि-द्वैनकृतः प्राचीनयोग्याः नैगमीया इति। —चरणव्यूह ३

३. अन्येऽपि शाखिनः ताण्डिनः शाट्यायिनः यथा ताण्डिनामुपनिषदि षष्ठे प्रपाठके स आत्मा। शाङ्कर भाष्य—३-३.२७ एवं ३६

४. राणायनीयानां नव भेदाः भवन्ति—राणायनीयाः शाट्यायिनाः सात्य-मुद्गशाः खल्वलाः महाखल्वलाः लाङ्गलाः कौथुमाः गौतमाः जैमिनीया-श्चेति। अथ प्रकारन्तरेणाह—तत्र राणायनीयानां सात्यमुग्राः कालेयाः महाकालेयाः लाङ्गलायनाः शार्दूलाः कौथुमाश्चेति। —चरणव्यूह-३

५. (क) छान्दोगानां सात्यमुग्रि ह्रस्वानि पठन्ति। —आपि०शि०, २०
(ख) ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रि-राणायनीया अर्धमेकारं···अर्धमोकारञ्च अधीयते। म०भा०, १.१.४

(३) **जैमिनीय**—यह शाखा जैमिनि से सम्बद्ध मानी जाती है। इस शाखा के उत्तरार्चिक भाग में कुछ ऐसे भी मंत्र हैं, जो कौथुमशाखा में अप्राप्य है। तलवकार शाखा और केनोपनिषद् सामवेद की इसी शाखा से सम्बद्ध हैं।

सामवेद का विभाजन

सामयोनि ऋचाओं के आकर सामवेद के विभाजन से पहले 'साम' शब्द के अर्थ की विवेचना अपेक्षित है। साम शब्द से सामान्यतया ऋचाओं पर गाये जाने वाले विविध प्रकार के गानों का बोध होता है। ऋचाओं तथा उन पर गाये जाने वाले सामों का प्रगाढ़ संबंध है।[1] इस प्रगाढ़ता को व्यक्त करने के लिए साम और ऋचाओं में पति-पत्नी के सम्बन्ध की कल्पना की गई है।[2] अन्यत्र इस सम्बन्ध को वाणी और प्राण के सम्बन्ध के समान बतलाया गया है।[3] सा का आशय ऋचा से और अमः का आशय गान्धारादि स्वरों से है।[4] शालावत्य-दाल्भ्य-संवाद में स्वर और आलाप को साम की गति कहा गया है।[5] स्वर और आलाप से व्यतिरिक्त साम की कल्पना नहीं की जा सकती।

आर्चिक

सामों की योनिभूत ऋचाओं और उन पर गेय गानों की संहिता सामवेद को आर्चिक और गान इन दो भागों में विभक्त किया गया है। आर्चिक का आशय है—ऋक् समवाय या समूह। जिस भाग में मन्त्रों का संग्रह किया गया

---

१. ऋचि सामगीयते। —श०ब्रा०, ८.१.३.३
तु० (क) ऋचि अध्यूढं साम। —छा०उ०, १.६.१
(ख) गीतिषु समाख्या। —जै०सू०, २.१.३६
(ग) जै०ब्रा०, १.२५९, (घ) वा०प०, १.१०९

२. अमोऽहमस्मि सा त्वं सामाहमस्मृक् त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम् ताविह संभवाव प्रजामा जनयावहै। —अथर्व, १४.२.७१
तु० (क) बृ०उ०, १.३.२५; ६.२.४०, (ख) जै०उ०ब्रा०, १.२१.९

३. छ०उ०, १.१.५; १.७.१

४. सा च अमश्चेति तत्साम्नः साम्नत्वम्। —श०ब्रा०, १४.४.१.२४
तु० (क) ऐ०ब्रा०, ३.२३, (ख) गो०ब्रा०, २.३.२०, (ग) जै०उ०ब्रा०, १.१७.१५

५. तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वयं वेद, भवति हास्यं स्वं, तस्य स्वर एव स्वम्। बृ०उ०, १.३.२५
तु० (क) छ०उ०, १.८.४, (ख) जै०उ०ब्रा०, १.२१.९

है, उसको आर्चिक कहते हैं। आर्चिक के दो उपभाग हैं—पूर्वार्चिक तथा उत्तरार्चिक।

(१) **पूर्वार्चिक**—इसमें अनेक प्रकार के सामों की योनिभूत ऋचाएँ पठित हैं। इसमें छः प्रपाठक हैं। प्रत्येक प्रपाठक में दो अर्द्ध प्रपाठक तथा प्रत्येक अर्ध प्रपाठक में दशति नामक विभाग है। प्रथम प्रपाठक में अग्नि विषयक, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ प्रपाठक में इन्द्र विषयक, पञ्चम प्रपाठक में सोम विषयक मन्त्र संगृहीत होने के कारण ये क्रमशः आग्नेय, ऐन्द्र और पवमान पर्व कहे जाते हैं। षष्ठ प्रपाठक में अर्क, द्वन्द्व, व्रत और शुक्रिय नामक चार पर्व हैं। इसके परिशिष्ट रूप में 'महानाम्नी' नामक ऋचाएँ संगृहीत हैं। पूर्वार्चिक में छः सौ पचास मन्त्र हैं।

(२) **उत्तरार्चिक**—इसमें यागोपयोगी प्रगाथ और तृच सूक्तों का संग्रह किया गया है। इसमें नौ प्रपाठक हैं। प्रथम पांच प्रपाठकों को प्रपाठकार्ध में विभक्त किया गया है एवं अन्तिम चार प्रपाठकों में तीन अर्द्ध हैं। उत्तरार्चिक के मन्त्रों की संख्या एक हजार दो सौ पचीस है।

इस प्रकार सामवेदीय मन्त्रों की संख्या एक हजार आठ सौ पचहत्तर है।

गान

पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक के मन्त्रों पर यज्ञ और धार्मिक कृत्यों के अवसर पर गेय ऋचाओं की संख्या गान है। पूर्वार्चिक पर ग्राम गेय और आरण्यक गान तथा उत्तरार्चिक पर ऊह और उह्य गान का विधान किया गया है। प्रत्येक शाखा में इन विभिन्न गानों की संख्या में अन्तर पाया जाता है। यह अन्तर अधोलिखित विवरण से सुस्पष्ट हो जाता है—

गान	कौथुम शाखा	जैमिनीय
ग्रामगेय	११९७	१२३२
अरण्य गेय	२९४	२९१
ऊह	१०२६	१८०२
ऊह्य	२०५	३५६
योग :	२७२२	३६८१

इन सामगानों को मुख्यतया दो भागों में विभक्त किया जाता है—योनि और विकृति।

योनि गान

सामयोनि ऋचाओं पर साम-गान को योनि गान कहा जाता है, जिसके अन्तर्गत दो प्रकार के गान आते हैं—

(१) **ग्राम-गेय गान**—ग्रामीण परिवेश में गाये जाने के कारण उन्हें 'ग्राम-गेय गान' कहा जाता है। ये गान ग्राम में ही आचार्य के घर पर शिष्यों द्वारा स्मरण एवं अभ्यास के लिये गाये जाते थे। इनमें एक पद के ही गायन का विधान है। पूर्वार्चिक के सत्रह प्रपाठकों में आग्नेय, ऐन्द्र और पवमान पर्व के गान संगृहीत हैं।

(२) **आरण्यक गान**—सामवेदीय परम्परा के अनुसार कतिपय गान ऐसे हैं, जिनके गायन का विधान समाज में नहीं है। क्योंकि इनके गायन में किञ्चिदपि व्यवधान नहीं आना चाहिए। इन गानों में स्वर, गायन एवं परब्रह्म आदि प्रतिपाद्य तत्त्वों के क्लिष्ट, विलक्षण और रहस्यात्मक होने के कारण शान्ति की नितान्त आवश्यकता है। यह शान्ति अरण्य-परिवेश में ही सुप्राप्य है, अतएव इनके गायन का विधान अरण्य में होने के कारण इनको 'आरण्यक गान' कहते हैं। आरण्यक गानों को आर्क, द्वन्द्व, शुक्रिय एवं वाचोव्रतनामक चार पर्वों में रखा गया है। इन चारों पर्वों को छः प्रपाठकों में संयोजित किया गया है। अन्त में 'महानाम्नी' संज्ञक ऋचाएँ संलग्न हैं।

विकृति गान

योनि-गान के विकार होने के कारण इनको विकृति गान कहा गया है। इस विधा में ऊह और उह्य गानों की गणना की गई है, जो क्रमशः ग्राम-गेय और आरण्यक गान की विकृति हैं। विकृति गान उत्तरार्चिक में संगृहीत ऋचाओं पर मुख्यतया धार्मिक कृत्यों के अवसर पर स्तुतियों आदि को दृष्टि में रखकर गाये जाते हैं। इन गानों की आयित्व, प्रकृति, वृद्ध, अवृद्ध, गत अगत आदि बीस भावों से उपेत करके गाने का विधान है।[1] विकृतिगानों के भी दो वर्ग हैं—ऊह तथा उह्य।

---

१. आयित्वं प्रकृतिं चैव वृद्धं चावृद्धमेव च।
गतागतं च स्तोभानामुच्चनीच तथैव च॥
सन्धिवत् पदवद् गानमत्वमाभावि एव च।
प्रश्लेषांश्चाथ विश्लेषां ऊहेत्येवं निबोधत॥
संकृष्टं च विकृष्टं च व्यञ्जनं लुप्तमतिहृतम्।
अभावांश्च विकारांश्च भावानूहे भिलक्षयेत्॥
ऐतैर्भावैस्तु गायन्ति सर्वाः शाखा पृथक्-पृथक्। ...॥ (पुष्पाचार्य, पुष्पसूत्र)

(१) **ऊह गान**— प्रसंगानुसार मन्त्रों का परिवर्तन ऊहन कहलाता है। अतः ऊहन रूपी विशेषता से युक्त गानों की यह संज्ञा है। इन गानों की प्रकृति ग्रामगेय गान हैं। इनके अन्तर्गत मुख्यतया तीन गायकों द्वारा गाये जाने वाले गानों का संकलन जिन सात पर्वों में किया गया है, उनके नाम हैं—दशरात्र, संवत्सर, एकाह, अहीन, सत्र प्रायश्चित्त, एवं क्षुद्र।

इन पर्वों को दो अर्द्धवाले २३ प्रपाठकों में विभक्त किया गया है।

(२) **ऊह्य गान**—यह आरण्यक गान की विकृति है। आरण्यक गान के सदृश ये भी सबके सुनने योग्य नहीं है, तथा इनका गायन भी अरण्य में ही किया जाता है। परब्रह्म के विवेचन और याज्ञिक रहस्यों से युक्त होने के कारण इन्हें ऊह्य-रहस्य गान भी कहा जाता है। इस भाग में ऊह गान के सदृश ही सात पर्व हैं, जिनमें १६ प्रपाठक और ३२ अर्द्ध प्रपाठक हैं।

सामगान विधि

साम-गायन की पद्धति के लिये अत्यन्त सूक्ष्म पर्यालोचन और अध्ययन नितान्त आवश्यक है। सामान्य रूप से साम-गान के ये पांच विभाग होते हैं— प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव, निधन।

(१) **प्रस्ताव**—यह मन्त्र का प्रारम्भिक अंश कहा जाता है। इसका प्रारम्भ 'हु' से किया जाता है। प्रस्ताव[1] और इसके गायक प्रस्तोता[2] का विवरण वैदिक वाङ्मय में अनेक स्थलों पर समुपलब्ध होता है।

(२) **उद्गीथ**—उद्गीथ का प्रारम्भ 'ॐ' से होता है। इसका गायन उद्गाता नामक ऋत्विज् करता है, जो ऋत्विजों में प्रधान माना जाता

---

१. (क) प्रस्ताव प्रतिहाराभ्यां वै यजमानो धृतः। —ज०ब्रा०, १.३४४
(ख) रथन्तरं प्रस्तावः। जै०ब्रा०, १.२९२, एवं ३.१६, १९२, २७८ इत्यादि
(ग) मेधो जायते स प्रस्तावः।—छा०उ०, २.३.१, एवं २.४.१, २.५.१ इत्यादि,
(घ) ग्रीष्मः प्रस्तावः। षड्विंश ब्राह्मण, ३.१

२. (क) अथ प्रस्तोता वागेव यज्ञस्य। —श०ब्रा०, ४.२.५.३
(ख) प्रस्तोता सामानि। —तै०आ०, ४.४.१, (ग) ऐ०ब्रा०, ५.३४; ७.१
(घ) प्रस्तोता द्वितीयस्सर्पति मुखं साम्नः।जै०ब्रा०, १.८५
(ङ) छ०उ०, १.१०.८; २.२.१
(च) प्रस्तोता साम प्रस्तोति। —बृ०उ०, १.३.२८

है। उद्गीथ[1] और उद्गाता[2] का उल्लेख तथा विवेचन सर्वप्रथम तैत्तिरीय संहिता में मिलता है।

(३) **प्रतिहार**—कभी-कभी दो गानों के टुकड़े करके पुनः उन्हें एक साथ गाया जाता है। दो गानों के इस संयोजन को प्रतिहार कहते हैं। प्रतिहार का गायन प्रतिहर्ता नामक ऋत्विज् करता है। प्रतिहार[3] और प्रतिहर्ता[4] शब्द वैदिक काल में बहुत ही प्रचलित थे।

उपद्रव—पाँच भाग वाले सामन् के चतुर्थ भाग को उपद्रव कहते हैं[5]। इसका गायन उद्गाता ही करता है।

---

१. (क) प्रजापतिरुद्गीथः।—तै०सं०, ३.८.२२.३
(ख) एष प्राण उवा उद्गीथः। प्राणों वा उत् प्राणेन हीदं सर्वमुत्तब्धम्। वागेव गीथोच्च गीथा चेति स उद्गीथः। —शा०ब्रा०, १४.४.१.२५
(ग) साम्नः उद्गीथो रसः। —छा०उ०, १.१.२
(घ) एष उवा उद्गीथः। —बृ०उ०, १.३.१

२. (क) मै०सं०, ४.४.८, (ख) उद्गीथ एवोद्गातॄणाम्।—तै०सं०, ३.२.९.५
(ग) पर्जन्यो वा उद्गाता। —श०ब्रा०, १२.१.१.३
(घ) उद्गातैव यशः। —गो०ब्रा०, १.५.१५
(ङ) उदङ्ङासीन उद्गायति। —जै०ब्रा०, १.७२
(च) ता एवं विदुद्गाता ब्रूयात। —छा०उ०, १.७.८
(छ) प्राण उद्गाता। महानारायणीयोपनिषद्, २५.१

३. (क) अश्विनौ प्रतिहारः। —जै० ब्रा०, १.२९२,
(ख) आश्वलायन श्रौत सूत्र, ५.१०
(ग) चक्षुः प्रतिहारम्। —जै० उ० ब्रा०, १.१०-१.७
(घ) या प्रचीत्यः स प्रतिहारः। —छा० उ०, २.४.१

४. (क) प्रतीत प्रतिहर्ता। —मै० स०, ४.४.८
(ख) अथ प्रतिहर्ता भिषग् वा व्यानो वा। —श० ब्रा०, ४.२.५.३
(ग) तस्मादत्ततः प्रतिहर्त्रे देयम्। —गो० ब्रा०, २.३.१९
(घ) एतमेव प्रतिहर्तारमुवाच। —छा० उ०, १.१०.११
(ङ) अथ हेनं प्रतिहर्तोपससाद। —छा० उ०, १.११.८

५. (क) अथ यदन्तरिक्षे तत्सर्वमुपद्रवेणाप्नोति।—जै० उ० ब्रा, १.१०.१.८
(ख) विश्वेदेवा उपद्रवः। —जै० उ० ब्रा०, १.५.८.९
(ग) यदुदेति स उपद्रवः। —छा० उ०, २.८.२
(घ) उपद्रव इति चतुरक्षरम्। —छा० उ०, २.१०.३

निधन—निधन में मन्त्र के दो पद्यांशों का और ऊँ का गायन किया जाता है[1]। इसका गायन प्रस्तोता, उद्‌गाता और प्रतिहर्ता की समष्टि द्वारा किया जाता है।

कतिपय स्थलों पर 'हिंकार'[2] और 'आदि'[3]- इन दो का भी सामगान के भाग के रूप में उल्लेख किया गया है। यदि इनकी भी गणना की जाय तो साम गान सप्तविध हो जाता है।

सामगान के उपर्युक्त पाँच भाग अधोलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जाते हैं—

मन्त्र—

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।
नि होता सत्सि बर्हिषि । सा० वे०, १.१ ।।

विभाग—

हुँ ओग्नाइ-प्रस्ताव
ऊँ आयाहि वीतये गृणानों हव्यदातये—उद्‌गीथ
नि होता सत्सि बर्हिषि ओम्—प्रतिहार

---

१. (क) यज्ञायज्ञीयं निधनम् । —जै० ब्रा०, १.२९२
(ख) वीर्यं वा एतत् साम्नो यन्निधनम् । —जै० ब्रा. १.२१९
(ग) अमावस्या निधनम् । —षर्डविंश ब्राह्मण, ३.१
(घ) यन्नीतिः तन्निधनम् । —छा० उ०, १.१०.११
(ङ) अथ यन्मुधुश्चुन्निधनं तत्साम निधनम् । —जै० उ० ब्रा०, १.२.२.५

२. (क) हिङ्‌कृत्य गायति तत्रहि सर्वं कृत्स्नं साम भवति । —श०ब्रा०, ८.१.२.३४
(ख) एष वै साम्ना रसो यत् हिङ्कारः। ताण्ड्य महाब्राह्मण, २.२.४
(ग) श्रीवै साम्नो हिंकारः । —जै० उ० ब्रा०, १.१.४.६
(घ) हिंकार इति यक्षरम् । —छा० उ०, २.१०.१
(ङ) हिंकृतमसि हिंक्रियमाणमसि । —बृ० उ०, ६.३.४

३. (क) यदेति स आदि' । —छा० उ०, २.८.१
(ख) आदिरिति द्वयक्षरम् । —छा० उ०, २.१०.२
(ग) अथ प्रतीच्यां दिशः तत्सर्वमादिनाप्नोति ।—जै० उ०ब्रा०, १.१०.१.५
(घ) आदिश्च भवति य एवं वेद । माण्डक्योतनिषद्,—९
(ङ) सर्वस्य प्रणवो ह्यादिः । —गौडपादकारिका, १.२७

नि होता सत्सि ब—उपद्रव
हिषि ऊँ—निधन

प्रातिशाख्यों का प्रतिपाद्य

ऋक्तन्त्र में सामगान तथा उनसे सम्बन्धित विकार आदि का विशद विवेचन किया गया है। कालक्रम से भाषा और भाव की दृष्टि से संहिताओं का अर्थ-अवबोध दुरुह हो गया। इसको सुबोध बनाने के लिए वेदाङ्गों का प्रणयन किया गया। भाषा-विषयक दुरुहता के निराकरण के लिए निरुक्त, शिक्षा, प्रातिशाख्य और व्याकरण की रचना की गई। पद-निरुक्ति और व्युत्पत्ति के परिज्ञान से अर्थ-निर्धारण अत्यन्त ही सरल हो जाता है। अतएव निरुक्त के महत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। स्वर, वर्ण आदि के उच्चारण-प्रकार का ज्ञान शिक्षा से प्राप्त होता है। पदों की मीमांसा व्याकरण करता है। शिक्षा के ही अन्तर्गत प्रातिशाख्यों की गणना की गई है। प्राचीन परम्परा के अनुसार प्रातिशाख्य, शिक्षा, व्याकरण आदि ग्रंथों की विषयवस्तु एक ही है।[1] गोल्डस्टुकर आदि ने व्याकरण और प्रातिशाख्य को सर्वथा भिन्न माना[2]। बेवर समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए दोनों को अंशतः समान और भिन्न मानते हैं[3]। यही मत समीचीन भी प्रतीत होता है।

प्रातिशाख्यों का प्रमुख प्रतिपाद्य-विषय है—प्रयोगगत लघुता तथा गुरुता

---

१. शिक्षाच्छन्दोव्याकरणैः सामान्येनोक्तलक्षणम्।
तदेवमिह शाखायामिति शास्त्रप्रयोजनम्॥
—ऋ० प्रा० उ० भा० प्रारम्भिक श्लोक।

तु० (क) शिक्षाव्याकरणानां यदयं विवरणात्मकः ग्रंथः नातीव शब्दसंकोच इष्यते। — तै० प्रा०, १.२१ पर वै० आ०.

(ख) तै० प्रा०, १४.६; १६.५; २२.४ पर वै० आ०.

(ग) वा० प्रा०, १.१६६ पर उ० भा०.

2. (I) Goldstuker; T. Paṇini: His place in Sanskrit Literature, p. 195-197.
(II) Keith, A. B. History of Sanskrit Literature, p. 502, 503.
(III) वर्मा, सत्यकाम : संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास, पृ० ४३.

3. (I) Weber, A. Indische Studien, Vol. IV.
(II) Maxmuller, F. A. History of Ancient Sanskrit Literature, p. 120.

का निर्णय, स्वरमात्राओं का वर्णन, वर्णादि के लोपागमविकारादि, स्वर, श्वास, नाद, प्रकृति, विकृति और क्रम[1] । पद पाठ, क्रम पाठ इत्यादि का अध्ययन भी इनका विषय रहा है। इन पाठों के अवग्रह, अप्रगृह्य आदि उपाङ भी इससे सम्बद्ध हैं[2] ।

वर्ण समाम्नाय, वर्णों के अनुप्रदान, स्थान, करणादि, छन्द इत्यादि का प्रतिपादन भी इन ग्रंथों में किया गया है[3] । वर्णोच्चारण-दोष आदि का निर्धारण भी ये ही ग्रंथ करते हैं[4] ।

संक्षेपतः यही प्रातिशाख्यों का विवेच्य विषय है ।

प्रातिशाख्य शब्द का आशय

प्रातिशाख्य शब्द की व्याख्या और निर्वचन से ज्ञात होता है कि विद्वानों

---

१. गुरुत्वं लघुता साम्यं ह्रस्वदीर्घप्लुतानि च ।
लोपागम विकाराश्च प्रकृति विक्रमः क्रमः ।।
स्वरितोदात्तनीचत्वं श्वासो नादस्तधोभयम् ।
एतत्सर्वं तु विज्ञेयं छन्दोभाषामधीयता ।। —ऋ० प्रा० वि० व०, ५, ६
तु० तै० प्रा०, १.१; २४.५; २४.६ पर वै० आ०.

२. पद क्रमविभागज्ञो वर्णक्रम विचक्षणः ।
स्वरमात्रा विशेषज्ञो गच्छेदाचार्यसम्पदम् ।।
तु० (क) वा० प्रा० पर उ० भा० प्रारम्भिक श्लोक ।
—ऋ० प्रा० वि० व०, ८

(ख) जपादौ नाधिकारोऽस्ति सम्यक् पाठमजानतः ।
प्रातिशाख्य मतोज्ञेयं सम्यक् पाठस्य सिद्धये ।।
—वा० प्रा० पर उ० भा० प्रारम्भिक अंश

(ग) पार्षदानि स्वचरण परिषद्देव यैः
प्रातिशाख्यनियतमेव पदावग्रहप्रगृह्याप्रगृह्यक्रमसंहिता
स्वरलक्षणमुच्यते तानीमानि प्रातिशाख्यानीत्यर्थः ।
—नि०, १.१७ पर दुर्ग

३. (क) कानि पुनस्तानि ? स्थानकरणानुप्रदानानि ।
व्याकरणं नामेयमुत्तरा विद्या ।
सोऽसौ छन्दोशास्त्रेश्वभिविनीत उपलब्ध्याधिगन्तुमुत्सहते ।
—म० भा०, १.२.३२

(ख) छन्दो ज्ञानमाकारं भूतज्ञानंछन्दसां व्यापित···। ऋ० प्रा०वि०व०-७
४. वर्णदोषविवेकार्थम् । —वा० प्रा०, १.२६

में इसके आशय के विषय में मतैक्य नहीं है। इस सम्बन्ध में निम्न दो विचार-धारा विशेष प्रख्यात है—

(१) **प्रतिशाखा से सम्बद्ध**—इस मत के अनुसार ये ग्रंथ वेदों की प्रत्येक शाखा के प्रतिपाद्य विषय का विवेचन करते हैं, अतएव इनको प्रातिशाख्य कहा जाता है। इससे यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में वेद की प्रत्येक शाखा से सम्बद्ध उपरि-वर्णित प्रतिपाद्य विषयों का विवेचन इन ग्रंथों में किया जाता था[१]।

(२) **शाखा समूह से सम्बद्ध**—इस मत के अनुसार प्रातिशाख्य ग्रंथों का सम्बन्ध शाखा विशेष से न होकर 'शाखा-समूह' से है, और एक प्रातिशाख्य का सम्बन्ध वेद की एक शाखा से न होकर शाखाओं से है[२]। यदि इन ग्रंथों

---

१. शाखायां शाखायां प्रतिशाखं प्रतिशाखं भवं प्रातिशाख्यम्...।

—वा० प्रा०, १.१ पर उ० भा०

तु० (क) प्रतिशाखं भवं प्रातिशाख्यम्। पा० सू, ४.३.५९ पर भट्टोजि दीक्षित का टीका पर ज्ञानेन्द्र सरस्वती टीका।

(ख) शिक्षाच्छन्दोव्याकरणैः सामान्येनोक्तलक्षणम्।
तदेवमिह शाखायामिति शास्त्र प्रयोजनम्॥

—ऋ० प्रा० पर उ० भा० मङ्लाचरण

(ग) धर्मशास्त्राणां गृह्यग्रंथानां च प्रातिशाख्य लक्षणवत् प्रतिचरणं —पाठव्यवस्थोपलभ्यते। तं० वा०, ५.१.३

(घ) डा० सूर्यकान्त, ऋक्तन्त्र, पृ०, २

(ङ) अथर्वप्रातिशाख्य, पृ०, ३० भूमिका
Maxmuller, F. A. History of Ancient Sanskrit Literature, p. 109

इसी प्रकार उपलब्ध सभी प्रातिशाख्य शाखा विशेष से ही सम्बद्ध हैं। यही मत डा० सत्यकान्त वर्मा का भी है। दृष्टव्य संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास। पृ०, ४२

२. वीत्युपबन्धस्य व्यावर्त्यं शाखान्तरे नन्वेवमनेकशाखाविषयत्वे प्रातिशाख्यमिति ग्रंथस्य आख्या विरूध्यते। नैतदस्ति। द्विशाखाविषयत्वेऽपि तदसाधारणतया उपपत्तेः। तथा बह्वृचानां शाकलकवाष्कलात्मक शाखाद्वयविषयं प्रातिशाख्यं प्रसिद्धम्। —तैं० प्रा०, ४.११ पर उ० भा०

तु० (क) उपाध्याय, बलदेवः वैदिक साहित्य और संस्कृत, पृ० २९९

(II) Sharma, V.V. Critical studies on Kātyāyana's śukla-Yojur-Veda Pratiśākhya.

को प्रतिशाखा से सम्बद्ध माना जायेगा तो प्रातिशाख्यों की संख्या शाखानुरूप ही होनी चाहिए। उपलब्ध, प्रातिशाख्यों की संख्या बहुत-ही कम है। अतएव इनको शाखा-समूह से सम्बद्ध मानना ही अधिक उचित है।

उपयुक्त निर्णय प्रातिशाख्य-अनुपलब्धि के आधार पर किया गया है। परन्तु यह उचित नहीं है। प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध वेद की प्रतिशाखा से ही था; क्योंकि आज विपुल वैदिक-साहित्य उपलब्ध नहीं है और उसका विवरण यत्र-तत्र प्राचीन ग्रंथों में प्राप्त होता है। इसी आधार पर वैदिक साहित्य की विपुलता का ज्ञान होता है। इसी प्रकार प्रातिशाख्य भी प्रतिशाखा से सम्बद्ध रहे होंगे, परन्तु आज वे प्राप्त नहीं है। अतः इस आधार पर इनको प्रतिशाखा से सम्बद्ध न मानकर शाखा-समूह से सम्बद्ध मानना उचित नहीं है।

इन ग्रंथों को पार्षद्[1], पारिषद[2] और छन्दोभाषा[3] के नाम से भी जाना जाता है। छन्दोभाषा की व्याख्या वैदिक भाषा और प्रातिशाख्य दोनों अर्थों में की गई है।

(III) Varma, S. Critical Studies in the Phonetics Observations of Indian Grammarians, p. 12

१. (क) पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि।—नि०, १.१७ तथा इस अंश पर दुर्ग—तानीमानि पार्षदानि प्रातिशाख्यानीत्यर्थः।

(ख) सूत्रभाष्यकृतः सर्वान् प्रणम्य शिरसा शुचिः।
शौनकं च विशेषेण येनेदं पार्षदं कृतम्॥
येनेदं योजिता वृत्तिः संक्षिप्ता पार्षदे स्पुटा॥
—वि०व० मंगलाचरण, १, ७

(ग) इति श्री पाषदव्याख्यायां वज्रटसुतउवटकृतौ परिभाषा प्रथमं पटलम्।
—ऋ० प्रा० पर उ० भा० अन्त

(घ) इदंशास्त्रं पार्षदाख्यमखिलं सम्पूर्णम्…।
—ऋ० प्रा०-वि० व०-७ पर उ० भा०

२. (क) आम्नातं परिषत् तस्य शास्त्रम्, अथर्व प्रा० अन्त्य अंश

(ख) सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्। —म० भा०, ६.१.१४

(ग) पत्राध्वर्युपरिषदश्च। —पा० सू०, ४.३.१२३

३. (क) छन्दो भाषामधीयता। —ऋ० प्रा० वि० व०, ६

(ख) छन्दोभाषां योऽधीते तेनेत्यर्थः, नान्येन। द्विविधा हि भाषा-लौकिकी वैदिकी च। या वैदिकी सा छन्दोभाषेत्युच्यते।
—वि० व०-६ पर उ० भा०

इन ग्रंथों को पार्षद या पारिषद कहने का विशेष प्रयोजन है। परिषद् का अर्थ है—सभा या गोष्ठी या समिति,[1] जो अनेक व्यक्तियों की समष्टि है। अनेक स्थलों पर इन परिषदों का विवेचन उपलब्ध होता है, जिससे इनके अस्तित्व का परिज्ञान होता है[2]।

इन परिषदों का गठन वेद, वेदाङ, धर्मशास्त्र, दर्शन, ध्वनि-विज्ञान, व्याकरण आदि विषयों पर परिचर्चा के निमित्त किया जाता था। इनमें कुलपति के शिष्य-गण भी भाग ले सकते थे, विशिष्ट विद्वानों को ही आमन्त्रित किया जाता था। इनकी संख्या के विषय में प्राचीन विद्वानों का ऐकमत्य नहीं है। इनकी अधिकतम संख्या २१ तक हो सकती थी[3]। इन परिषदों के

(ग) प्रतिपदं चानुपदं छन्दोभाषा समन्वितम्।
मीमांसान्यायतकाश्च उपाङ्गानि विदुर्बुधाः ॥
छन्दोभाषा प्रातिशाख्यम्। अज्ञात

(घ) शिक्षाच्छन्दोव्याकरणः सामान्येनोक्तलक्षणम्।
—ऋ० प्रा०, उ० भा० प्रारम्भिक श्लोक-२

(ङ) छन्दः शास्त्रेषु प्रातिशाख्येषु···। म० भा०, १.२.३२ पर नागेश

१. पा० सू०, ४.३. १२३

तु० समज्या परिषद् गोष्ठी सभासमिति संसदः।
आस्थानी क्लीबमास्थानं स्त्रीनपुंसकयो. सदः ॥—अमरकोश, २.७.१५

२. श्वेतकेतुर्हवा आरुणेयः पाञ्चालानां परिषदमाजगाम।
—ब० उ०, ६.२.१

तु० (क) आचार्य सपरिषत्कं भोजयेत्सब्रह्मचारिणश्व।
पाराशर धर्मशास्त्र,—३.२५ पर, गोभिल भाष्य;

(ख) अत एतदस्मादनध्यायपकरणा दन्यदनध्यायनिमित्तं परिषत्सु मानवादिषु धर्मशास्त्रेषु यथोक्तं च द्रष्टव्यम्।
—समयाचारिकसूत्र, १.११ पर आपस्तम्भ-भाष्य

३. (क) चातुर्विधं विकल्पी च अङ्गविद्धर्मपाठकः।
आश्रमस्थास्त्रयोमुख्याः पर्षदेषां दशावराः ॥
—वाशिष्ट धर्मशास्त्र, ३.२०

(ख) चत्वारो वा त्रयो वापि वेदवन्तोऽग्निहोत्रिणः।
ब्रह्माणानां समर्था ये परिषत्सा विधीयते ॥

अनुमोदन के अनन्तर ही सिद्धान्त-विशेष की प्रतिष्ठा प्राप्त होती थी[1]।

परिषद् के द्वारा अनुमोदित होने के कारण प्रातिशाख्यों को पार्षद या पारिषद और वैदिक भाषा से सम्बन्धित होने के कारण छन्दोभाषा अभिधान से अभिहित किया जाता है। छन्दसि छान्दस आदि शब्दों का प्रयोग वैदिकी के लिए सदा ही होता रहा है[2]।

इसी सन्दर्भ में प्रसंगतः प्राप्त शाखा और चरण शब्दों का विश्लेषण और विवेचन आवश्यक है, जो इस प्रकार है—

शाखा—ऋषि और उनके अनुयायियों के समूह से शाखा का बोध होता है[3]। इस आधार पर वेद की ११३० शाखाओं के अस्तित्व की सूचना मिलती

अनाहिताग्नयो येऽन्ये वेदवेदाङ्गपारगाः।
पञ्च त्रयो वा धर्मज्ञाः परिषत्सा प्रकीर्तिताः॥
मुनीनामात्मविद्यानां द्विजानां यज्ञयाजिनाम्।
वेदव्रतेषु स्नातानामेकोऽपि परिषद् भवेत्॥
पञ्चपूर्वं मया प्रोक्तास्तेषां वा सम्भवे त्रयः।
स्ववृत्तिपरिपुष्टा ये परिषत्सा प्रकीर्तिताः।

—पराशर धर्मशास्त्र, १.२०.२४

(ग) लोकवेदाङ धर्मज्ञाः सप्तपञ्चत्रयो पि वा।
यत्रोपविष्टाः विप्राःस्युःसा यज्ञसदृशी सभा॥

—पाराशरधर्मशास्त्र, १.३५ पर माध्व-भाष्य

(घ) एकविंशतिसंख्याकैः मीमांसान्यायपारगैः॥
वेदाङ्गकुशवैश्चैव परिषत्त्वं प्रकल्पयेत्॥ —याज्ञवल्य स्मृति, १.६

(ङ) मनु०, १२.११०-११३

(च) चरक, विमान-स्थान, अष्टम अध्याय। —रामायण, २.१३-१६

(छ) परिषत्वं यथा प्रायश्चित्त विविके। शब्द कल्पद्रुम।

१. सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रं। —म० भा०, ६.१.१४

२. पा० सू०-५.१.११६; ५.४.१४२; ३.१.१२३ इत्यादि

३. (क) भा० पु०, १.४.१६-२२

(ख) विष्णुपुराण, ४.३

(ग) चरणव्यूह, १

(घ) स शाखाम् अधीते-नृसिंहपूवतापिनीयोपनिषद्, १५-६

(ङ) तेषां शाखाश्च राघवः। मुण्डकोपनिषद्, १.१०

है। प्रत्येक शाखा से सम्बद्ध संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्, आरण्यक, गृह्य-सूत्र और प्रातिशाख्य आदि थे।[1] इन शाखाओं में मूलभूत विशेष अन्तर नहीं था। अतएव एक शाखा के अध्ययन से अन्य शाखाओं का ज्ञान कोई कठिन कार्य नहीं था[2]।

चरण—प्राचीन काल में चरण ऐसी शिक्षा-संस्था को कहा जाता था, जिनमें वेद की किसी एक शाखा का अध्ययन साङ्गोपाङ्ग रीति से गुर-शिष्य परम्परा से किया जाता था। चरण में अनेक शाखाओं के अनुयायी एक साथ मिलकर

(च) शाखा साम्नः परन्तपः। मुण्डकोपनिषद्, १.१३

(छ) आथर्वणस्य शाखा स्युः। मुण्डकोपनिषद्, १.१३

(ज) व्याख्यातं काण्वशाखीय संहिता पूर्वविशितिः।

—अनन्ताचाय, काण्वभाष्य, प्रारम्भ।

(झ) नि०, १.१७ पर दुर्ग।

(ञ) पा० सू०, ४.३.१२६, १२०, १०५ पर काशिका।

(ट) तेषां पञ्चदश यथास्वरं प्रतिष्ठा प्रतिशाखं च कुलधर्मा।

—प्रतिज्ञा परिशिष्ट-सूत्र, २.१

(ठ) स्वाध्यायैकदेशो मन्त्रब्राह्मणात्मः शाखेत्युच्यते।

—प्रतिज्ञा परिशिष्ट-२.१ पर माधव

(ड) शाखाभेदोऽध्ययनभेदाद्वा सूत्रभेदाद्वा। —वही हिरण्यकेशी भाष्य

१. चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्याः वहुधाः भिन्नाः। एकशतमध्वर्युशाखाः। सहस्रवत्मा सामवेदः। एकविंशतिधा बाह्‌वृच्यम्। नवधाऽऽर्थवणो वेदः —म० भा०, १.१.१

२. अतएव एकशाखाध्ययनेनैव एकस्य वेदस्य समग्राध्ययनम्।

—कौ० श्रौ० पृ०, १२

तु० (क) कुमारिल, तं० वा०, २.१.३;२.४.२

(ख) जै० सू०, २.४.२

(ग) एकशाखाध्ययनक्षमो वेदपारगः। मिताक्षरा, १७

विचार-विमर्श किया करते थे।[1] कुछ लोगों ने चरण और शाखा शब्दों को समानार्थक माना है।[2]

प्रातिशाख्यों का संक्षिप्त विवेचन

अद्यावधि उपलब्ध और विभिन्न स्रोतों से ज्ञात प्रातिशाख्यों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(क) ऋग्वेदीय प्रातिशाख्य

ऋक्प्रातिशाख्य—प्राचीनता और प्रामाणिकता की दृष्टि से इस प्रातिशाख्य का महत्वपूर्ण स्थान है। इसके प्रवक्ता का नाम आचार्य शौनक है।[3] इसे शाकल शाखा की उपशाखा शैशिरीय से सम्बद्ध माना गया है।[4]

---

१. पदप्रकृतीनि सवचरणानां पार्षदानि। —नि०, १.१७
तु० (क) चारणशब्दः शाखाध्यायिषु रुद्रः।
—आपस्तम्ब; सामयाचारिक सूत्र, १.४.४
(ख) पा०सू०, ४.२.४६; ४.१.६३; ४.३.१२०, १२६; ६.३,८६
(ग) चरणशब्दः शाखानिमित्तिकः पुरुषेषु वर्तते।
—पा०सू०, २.४.२ पर काशिका
(घ) चरणशब्दः शाखाविशेषाध्ययनपरैकतापन्नजनसंघवाची।
—मालती माधव जगद्धरभाष्य, पृ० १०
(ङ) जमदग्नि प्रवराय वाजसनेयचरणाय यजुर्वेद कण्वशाखाध्यायिने···
Inscriptions of Bengal, Vol. III, page, 11
(च) चरणशब्दः कठकलापादिषु शाखा-भदेषु मुख्यः तदध्यायिषु पुरुषेषु गौणः। —भट्टोजिदीक्षित, शब्दकौस्तुभ, ३.४ ३
(छ) चरण-शब्दो अध्ययनवचनः इह तुपचारादध्येतृषु वर्तते।
—म०भा०, ५.३.६३ पर कैयट
(ज) चरणशब्दो त्र शाखाध्येतृपरः। —प्रदीप पर नागेश
(झ) चरणः शाखाध्येता।
—पा०सू०, ५.३.६३ पर ज्ञानेन्द्र सरस्वती की तत्त्वबोधिनीटीका

२. सर्व चरणानां···सर्वशाखान्तराणां···। —नि०, १.१७ पर दुर्ग
तु० चरणः शाखा। —पा०सू०, ६.३.८६

३. द्रष्टव्य—विष्णुवर्गद्वयवृत्ति प्रारम्भिक श्लोक

४. वक्ष्ये शास्त्रमखिलं शैशिरीये। शैशिरीयायां सहितायामित्यर्थः। शैशिरीया संहिता शैशिरदृष्टत्वात्। तथा च पुराण उक्तम्—
मुद्गलो गोखुलो वात्स्यः शैशिरः शिशिरस्तथा।
पञ्चैते शाकलाः शिष्याः शाखाभेदप्रवर्तकाः॥ इति॥—ऋ०प्रा०-वि०व०, ७

१८ पटलों में विभक्त इस प्रातिशाख्य में वर्ण, पद, संहिता, संधि, स्वर, छन्द, क्रमपाठ और वेदाध्ययन विषयक विवेचन किया गया है।

इस पर उपलब्ध प्रमुख भाष्य एवं टीकाएँ हैं—

(१) उवट कृत—उवट भाष्य एवं पार्षद वृत्ति ।

(२) विष्णुमित्र कृत—वर्गद्वयवृत्ति ।

(३) पशुपतिनाथ शास्त्री कृत व्याख्या ।

(ख) यजुर्वेदीय प्रातिशाख्य

(१) शुक्ल यजुर्वेद—वाजसनेयि-प्रातिशाख्य—यह शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयि-शाखा से सम्बद्ध है। संस्कृत वाङ्मय में बहुधा निर्दिष्ट वररुचि कात्यायन को इस प्रातिशाख्य का रचयिता माना जाता है।[1] यजुर्वेदीय प्रातिशाख्यों में यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रातिशाख्य में आठ अध्याय हैं, जिनमें परिभाषा, स्वर और संस्कार आदि विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है। काण्व, शाकटायन, शाकल्य आदि आचार्यों के मतों का निर्देश इसमें मिलता है। वाजसनेयि-प्रातिशाख्य पर उवट और अनन्त भट्ट के प्रसिद्ध भाष्य हैं।

(२) **कृष्ण यजुर्वेद—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य**—यह तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में २४ अध्याय हैं। इसमें अक्षर-समाम्नाय के अन्तर्गत अनेक पारिभाषिक शब्दों का विवेचन, संहिता पाठ, प्रगह, जटा-पाठ आदि विषयों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसके कर्ता का नाम अभी तक प्रकाश में नहीं आ सका है। इस पर माहिषेय कृत पद-क्रम सदन, सोम; प्रार्यकृत त्रिभाष्यरत्न और गोपालयज्वा कृत वैदिकाभरण—ये तीनों भाष्य महत्त्वपूर्ण हैं।

---

१. कात्यायनमुनिः—वाजिनां सूत्रकृत् साम्नामुपग्रन्थस्य कारकः। ऋक्सर्वानुक्रमणी भूमिका

तु० (क) म०भा०, ३.२.३

(ख) ततः स मर्त्यवपषा पुष्पदन्तः परिभ्रमन्। नाम्ना वररुचिः किं च कात्यायन इति श्रुतः। जिज्ञासार्धमर्थाभ्यां मे प्रातिशाख्यमपठ्यत ॥
—कथासरित्सागर, १.२

(ग) स्कन्दपुराण, १३०-७१ तथा १३१.४६

(घ) त्रिकाण्डशेषकोष, २.२५ (ङ) हेमचन्द्रकोष, ३.८५२

(ग) अथर्ववेदीय प्रातिशाख्य

(१) **अथर्वप्रातिशाख्य**—इसका सम्बन्ध किसी शाखा विशेष से न होकर सामान्य रूप से अथर्ववेद से है। इस प्रातिशाख्य के प्रवक्ता का नाम ग्रन्थ में कहीं भी नहीं आया है। इसके विश्व-बन्धु शास्त्री और डा० सूर्यकान्त सम्पादित दो संस्करण प्राप्त होते हैं, जिनको क्रमशः लघु पाठ और बृहत्पाठ अभिधान से भी अभिहित किया गया है। डा० सूर्यकान्त ने अपने संस्करण में एक अनाम भाष्य को भी रखा है। इसमें तीन प्रपाठक हैं।

(२) **शौनकीया-चतुरध्यायिका**—ह्विटनी को प्राप्त पाण्डुलिपि के अन्त में शौनक का नाम निर्दिष्ट होने के कारण इसे शौनकीय कहा गया है। इसका सम्बन्ध पेप्पलाद शाखा से है। इसमें चार अध्याय हैं; जिसमें स्वर, प्रयत्न, संधि आदि विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

(घ) सामवेदीय प्रातिशाख्य

(१) **सामतन्त्र**—सामतन्त्र का सम्बन्ध सामवेद की कौथुम शाखा से है। प्राचीन और आधुनिक विद्वानों ने उसे औदव्रजि प्रणीत कहा है।[1] सत्यव्रतसामाश्रमी इसको गार्ग्य[2] की रचना मानते हैं। इसमें १३ प्रपाठक हैं, जो दर्शकों में विभक्त हैं। कुल सूत्र १३११ हैं। इसमें स्वर, मात्रा, गान, संधि आदि विषयों का विवेचन किया गया है। इसको प्रतिष्ठित करने का श्रेय पं० ए०एम० रामनाथ दीक्षित को है।

(२) **अक्षर तन्त्र**—सामवेद से सम्बन्धित 'अक्षर तन्त्र' नामक लघुकाय ग्रन्थ उपलब्ध होता है। इसका प्रवक्ता महामुनि आपिशलि को माना गया है।[3] अक्षर तन्त्र में सामगानों में प्रयुज्यमान स्तोम आदि का निर्देश किया गया है।[4]

---

१. (क) सामतन्त्रं प्रवक्ष्यामि सुखार्थं सामवेदिनाम्। औदव्रजिकृतं सूक्ष्मं सामगानां सुखावहम्॥ तत्र प्रपाठकाः प्रोक्तास्तिथिसंख्यामुमेर्मता।
—सा०सर्वा० पृ०, ४, तु०-पृ०, ३

(ख) डा० सूर्यकान्त-ऋक्तन्त्र, पृ०, ३४

२. सामतन्त्रप्रणेता गार्ग्यः। —सत्यव्रतसामामी, अक्षरतन्त्र, पृ०, ३

३. ग्रन्थो यं ऋक्तन्त्रप्रणेतुः शाकटायनस्य समकालिकेन महामुनिना भगवता आपिशलिनाप्रोक्तः। —सत्यव्रतसामामी, अक्षर तन्त्र भूमिका, पृ०, २

४. सामतन्त्रे खलु साम्नां योनिगता एवाक्षरविकारविश्लेषनिकर्षणाभ्यास-विरामादयश्चिन्तिताः। इह तु साम्नां स्तोभगताः पालास्वरादयो वान्तपर्वादयश्च बोधिता इति भेदः।
—सत्यव्रतसाममी, अक्षर तन्त्र भूमिका, पृ०, १

इस ग्रन्थ की एक वृत्ति भी उपलब्ध है, जिसके आदि और अन्त अप्राप्य होने के कारण लेखक आदि अज्ञात है।[1] इसमें भी सामवेद सम्बद्ध विषयों का विवेचन किया गया है।

(३) **पुष्पसूत्र या फुल्लसूत्र**—इसमें माध्यन्दिन पवमानादि कर्मों में विनियुक्त साम विषयक विवेचन किया गया है। ग्रन्थ में कतिपय स्थलों पर इसको पुष्पाचार्य की कृति कहा गया है। सामवेद सर्वानुक्रमणी के अनुसार इसके प्रणयनकता वररुचि हैं।[2] इस ग्रन्थ में १० प्रपाठक हैं। इस पर अजातशत्रु कृत पुष्पसूत्र-भाष्य अद्यावधि प्राप्त है।[3] सामवेद सर्वानुक्रमणी में रामकृष्ण दीक्षित सूरि के बृहद्भाष्य का विवेचन प्राप्त होता है, जो अनुपलब्ध है।[4] इसमें सामगान, मात्रा, स्वर, संधि आदि विषयों का विषय वर्णन है।

(४) **ऋक्तन्त्र**—विषय और महत्ता की दृष्टि से सामवेद के प्रातिशाख्यों में ऋक्तन्त्र का विशिष्ट स्थान है। इसकी विशिष्टताओं का पर्यालोचन करने पर इसका सामवेद से सम्बन्ध स्पष्ट एवं पुष्ट हो जाता है। इसमें निर्दिष्ट अनेक सूत्रों का विधान केवल गान को दृष्टि में रखकर किया गया है।[5] किट्किट संस्वाद (ज्य), निगार (ह), गति तथा हुम् आदि ध्वनियों का उल्लेख किया गया है,[6] जिनका सम्बन्ध केवल सामवेद से ही है। आचार्य नैगि का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया गया है, जिनकी प्रतिष्ठा एक सामवेदीय आचार्य

---

१. वृत्तिरनतिप्राचीनाऽपि लेखकप्रमादादित एवाद्यन्तदुष्टा दृश्यते···।
—सत्यव्रतसामामी, अक्षरतन्त्रवृत्ति पृ०, २

२. सूत्रकारं वररुचिं बन्दे पाणिनिञ्च वेधसम्।
फुल्ल सूत्रविधानेन खण्ड प्रपाठकानि च॥
वन्दे वररुचिं नित्यमुहाब्धेः पारदृश्वनम्।
पोतो विनिर्मितो येन फुल्लसूत्रशतैरलम्॥ —सा०सर्वा०, पृ०, ७

३. इति उपाध्यायाजातशत्रुकृते पुष्पसूत्रभाष्ये प्रथमी कण्डिका समाप्ता।
अजातशत्रु भाष्यप्रथम कण्डिकावसान

४. इदं फुल्लस्य सूत्रस्य बृहद्भाष्यं हि यत्कृतम्।
नानाभाष्याख्यया रामकृष्णदीक्षित सुरभिः॥ —सा०सर्वा०, पृ०, ७

५. घाद् ग्रा०ऋ०तं०, ३.६.३; ये स्वे मान्तस्थी, ऋ०तं०, ४.१.१० इत्यादि

६. (क) किट्किडाकारो ह्न्वाम्। —ऋ०तं०, २.१.१०
(ख) अविशेषस्थानौ संस्वादनिगारौ॥ —ऋ०तं०, २.२.१
(ग) तिः। ऋ०तं०, ३.५.१०
(घ) महुंयुक। —ऋ०तं, ३.३.१० इत्यादि

के रूप में है।।[1] इसके अतिरिक्त वृत्तिकार ने, भी ऋक्तन्त्र के सूत्रों के अधिकांश उदाहरण सामवेद से ही दिए हैं। उपर्युक्त पुष्ट प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि ऋक्तन्त्र सामवेद से ही सम्बन्धित है। प्राचीनकाल से ही इसका सम्बन्ध सामवेद की कौथुम-शाखा से माना जाता रहा है।[2]

ऋक्तन्त्र का कर्ता

आत्म-कथन से विरत रहना भारतीय मनीषियों की परम्परा रही है। इससे प्राचीन आचार्यों के विषय में, स्वयं उनके द्वारा उल्लिखित सामग्री का अभाव है। ऋक्तन्त्र में प्रणेता के विषय में भी इसी प्रकार की कठिनाई उपस्थित होती है। ऋक्तन्त्र का सर्वप्रथम सम्पादन डा० बर्नेल ने किया था, परन्तु वे कर्ता के विषय में किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सके।[3] डा० सूर्यकान्त ने ऋक्तन्त्र का एक अन्य संस्करण प्रकाशित किया, जिसकी भूमिका में उन्होंने इसके कर्ता के रूप में दो आचार्यों का उल्लेख किया है। प्रथम आचार्य हैं— औदव्रजि और द्वितीय-शाकटायन। उनका मत है कि औदव्रजि ऋक्तन्त्र के मूलकर्ता थे, शाकटायन ने कालान्तर में उसका संस्कार और परिवर्धन किया। अतः ये ही आचार्य ऋक्तन्त्र के कर्ता के रूप में स्वीकृत किए जा सकते हैं।[4]

---

१. (क) नैगिनोभयथा। —ऋ०तं०, २.६.६
(ख) वं नैगिरुस्ते। —ऋ०तं०, ४.३.२

२. ऋक्तन्त्रं सामतन्त्रं च संज्ञालक्षणमेव च।
धातुलक्षणं च स्यादिति व्याकरणानि च॥
इतिकौथुमशाखायां ग्रन्थ समाख्या यथाक्रमात्।
एतानधीत्य मिखिलं वेदोक्तं ज्ञातमर्हसि॥
—गोभिलगृह्यकर्मप्रकाशिका, पृ०, २८-२९

3. But of all his (Śākaṭāyama's) distinct and peculiar opinions there is no clear trace. The Text is attributed to Śākaṭāyana, but so for as we know the teaching of the old grammarian, there is no adequate reason for supposing this ascription to be correct, Burnell, A.C. Ṛktantra, p. 10

4. Śākaṭāyana, who may have been a follower of Audavraji, revised Audavraji's work, both in RT, where he quotes him by the name (53) as well as in grammer, where the former's work was superseded by that of the later, Dr. Surya Kanta : Ṛktantra, p. 40

उपर्युक्त जिन दोनों आचार्यों का इस सम्बन्ध में उल्लेख किया गया है, उसके विषय में कुछ विचार यहाँ प्रस्तुत हैं—

(१) **औदव्रजि**—औदव्रजि का सर्वप्रथम उल्लेख वंशाब्राह्मण में किया गया है, जिसमें उन्हें पुष्यशा औदव्रजि कहा गया है।[1] नारदीय शिक्षा में भी प्राचीन आचार्य औदव्रजि का वर्णोच्चारण के सन्दर्भ में उल्लेख है।[2] पाणिनीय-शिक्षा पर जो पञ्जिका भाष्य प्राप्त होता है, उसमें अनेक नियमों को आचार्य औदव्रजि के नाम से उद्धृत किया गया हैं। औदव्रजि से सम्बद्ध इन नियमों का ऋक्तन्त्र के नियमों से अत्यधिक साम्य है।[3] इनमें कुछ ऐसे भी नियम हैं, जिनका ऋक्तन्त्र में कोई निर्देश नहीं है।[4] भट्टोजि दीक्षित ने शब्दार्थकौस्तुभ में औदव्रजि को ऋक्तन्त्र का कर्त्ता स्वीकार किया है।[5] इनके अनुसार 'यदि वर्गों के प्रथम चार वर्णों के बाद वर्ग का पञ्चम वर्ण आए तो वर्ग के प्रथम चार वर्ण यम को प्राप्त हो जाते हैं—यह यम सम्बन्धी नियम आचार्य औदव्रजि का है। भट्टोजि द्वारा उद्धृत यह नियम ऋक्तन्त्र में प्राप्त होता है।

---

१. ···पुष्यशा औजव्रजिः पुष्यशा औदव्रजिः। —वंशब्राह्मण, पृ०, ११

२. तेनास्य करणं सौक्ष्म्यं माधुर्यु चोपजायते। वर्णाश्चं कुरुते सम्यक् प्राचीनौदव्रजिर्यथा॥ —ना०शि०, २.८.५

३. (ख) स्पृष्टंकरणं स्पर्शानाम्। दुष्पृष्टमन्तस्थानाम्। —ऋ०तं० १.३
तु०—तथा चौदव्रजिः—तत्र स्पृष्टं प्रयत्नं करणं स्पर्शानाम्, दुःस्पृष्मयन्तःस्थानाम् इति। —पंजिका भाष्य, पृ०, ११
(ख) अथायोगवाहाः। अः इति विसजनीयः। ≍क इति जिह्वामूलीयः ≍पइति उपध्यानीयः। हुमित्यनुनासिकः। —ऋ०तं० १.२
तु०—वही पृ० १८, (ग) अं आं इत्यनुस्वारा। —ऋ०तं० १.२
तु०—तथा चौदवजिः—अनुस्वारावं आं इत्यनुस्वारौ। —वही, पृ० १२
(घ) स्पर्शेर्गस्य। ऋ०तं०, २.२.३
तु०—औदव्रजिरपि—स्पर्शेवर्गस्व स्पर्शग्रहणे च ज्ञेयं वर्गस्य ग्रहणं स्थानेष्वित्यधिकार इति। —वही पृ०, १७

४. द्वौ नादानुपदानौ इत्यौदव्रजिः। —वही, पृ०, १४.१९

५ तथा ऋक्तन्त्रव्याकरणस्य छान्दोग्यलक्षणस्य प्रणेता औदव्रजिरप्यसूत्रयत्-अनन्त्यान्त्यसंयोगे मध्ये यमः पूर्वश्यगुणः इति। पूर्वस्यगुण इत्यस्य पूर्वभक्त इत्यर्थः। —शब्दकौस्तुभ, १.१.४, पृ०, ११३
तु०—अनन्त्यान्तसंयोगे मध्ये यमः पूर्वगुणः। ऋ०तं० १.२

(२) **शाकटायन**—ऋक्तन्त्र के रचयिता के सम्बन्ध में दूसरा नाम शाकटायन का लिया जाता है। निरुक्त, प्रातिशाख्य ग्रन्थों तथा परवर्ती व्याकरण ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता हैं कि वैयाकरण-सम्प्रदाय में शाकटायन का अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण स्थान था। इनके सिद्धान्त सर्वत्र समादृत थे।[1] सामवेद-सर्वानुक्रमणी में शाकटायन को ऋक्तन्त्र का प्रणेता माना गया है।[2] नागेश भट्ट ने लघुशब्देन्दुशेखर में ऋक्तन्त्र को व्याकरण ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया है तथा शाकटायन की इसका कर्ता। इस प्रसङ्ग में नागेश भट्ट ने ऋक्तन्त्र में प्राप्त शब्द-राशि के उपदेश क्रम में आचार्यों की परम्परा तथा उपदेश सम्बन्धी निषेध विधानों को शाकटायन-कर्तृक बताया है।[3] ऋक्तन्त्र की पुष्पिका में भी ऋक्तन्त्र का सम्बन्ध शाकटायन से ही स्थापित किया गया है।[4]

ये उल्लेख ऋक्तन्त्र का प्रणेता शाकटायन को सिद्ध करते हैं।

अधिकांश विद्वानों ने ऋक्तन्त्र का रचविता आचार्य शाकटायन को ही माना है। ऋक्तन्त्र के लेखक के विषय में सूर्यकान्त जी की पूर्वोक्त विपतिपत्ति सम्भवतः कालान्तर में दूर हो गयी थी, क्योंकि 'लघु ऋक्तन्त्रसंग्रह के संस्करण में इन्होंने शाकटायन को ही ऋक्तन्त्र का कर्ता माना है एवं

---

१. (क) नि०, १.१२.१३, (ख) ऋ०प्रा०, १.१६; १३.३९
(ग) वा०प्रा०, ३.९; ४.५; १२.८७ इत्यादि
(घ) च०अ०, ४.३०, (ङ) पा०सू०, ३.४.१११; ८.४.५०
(च) म०भा०, ३.२.११५ तथा पा०सू०, ३.३.१ पर कात्यायन वार्त्तिक

२. ऋक्तन्त्रव्याकरणे पञ्चसंख्याप्रपाठकम्। शाकटायनदेवेन द्वात्रिंशद्खण्डकाः स्मृताः॥ —सा०सर्वा० पृ० ३

३. ऋक्तन्त्रव्याकरणे शाकटायनोऽपि-इदमक्षरच्छन्दोवणशः समनुक्रान्तं यथाऽऽचार्या ऊचुर्ब्रह्मा...न भुक्त्वा न नक्तं प्रब्रूयाद् ब्रह्मराशिः इति। ब्रह्मराशिरित्यस्य ब्रह्मप्रतिपादको वर्णराशिरित्यर्थः।
—लघुशब्देन्दुशेखर, बनारस, १९११, पृ० ७
तु०—इदमक्षरं छन्दो वणशः समनुक्रान्तम्। यथाचार्या उचुर्ब्रह्मा वृहस्पतये प्रोवाच वृहस्पतिरिन्द्रायेन्द्रो भरद्वाजाय भरद्वाज ऋषिभ्य ऋषिभ्यों ब्राह्मणेभ्यस्तं खल्विममक्षरसमाम्नायमित्याचक्षते। न भुक्त्वान नक्तं प्रवूयाद् ब्रह्मराशिरिति च ब्रह्मराशिरिति च ब्रह्मराशिरिति च॥
—ऋ०तं० १.४

४. इति शाकटायनोक्तं ऋक्तन्त्रव्याकरणं सम्पूर्णम्।—ऋक्तन्त्र की पुष्पिका

ऋक्तन्त्र को उनकी उपलब्धि एकमात्र कृति ।[1] कर्तृ-विषयक इस द्वैधता का परवर्ती विद्वानों ने समाधान ढूंढ़ने का प्रयत्न किया है । युधिष्ठिर मीमांसक और बलदेव उपाध्याय का सुझाव है कि औदव्रजि लेखक का वैयक्तिक नाम था तथा शाकटायन गोत्र नाम था ।[2] परम्परा से प्राचीन ग्रन्थों में औदव्रजि तथा शाकटायन दोनों नामों का उल्लेख ऋक्तन्त्र के रचयिता के रूप में मिलता है, उसका समाधान, समन्वय इन नामों को एक ही व्यक्ति के गोत्रज तथा वैयक्तिक नाम मानने से हो जाता है ।

ऋक्तन्त्र का काल

उपर्युक्त विवेचन से ऋक्तन्त्र का कर्ता शाकटायन हैं, यह सिद्ध हो जाने पर ग्रन्थ के काल-निर्धारण में सुविधा हो जाती है ।

प्राचीन वैयाकरणों की श्रृंखला में शाकटायन का निःसन्देह प्रमुख स्थान था । यास्क से आरम्भ कर पाणिनि तक अनेक वैयाकरणों ने इनके सिद्धान्तों को मान्यता दी है ।[3] निरुक्ति में शाकटायन के मतों का एक प्रतिष्ठित विद्वान के सिद्धान्तों के रूप में निर्देश इनके काल-निर्धारण में विशेष सहायक है । शाकटायन सम्बन्धी यास्क के इन उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि शाकटायन इस समय तक वैयाकरणों में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं । यास्क का समय सामान्यतः ८०० ई० पू० के लगभग माना जाता है । शाकटायन इनके पूर्ववर्ती थे, अतः ये आठवीं शती ई० पू० के बाद के नहीं हो सकते

---

1. .. On the Ṛktantra, the only available work of Śākaṭā yana whom, Yāska and Pāṇini so often mention in their work.—Dr. Suryakant, Laghu Ṛktantra Saṁgraha, preface, p. 3.

२. (क) मीमांसक, युधिष्ठिर : संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, पृ० ३८६

(ख) उपाध्याय, बलदेव : वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० ३०८

३. (क) नि०, १.१२, १३, (ख) ऋ० प्रा०, १.१६; १३.३६, (ग) वा० प्रा०, ३.६; ४.५; १२.८७

(घ) च० अ०, ४.३०. (ङ) शौ० शि०, ३, (च) बृहद्देवता, २.१, ६५; ३.१५६

(छ) पा० सू०, ३.४.१११; ८.४.५० इत्यादि, (ज) म० भा०, ३.२.११५; ३.३.१ पर कात्यायन

शाकटायन-विरचित मूल ऋक्तन्त्र का समय भी ८०० ई० पू० से पहले होना चाहिए।

ऋक्तन्त्र जिस रूप में आज प्राप्त है, उससे प्रतीत होता है कि इसके कलेवर में प्रक्षेपों के कारण वृद्धि हुई है। ऋक्तन्त्र के अनेक सूत्र भाषा से सम्बन्ध रखते हैं।[1] तथा अनेक सूत्रों पर पाणिनि का प्रभाव सुस्पष्ट है।[2] इससे प्रतीत होता है कि ऋक्तन्त्र का उपलब्ध रूप पाणिनि के समय का है। पाणिनि का समय ५०० ई० पू० के लगभग माना जाता है। ऋक्तन्त्र के वर्तमान कलेवर का समय इसी काल का है। इसी साम्य को देखकर परवर्ती विद्वानों ने इसे व्याकरण के रूप में स्वीकार किया है।

ऋक्तन्त्र के संस्करण

अद्यावधि इसके दो संस्करण प्रकाशित हुए हैं, जिनके सम्पादन का श्रेय डा० बर्नेल तथा डा० सूर्यकान्त को है

(१) ऋक्तन्त्र का प्रथम संस्करण डा० ए० सी० बर्नेल ने सन् १८७९ में मंगलोर से प्रकाशित किया था। इस संस्करण की एक प्रति गोयनका पुस्तकालय वाराणसी में है। यह प्रति अत्यन्त ही जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है, जो पारदर्शी कागज से जिल्द की हुई तथा क्षत-विक्षत है। यह संस्करण आजकल सुलभ नहीं है।

(२) ऋक्तन्त्र का द्वितीय संस्करण डॉ० सूर्यकान्त ने दिसम्बर १९३३ में लाहौर से प्रकाशित कराया था। इसमें सूत्र और वृत्ति के साथ 'ऋक्तन्त्र विवृत्ति' नामक परिशिष्ट भी है। इस संस्करण के प्रारम्भ में विस्तृत भूमिका,

---

१. (क) भाषायांणी परयोः। ऋ० तं०, ३.४.६. (ख) दीर्घ भाषायां प्रापवृणीतौ संवरणे। ऋ० तं०, ४.७.८.

२. (क) ऋ० तं०, ४.५.५; ४.७.८. तु०—पा० सू०, ६.१३५-१५७.
ऋ० तं०, ४.७.५. तु०, पा० सू०, ६.१.१५. (ग) ऋ० तं०, ३.७.८ तु० पा० सू०, ८.३.३८

(घ) ऋ० तं०, ४.२.६,७. तु०—पा० सू०, ६.१.१३८ (ङ) ऋ० तं०, ३.४.६. तु०, पा० सू०, ६.१.८९ पर वार्तिक

(च) ऋ० तं०, ३.४.७, तु०—पा० सू०, ६.१.८९ पर वार्त्तिक।

(छ) ऋ० तं०, ३.४.८. तु०—पा० सू०, ६.१.९४ पर वार्त्तिक।

(ज) ऋ० तं०, ३.४.९. तु०—पा० सू०, ६.१९५ पर वार्त्तिक।

(झ) ऋ० तं०, ३.५.६, तु०—पा० सू०, ६.१.८९ पर वार्त्तिक इत्यादि।

पाठान्तर और अन्त में परिशिष्ट रूप में टिप्पणियाँ दी गयी हैं । यही संस्करण आजकल समुपलब्ध है। डा० सूर्यकान्त लिखित पारिचयात्मक भूमिका, आलोचनात्मक टिप्पणियाँ और पाठान्तर विषय को सुबोध बनाने में अत्यन्त सहायक हैं ।

डा० सूर्यकान्त ने लघु 'ऋक्तन्त्रसंग्रह' नाम ग्रन्थ का सम्पादन 'सामसप्तलक्षण' नामक ग्रन्थ के साथ किया है । इसके नामकरण से यह प्रतीत होता है कि यह ऋक्तन्त्र का संक्षिप्त रूप है, परन्तु संयोजन कलेवर, तथा विषय वस्तु की दृष्टि से यह ऋक्तन्त्र से सर्वथा भिन्न है ।[1] इस ग्रन्थ के केवल कुछ सूत्र ऐसे हैं, जो ऋक्तन्त्र के सूत्रों से सादृश्य रखते हैं ।

ऋक्तन्त्र	**लघु ऋक्तन्त्रसंग्रह**	**ऋक्तन्त्र**	**लघुऋक्तन्त्रसंग्रह**
३.१.६.	१४५.	३.२.१.	१४४,१४६
३.२.४.	१४६.	३.३.५.	१३८,१३६,१४८.
३.३.६.	१३८,१३६,१४७.	३.३.८.	१३८.१३६,१४४.
३.३.६.	१४३.	३.७.१०.	१२४.
३.८.१.	१२७.	४.२.१.	१४२.
४.२.३.	१२८,१२६.	४.१.८.	१४३.
४.७.४.	१४०.		

'लघुऋक्तन्त्रसंग्रह' के प्रारम्भ में स्थान, प्रयत्न आदि के विवरण हैं । तदनन्तर ग्रन्थ चार अध्याय में विभक्त है । प्रथमाध्याय में ह्रस्व, द्वितीय में अवग्रह, तृतीय में षत्व-विधान और चतुर्थ में सवर्णदीर्घ, इकार, उकार, पररूप, विसर्जनीय भाव आदि का विवेचन है। इसमें १५६ कारिकाएँ हैं। इसके लेखक का नाम अज्ञात है ।

---

1. ...it is not an abridgment of the available Ṛktantra a, work from which it redically differs both in extent of matter as will as its order and method of treatment : while the Ṛktantra is fairly comprehensive in all matter, germane to a Prātiśākhya the later is extremely dificient, and whereas the former theats all important Saṁdhis occuring in the Sāmaveda, the latter analyses only a few, the order of Samdhis also being redically different.
—Dr. Suryakant, Ṛktantra Saṅgrah, Introduction, p. 17

ऋक्तन्त्र की टीकाएँ

ऋक्तन्त्र पर एक वृत्ति तथा एक विवृत्ति मिलती है। इन दोनों के लेखक तथा उनके समय के सम्बन्ध में अभी तक कुछ ज्ञात नहीं हो सका है। वृत्ति में सूत्रों का अर्थ तथा उदाहरण दिए गए हैं। यह सूत्रों को सुबोध बनाती है। यह वृत्ति ऋक्तन्त्र के प्रथम प्रपाठक पर अनुपलब्ध है। वृत्ति में कहीं-कहीं ऐसे निर्देश हैं; जिनसे प्रतीत होता है कि ऋक्तन्त्र का कोई भाष्य रहा होगा, जो अब उपलब्ध नहीं है।[1] ऋक्तन्त्र विवृत्ति दो प्रपाठकों में विभक्त है। प्रथम प्रपाठक में ऋक्तन्त्र के द्वितीय प्रपाठक के षष्ठ दशक और द्वितीय प्रपाठक में ऋक्तन्त्र के तृतीय प्रपाठक के प्रथम दशक के प्रथम सूत्र पर विचार किया गया है।

ऋक्तन्त्र की स्वरूपात्मक विवरण

ऋक्तन्त्र पांच प्रपाठकों में विभक्त है। प्रथम प्रपाठक में चार उपखण्ड हैं, जिन पर वृत्ति नहीं है। प्रथम उपखण्ड में ध्वनि-उत्पादन में वायु का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए कण्ठ्य, तालव्य आदि वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन है। द्वितीय उपखण्ड अक्षर-समाम्नाय से सम्बद्ध है। तृतीय उपखण्ड में स्थान और प्रयत्न का विवेचन है और चतुर्थ उपखण्ड में प्रत्याहार की दृष्टि से वर्णों को संयोजित किया गया है।

द्वितीय प्रपाठक से पञ्चम प्रपाठक तक का विभाजन दशकों में किया गया है। द्वितीय प्रपाठक में छ:दशक, तृतीय प्रपाठक में आठ दशक तथा चतुर्थ एवं पञ्चम प्रपाठक में सात दशक हैं। दशक का अर्थ दस सूत्रों के समूह से है, परन्तु चतुर्थ प्रपाठक के चतुर्थ दशक में चौदह सूत्र एवं पञ्चम प्रपाठक के द्वितीय एवं सप्तम दशक में ग्यारह सूत्र हैं; ये अपवाद है। सूत्रों की कुल संख्या २८६ है।

द्वितीय प्रपाठक में सर्वप्रथम उच्चारण-स्थान, वर्ग-विभाजन, अक्षर विभाजन के नियम, मात्रा एवं उसके विभाजन-नियम और स्वर का विवेचन किया गया है।

तृतीय प्रपाठक में संहिता का लक्षण, स्वर सन्धि और विसर्जनीयः विकार का विवरण है।

---

१. (क) नृभिर्यत इति भाष्यम्। —ऋ० तं० वृत्ति, ४.१.३

(ख) अयमु ते (१.१८१) भाष्यम्, ऋ० तं० वृत्ति, ५.३.१०

(ग) जनयत (१.७२) भाष्यम्, ऋ० तं० वृत्ति ५.३.१०

सन्धि के फलस्वरूप विसर्जनीय के स्थान में होने वाले विकारों का विवेचन चतुर्थ प्रपाठक के आरम्भ में किया गया है। तदनन्तर लोप, आगम और दीर्घभाव का विवेचन किया गया है।

दीर्घ कहाँ और कब होता है इस प्रसंग के अनन्तर मूर्धन्य भाव का विवेचन पञ्चम प्रपाठक में है।

शोध प्रबन्ध की संयोजना

इस प्रबन्ध में सर्वप्रथम भूमिका है उसके अतिरिक्त छः अध्याय तथा छः परिशिष्ट हैं।

प्रबन्ध की भूमिका में सामवेद का वर्गीकरण, उसकी शाखायें, साम गान के प्रकार एवं साम गान पद्धति आदि विषयों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने के अनन्तर 'प्रातिशाख्य' शब्द और इससे सम्बद्ध शाखा, चरण आदि अन्य अवान्तर विषयों का विवरण प्रातिशाख्यों के संक्षिप्त इतिहास के परिप्रेक्ष्य में दिया गया है। तदनन्तर प्रातिशाख्यों में ऋक्तन्त्र का स्थान, उसके रचयिता और उनके काल का पर्यालोचन किया गया है।

ऋक्तन्त्र की विषय-वस्तु के आधार पर इस प्रबन्ध में निम्नलिखित छः अध्याय हैं

१. अक्षर समाम्नाय — २. वर्णोच्चारण
३. अक्षर — ४. मात्रा
५. स्वर — ६. संहिता

प्रथम अध्याय—अक्षर-समाम्नाय से सम्बद्ध है। भाषा का प्रासाद अक्षर की ईंटों से ही निर्मित किया जाता है। अक्षर भाषा के सार्वभौम, मौलिक और सर्व-स्वीकृत तत्त्व है, जो उसे जीवन्तता और अग्रगामित्व प्रदान करते हैं। इस अध्याय में वर्ण संख्या, वर्ण विभाजन आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। ऋक्तन्त्र में वर्ण दो प्रकार से विभक्त किए गए हैं—

१. स्वर—व्यञ्जनात्मक
२. योगवाह—अयोगवाहात्मक

स्वरों को पुनः समान और सन्ध्यक्षर में विभक्त करने के पश्चात् व्यञ्जनों को स्पर्श, अन्तस्थ, ऊष्मन्, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, नासिक्य एवं यम आदि में विभक्त किया गया है। द्वितीय विभाजन अन्य प्रातिशाख्यों में अनुपलब्ध है। योगवाह के अन्तर्गत समस्त स्वर तथा व्यञ्जनों में स्पर्श, ऊष्मन् एवं अन्तस्था का परिगणन किया गया है। अयोगवाह के अन्तर्गत

जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, नासिक्य और यम लिए गए हैं। ऋक्तन्त्र में वर्ण समुदाय को उपदेश और उद्देश क्रमों में रखा गया है। यह क्रम-मूलक विभाजन अन्य प्रातिशाख्यों में वर्णित नहीं है। अन्त में अक्षर समाम्नायगत वैशिष्ट्य को प्रस्तुत किया गया है।

द्वितीय अध्याय वर्णोच्चारण से सम्बन्धित है। इसमें सर्वप्रथम उच्चारणावयवों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। उच्चारण प्रक्रिया को भलीभाँति समझने के लिए ध्वनिअंगों का विश्लेषण अनिवार्य सा हो जाता है। इसके अनन्तर ध्वनि-उत्पत्ति में वायु के महत्त्व की मीमांसा की गई है। वर्णोच्चारण के प्रयत्न के दो विभेद किए गए हैं—बाह्य प्रयत्न और आभ्यन्तर प्रयत्न। इन पर विभिन्न दृष्टियों से विचार करके संवृत, विवृत, विवृततर, संस्वाद, निगार, कण्ठ, तालु आदि के माध्यम से वर्णोच्चारण प्रक्रिया का पर्यालोचन किया गया है। अन्त में वर्णों का विशद ध्वन्यात्मक आलोचन किया गया है।

तृतीय अध्याय में वैयाकरण और दार्शनिक दोनों पक्षों को दृष्टि में रखकर अक्षर विषयक विचार निवद्ध हैं। अक्षर के स्वरूप के स्पष्टीकरण के उपरान्त लघु-गुरु रूपात्मक विभाजन तथा ऋक्तन्त्र में विवेचित अङ्गाङ्गि-भाव विषयक नियमों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में मात्रा का विवेचन है। अत्यन्त प्राचीन काल से मात्रा का विषय अस्पष्ट सा रहा है। ध्वनि-विवेचन के सन्दर्भ मैं इसके पूर्ववर्ती मूल्य और मानक का विवरण, तदनन्तर ह्रस्व, दीर्घ, वृद्ध (प्लुत) रूप गुणात्मक विभाजन का विस्तृत एवं समीक्षात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। अन्त में मात्रा-विभाजन के नियमों को प्रतिपादित किया गया है।

वैदिक भाषा के संरक्षण में, अर्थ-ज्ञान और धार्मिक कृत्यों से सम्बद्ध विषयों के विवेचन में तथा रहस्यात्मक तत्त्वों के स्पष्टीकरण में 'स्वर की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। स्वर वेद का आधार-स्तम्भ है। अतः उदान्त, अनुदात्त, स्वरित आदि स्वरों के माहात्म्य का आकलन एवं विभाजमें पञ्चम अध्याय में किया गया है। तदनन्तर स्वरों की सन्धि के फलस्वरूप प्राप्त विकार निर्दिष्ट हैं। अन्त में स्वर-सञ्चार-विषयक नियमों को दृष्टान्त सहित प्रस्तुत किया गया है।

छठे अध्याय में संहिता का लक्षण प्रस्तुत करके उसके फलस्वरूप प्राप्त विकारों को निर्दिष्ट किया गया है, इनको लोप, आगम, प्रकृतिभाव और विकार के क्रम में रखा गया है।

शोध-प्रबन्ध को अधिक उपादेय बनाने के उद्देश्य से पूरक के रूप में छः परिशिष्ट हैं, जिनका विवेचन इस प्रकार है

प्रथम परिशिष्ट में, ऋक्तन्त्र के सूत्रों की दुरूहता को सरलतर और सुबोध बनाने की दृष्टि से, टिप्पणी-सहित हिन्दी अनुवाद है।

ऋक्तन्त्र में उल्लिखित आचार्यों की सूची अकारादि क्रम से द्वितीय परिशिष्ट में है।

तृतीय परिशिष्ट में ऋक्तन्त्र में प्रयुक्त विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों का संकलन एवं तुलनात्मक परिचय है।

प्रचलित पारिभाषिक शब्दावली के समानार्थक अंग्रेजी शब्दों की सूची चतुर्थ परिशिष्ट में प्रस्तुत की गई है।

पञ्चम परिशिष्ट में सामवेदीय स्वराङ्कन का संक्षिप्त परिचय है।

सामवेदीय परम्परा के गायन से विशेष रूप से सम्बद्ध होने के कारण साम-स्वरों के आङ्गिक प्रदर्शन का विवरण षष्ठ परिशिष्ट में है।

अन्त में सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची संलग्न है।

१

अक्षर-समाम्नाय

ऋक्तन्त्र में अक्षर-समाम्नाय पद का प्रयोग वाणी को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली ध्वनियों के उन संकेतों के लिए किया गया है, जो स्वर और व्यञ्जन के रूप में प्रख्यात हैं। इससे स्पष्ट है कि ऋक्तन्त्रकार अक्षर और वर्ण को पर्याय के रूप में स्वीकार करते हैं। अक्षर शब्द का प्रयोग इसके निर्वचन के अनुसार भाषा की मूल इकाई के लिए भी किया जाता है, परन्तु साधारणतया यह वर्ण का ही एक अभिधान मान लिया गया है।[1]

शास्त्र-ज्ञान के निमित्त वर्णज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि वर्ण के द्वारा शास्त्र प्रणयन होता है। सम्पूर्ण वाङ्मय अक्षर-समाम्नाय पर ही आधारित है[2]। अतः इसको वाणी की आत्मा कहा गया है।[3] अक्षर-ज्ञान के महत्त्व का आकलन इस कथन से किया जा सकता है कि इसके ज्ञान से स्वयं मानव को ही पुण्यफल की प्राप्ति नहीं होती, अपितु इसके माता-पिता भी स्वर्गलोक में महिमान्वित होते हैं।[4]

ऋक्तन्त्र के अनुसार इस अक्षर-समाम्नाय का सर्वप्रथम उपदेश बृहस्पति को स्वयं ब्रह्मा ने दिया था। तत्पश्चात् बृहस्पति ने इन्द्र को, इन्द्र ने भरद्वाज को, भरद्वाज ने ऋषियों को और ऋषियों ने ब्राह्मणों को इसका उपदेश दिया।[5]

---

१. अक्षर-समाम्नाय इत्यादावक्षरशब्दस्य वर्णे प्रसिद्धत्वात्—ब्रह्मसूत्र १.३.१० पर शङ्करभाष्य एवं लघुशब्देन्दु शेखर, १.६.४

२. यत्तिञ्चिद् वाङ्मयं लोके सर्वमत्र प्रयुज्यते। —वा० प्रा० ८.३३

३. एतेपञ्चषष्टिवर्णाः ब्रह्मराशिरात्मवाचः। —वा० प्रा० ८.३२,

४. सो यमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्र्तारकवत् प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः। सर्ववेदपुण्यफलावाप्तिश्चास्य भवति ज्ञाने। मातापितरौ चास्य स्वर्गे लोके महीयते। —म० भा०, २.१.१

५. यथाचार्या ऊचुर्ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच बृहस्पतिरिन्द्रायेन्द्रो भरद्वाजाय भरद्वाज ऋषिभ्य ऋषयो ब्राह्मणेभ्यस्तं खल्विममक्षरसमाम्नायमित्याचक्षते। —ऋ० तं०, १.३

समाम्नाय शब्द की निष्पत्ति सम् तथा आ उपसर्ग पूर्वक अभ्यासार्थक 'म्ना' धातु से हुई है। म्ना का अर्थ है—क्रम से उपदेश या अभ्यास। अतएव अक्षर-समाम्नाय का अर्थ होता है—वर्णों का संग्रह या क्रम से उपदेश या समूह या अभ्यास। पूर्ववर्ती आचार्यों ने अकारादि वर्णों को एक स्थान पर क्रम से उपदिष्ट किया है अथवा इनका अभ्यास या पाठ किया है।[1] अतः इस वर्णसमूह को अक्षर-समाम्नाय की संज्ञा मिली है।

वर्ण-संख्या

ऋक्तन्त्र में अक्षर-समाम्नाय के अन्तर्गत सत्तावन वर्णों की गणना की गई है, जिनमें चौदह स्वर, पच्चीस स्पर्श, चार अन्तस्थ, चार ऊष्मन्, विसर्जनीय (अः), जिह्वामूलीय(⌣क), उपध्मानीय(⌣प), अनुनासिक (हुं), चार यम और दो अनुस्वार (अं आं) का समाहार किया गया है।[2] अक्षर-समाम्नाय में वर्णों की संख्या के विषय में आचार्यों में मतभेद है। ऋक्प्रातिशाख्य के अनुसार वर्णों की संख्या इक्यावन है। वर्णों की गणना में यही संख्या न्यूनतम है।[3] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में वर्ण साठ बतलाये गए हैं।[4] वाजसनेयि-प्रातिशाख्य

---

१. समित्येकीभावे। आ इति मर्यादायाम्। म्नाय इति आनुपूर्व्येणोपदेशः। एकीभूता अकारादयो वर्णा आनुपूर्व्येण पूर्वैः शिष्टैरुपशिष्टाः।
—तै० प्रा०,१-१ पर त्रि०

तु० (क) समित्युपसर्गसहत्वं द्योतयति। यत्र समुदितानामभ्यासः क्रियते स समाम्नायः। —तै० प्रा०, १.१. पर वै० आ०

(ख) वर्णाः यस्मिन् समाम्नाये पठ्यन्ते स वर्णसमाम्नायः।
वा० प्रा०, ८-१ पर उ० भा०

(ग) समाङ्पूर्वस्य म्नातेरभ्यासार्थस्य कर्मणि कारके समाम्नायः। समस्यते मर्यादायामिति समाम्नायः। —नि० १.१, पर दुर्ग

२. ऋ० तं०, १.२ ३. (क) ऋ० प्रा०, १.३०, ३१

३. (ख) अकाराकारावि उ ए ओ ऐ औ पद्यान्तयोर्न लृकारः स्वरेषु।
अकारादीन् दीर्घरूपान्द्वितीयान् ह्रस्वेषु पञ्चस्वपि तानि सन्ति।
कखौ गघौ ङ चछौ जझौ ञ टठौ डढौ ण तथौ दधौ न।
पफौ बभौ म यरलवा हशषसा आः⌣क प अं इति वर्णराशिः क्रमशश्च॥
—ऋ० प्रा०, वि० व०, ९.१०

४. तै० प्रा०, १.५, ६; १.३४; २.२५; ८.५२, १३.१६; २१.१२, १५

में वर्णों की सर्वाधिक संख्या पैंसठ दी गई है।[1] पाणिनि ने वर्णों की संख्या तिरसठ अथवा चौंसठ मानी है।[2] इस सम्बन्ध में व्यास शिक्षा का भी मत उल्लेखनीय है; इसमें वर्णों की संख्या छप्पन मानी गई है।[3] वर्णों की संख्या में विभेद होने का कारण आचार्यों का दृष्टिकोण रहा है। किसी ने अनुस्वार के एक रूप को मान्यता दी, किसी ने दो को। किसी ने सभी स्वरों के प्लुत रूप को स्वीकार किया, किसी को यह मान्य नहीं। किसी ने लृ को मान्यता नहीं दी, तो किसी ने इसके दीर्घ रूप को छोड़ दिया।

इस प्रकार अक्षरों की न्यूनतम संख्या इक्यावन तथा अधिकतम पैंसठ प्राप्त होती है। ऋक्तन्त्र में वर्णों की संख्या सत्तावन मानकर मध्यम मार्ग को अङ्गीकृत किया गया है।

अक्षर-समाम्नाय का विभाजन

ऋक्तन्त्र में अक्षर-समाम्नाय को दो प्रकार से विभाजित किया गया है—

(अ) — (१) स्वर (२) व्यञ्जन

(ब) — (१) योगवाह (२) अयोगवाह

स्वरों को पुनः समान और सन्ध्यक्षर इन दो भागों में बाँटा गया है।

व्यञ्जनों के अन्तर्गत स्पर्श, अन्तस्थ, ऊष्मन्, विसर्जनीय, यम और अनुस्वार की गणना की गई है।

ऋक्तन्त्र का योगवाह और अयोगवाहमूलक विभाजन अन्यत्र प्राप्त नहीं

---

१. वा० प्रा०, ८.१, ३२

२. त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः। प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताःस्वयम्भुवा स्वराःविंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः। यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः। अनुस्वारो विसर्गश्च ⌣कपौ चापि पराश्रयौ। दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयो लृकार प्लुत एव च ॥—पा०शि०, ३.५० तु० (क) व० प्र० शि०, ११.१५. (ख) शौ० शि०, ६
(ग) वक्ष्ये शिक्षां त्रिषष्टिः स्युर्वर्णाः वा चतुरधिकाः।—अ०पु०, ३.३३६
(घ) अकारादयो वर्णास्त्रिषष्टिः। —कौटिल्य अर्थशास्त्र, २.२६. १०

३. अवर्णे सर्णको वर्णा ऋवर्णो लृत्वमेत्वमैत्।
औदौद्रङ्गो क्रमादोऽभूत्स्वराः स्युर्व्यञ्जनान्यथा ॥
कादिमान्ताः स्मृताः स्पर्शाः अन्तःस्था यादिवोत्तराः।
जिह्वामूलादि हातांश्च षडूष्माणः उदीरिताः ॥ —व्या० शि०, ३, ४

है। प्रातिशाख्य शिक्षा और व्याकरण में अयोगवाह के विषय में विवरण उपलब्ध है, परन्तु योगवाह का विवेचन केवल ऋक्तन्त्र में ही किया गया है। इसके अन्तर्गत समस्त स्वर, व्यजनों में स्पर्श, अन्तस्थ और ड ऊष्मन् की गणना की गई है।

अयोगवाह वर्णों में विसर्जनीय (अः), जिह्वामूलीय (⌒क), उपध्मानीय (⌒प) अनुनासिक (हुँ) यम (कुं, खुं, गु, घुं) और अनुस्वार (अं आं) को स्वीकार किया गया है।

उपर्युक्त दोनों विभागों में परिगणित अक्षर-समाम्नाय का विवेचन इस प्रकार है—

स्वर

स्वर शब्द 'स्वृ शब्दोपतापयोः' धातु से अच् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न किया गया है।[1] अतः स्वर शब्द का तात्पर्य धातु के इन दोनों अर्थों पर आधारित है। स्वरों का उच्चारण निरपेक्ष होता है, क्योंकि इनके उच्चारण में किसी अन्य वर्ण के सहाय्य की आवश्यकता नहीं होती।[2]

---

१. स्वरा इति स्वृ शब्दोपतापयोः...करणे च् प्रत्ययः।

—पा० शि०, ४ पर पञ्जिका भाष्य

तु० स्वृ शब्दोपतापयोः अच्। प्रयो० व्या०, १.६, ७ पर प्रभाप्रकाशिका

२. अन्वर्थ खल्वपि निर्वचनं स्वयं राजन्ते स्वराः।

—पा० सू०, १.२.२९ ३० पर मा० भा०

तु० (क) स्वर्यन्ते शब्द्यन्त इति स्वराः। —ऋ० प्रा०, १.३ पर उ० भा०

(ख) स्वयं राजन्ते नान्येन व्यञ्जन्त इति स्वराः।

—तै० प्रा०, ९.५ पर वै० भा०

(ग) यस्स्वयं राजते तं तु स्वरमाह पतञ्जलिः।
उपरिस्थायिना येन व्यंग्यं व्यञ्जनमुच्यते॥

—तै०प्रा०, १.६ पर वै०आ०

(घ) पा० शि०, ४ पर पञ्जिका भाष्य

(ङ) या० शि०, १११

(च) कादीनामुच्चारणन्वैषामधीनमिति।

—हरिना०, १.१२ पर वृत्ति।

स्वरों के लिये अच्[1] और सर्वेश्वर[2] शब्दों का भी प्रयोग मिलता है।

ऋक्तन्त्र में अकारादि चौदह वर्णों को स्वर कहा गया है।[3] स्वरों की संख्या के विषय में भी वर्णों की संख्या के समान ही मतभेद है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के अनुस्वार स्वर सोलह हैं। इनमें अ, इ, उ के दीर्घ और प्लुत रूप को मान्यता प्रदान की गई है और लृ का केवल ह्रस्व रूप ही स्वीकार किया गया है[4] वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में समानाक्षरों के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत और सन्ध्यक्षरों के प्लुत रूप को स्वीकार करके स्वरों की संख्या तेइस मानी गई है।[5] पाणिनि शिक्षा के अनुसार स्वर इक्कीस हैं। जिनमें ऋ और लृ के अतिरिक्त सभी वर्णों के दीर्घ एवं प्लुत रूप को परिगणित किया गया है।[6]

स्वर-विभाजन

ऋक्तन्त्र में स्वरों का अग्रोलिखित विभाजन किया गया है—

(अ) समान (सन्ध्यक्षर)

---

१. पा० सू०, १.१.६४, ५७, १.२.२८,३.१.६७ इत्यादि
तु० (क) तस्यामकारादौकारं यावद्वर्णाः स्वरा अचः।—प्रयो० व्या०, १.६
(ख) एते स्वरा अचश्च प्राचीनानाम्। हेम०, १.१.२ पर वृत्ति
(ग) मुग्ध० व्या०, ६ (घ) जै० व्या०, ११, १२

२. तत्रादौ चतुर्द्दश सर्वेश्वराः। —हरिना०, १.१,२

३. अ इति आ इति इ इति ई इति उ इति ऊ इति ऋ इति, ॠ इति लृ इति लॄ इति समानानि। ए इति ऐ इति ओ इति औ इति सन्ध्यक्षरािण। —ऋ० तं०, ६.२
तु० (क) अ० प्रा०, १.१, २.४, ३०
(ख) तत्र चतुर्द्दशादौ स्वराः। का० व्या०, १.१.२ (ग) हेम०, १.१.४
(घ) प्रयो० व्या०, ६.७ (ङ) हरिना०, १.१.२ (च) तत्र स्वराश्चतुर्दश, ना० शा०, १.४

४. षोडशादितः स्वराः। —तै० प्रा०, १.३
तु० ह्रस्वदीर्घप्लुता वर्णे वर्णो ऋ ॠ लृ च।
एतेदौदिति ज्ञेयाः षोडशादितः स्वराः॥ —पारिशिक्षा-४

५. वा० प्रा०, ८.२, १३

६. स्वरा विंशतिरेकश्च···। —पा० शि०, ४
तु० (क) व० प्र० शि०, ११ (ख) शै० शि०, १०
(ग) अ० पु०, ३.३३६

समान

अ, आ, इ, ई, ऋ, ॠ एवं ऌ, ॡ—इन दस वर्णों को समान कहा गया है।[1] ऋक प्रातिशाख्य[2] और वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में समानाक्षरों की संख्या आठ मानी गई है, परन्तु आलोचन करने पर वाजसनेयि-प्रातिशाख्य के कथन में विप्रतिपत्ति मिलती है। प्रथम अध्याय में उसमें स्वर आठ माने गए हैं, परन्तु अष्टम अध्याय के विवरण के अनुसार ये पन्द्रह हो जाते हैं।[3] तत्तिरीय प्रातिशाख्य में दीर्घ ॡ को मान्यता न देकर नौ समानाक्षरों को माना गया है।[4] आपिशल शिक्षा में अ, इ, उ, ऋ के ह्रस्व, दीर्घ प्लुत रूप को स्वीकार करके, ऌ के केवल ह्रस्व, दीर्घ रूप को ही मान्यता प्रदान कर तथा उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और अनुनासिक को भी जोड़कर इस संख्या को अठारह तक बढ़ाया गया है।[5] ऋक्प्रातिशाख्य, वाजसनेयि-प्रातिशाख्य और चतुरध्यायिका में ऋ और ऌ को क्रमशः रेफ और लकार का अंश माना गया है।[6]

---

१. अ इति आ इति, इ इति ई इति उ इति ऊ इति, ऋ इति ॠ इति ऌ इति ॡ इति समानानि। —ऋ० तं० १.२
तु० (क) दश समानाः। का० व्या०, १.१.३ (ख) सार० व्या०, १.१.२ (ग) ऌदन्ता : समानाः। हेम०, १.१.७ (घ) प्रयो० व्या०, १.८ (ङ) हरिना०, १.३

२. अष्टौ समानाक्षराण्यादितः। —ऋ० प्रा०, १.१

३. (क) सिमादितोऽष्टौ स्वराणाम्। —वा० प्रा०, १.४४
(ख) अ इति आ इति आ ३ इति। इ इति ई इति ई३ इति। उ इति ऊ इति ऊ ३ इति ऋ इति ॠ इति ॠ३ इति। ऌ इति ॡ इति ॡ ३ इति। —वा० प्रा०, ८.३.६

४. अथ नवदितः समानाक्षराणि। —तै० प्रा०, १.२

५. ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च त्रैस्वर्योपनयेन च।
आनुनासिक्य भेदाच्च संख्यातोऽष्टादशात्मकः॥ —आपि० शि०, ६.२
तु० उदात्तानुदात्तस्वरितसानुनासिकभेदादष्टादशधा भिद्यन्ते अवर्णादय इति। —हेम०, १.१.७,८ पर लघुन्यास

६. रेफोऽस्त्यृवारे च परस्य चार्धे।
पूर्वे ह्रसीयांस्तु न वेतरस्मात्॥ मध्ये सः। ऋ० प्राभ, १३.३४
तु० (क) वा० प्रा०, ४.१४६ (ख) च० अ०, १.३७

सन्धि का अभाव होने से अपने समान रूप के कारण,[1] अथवा तुल्य मान या परिच्छेद होने के कारण परस्पर विलक्षणाकार होने पर भी अकारादि को समान कहा जाता है।[2]

समान को सिम,[3] अक[4] और दशावतार[5] अभिधानों से भी अभिहित किया गया है।

सन्ध्यक्षर

सन्ध्यक्षर स्वरों में अवर्णलेश का उल्लेख गोपथब्राह्मण में किया गया है।[6] इससे सूचित होता है कि उस समय भी सन्धि-जन्य स्वरों के लिए सन्ध्यक्षर इस अन्वर्थ संज्ञा का प्रयोग किया जाता था।[7] इनमें ए, ऐ, ओ तथा औ की गणना की गई है।[8] वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में इन वर्णों के प्लुत रूप को स्वीकार किया गया है अतः इनके अनुसार सन्ध्यक्षरों की संख्या आठ है।[9]

---

१. एकारादयस्स्वराः सन्ध्यक्षराणीत्याख्यायन्ते स्वरद्वयसन्धिरूपत्वात्। तदभावात्तु समानरूपाः अकारादय इतरे स्वराः समानाक्षराणीति।

—तै० प्रा०, १.२ पर वै० अ०

२. समानं तुल्यं मानं परिमाणं परिच्छेदो वा एषां ते समानाः, परस्परविलक्षणाकांरं विभागा अपि। —हेम०, १-१.७, ८ पर लघुन्यास

३. वा० प्रा०, १.४४

४. अकारादय लृदन्ताः समानाः स्युरकश्च ते। —प्रयो० व्या०, १.८

५. दश दशावताराः। हरिना०, १.३

६. सन्ध्यक्षरमवर्णलेशः। गो० ब्रा०, १.२.१७

७. सन्ध्यक्षराण्यन्वर्था पूर्वाचार्य संज्ञा संधीयमानावयवत्वात्।

—म० भा०, १.१.२ पर प्रदीप

८. ए इति ऐ इति ओ इति औ इति सन्ध्यक्षराणि। ऋ० तं०, १.३
तु० (क) ऋ० प्रा०, १.२ एवं १३.३८ पर उ० भा०
(ख) वा० प्रा०, १.४५ (ग) च० अ०, ३.४०
(घ) एदैदौत्तु चत्वारोऽह्रस्वा सन्ध्यक्षराषि। षो० शि०, ३
(ङ) सन्ध्यक्षराण्यह्रस्वानि ते···। व० प्र० शि०, १२
(च) का० व्या०, १.१.८ (छ) सार० व्या०, १.१.२ (ज) हेम०, १.१.८
(झ) प्रयो० व्या०, १.१८ (ट) हरिना०, १.१३

९. अय सन्ध्यक्षराणि। ए इति ऐ ३ इति। ओ इति ओ ३ इति। ऐ इति ऐ ३ इति औ इति औ ३ इति। —वा० प्रा०, ८.८.१२

सन्ध्यक्षर के लिए सन्ध्य,[1] एच्[2] और चतुर्व्यूह[3] संज्ञाओं का भी प्रयोग मिलता है।

सन्ध्यक्षर का स्वरूप निर्धारण

ऋक्तन्त्र में सन्ध्यक्षरों का केवल निर्देश मात्र है, इनके स्वरूप का समीक्षात्मक विवेचन नहीं किया गया है। सन्ध्यक्षर शब्द की सुस्पष्ट अन्वर्थता के कारण सम्भवतः प्रातिशाख्यों में इसकी विशद व्याख्या नहीं की गई है, किन्तु उनके भाष्यकारों ने इस शब्द का स्पष्टीकरण किया है। दो स्वरों में सन्धि के फलस्वरूप इनका सन्ध्यक्षरत्व सर्वसम्मत है।[4] मात्रा की सन्धि के कारण तथा उच्चारण-स्थान की सन्धि के कारण भी इनका सन्ध्यक्षरत्व सिद्ध किया जाता है।

(अ) **सन्धि**—दो स्वरों की सन्धि के फलस्वरूप निष्पन्न होने से ये वर्ण सन्ध्यक्षर कहलाते हैं। यथा अ+इ=ए, अ+उ=ओ; अ+ए=ऐ तथा अ+ओ=औ। इस प्रकार इनका सन्ध्यक्षरत्व अच् सन्धि पर आधारित है।[5]

(ब) **मात्रा**—सन्धि के कारण सन्ध्यक्षरों में दो स्वरों की मात्राओं का योग हो जाता है।

इन सन्धिज स्वरों में पूर्ववर्ती आकार को अर्द्धमात्राकालिक और उत्तरवर्ती इकार और उकार को डेढ़मात्राकालिक कहा गया है।[6] अर्थात् आ(अर्द्धमात्रा)

---

१. ऋ० तं०, २.३.३; ३.४.४ ३.४.५, ८

२. पा० सू०, ६.१.७८; १.१.४८; ८;२.१०७
तु० सन्ध्यक्षराणि एचश्च। हरिना०, १.१३ पर टीका

३. ए ऐ ओ औ चतुर्व्यूहाः। हरिना०, १.१३

४. एकारादयःस्वरा सन्ध्यक्षराणीत्याख्यायन्ते स्वरद्वय सन्धिरूपत्वात्।
—तै० प्रा०, १.२ पर वै० आ०

५. अकारस्य इकारेण उकारेण एकारेण ओकारेण च सन्धौ यान्यक्षराणि निष्पद्यन्ते तानि तथोच्यन्ते। —ऋ० प्रा०, १.२, पर उ० भा०
तु···सन्धौ सति अक्षरं सन्ध्यक्षरम्। तथाहि अवर्णस्य इवर्णेन सह सन्धावेकारः एकारैकारभ्यामैकारः अवर्णस्य उवर्णेन ओकारः, ओकारौ-काराभ्यमौकारः। —हेम०, १.१.८ पर लघुन्यास।

६. (क) अकारार्द्धमैकारौकारयोरादिः। —तै० प्रा०, २.२६
(ख) इकारोध्यर्द्धः पूर्वस्य शेषः। —तै० प्रा०, २.२८
(ग) उकारस्य तुत्तरस्य। —तै० प्रा०, २.२९

+इ(डेढ़मात्रा)=ए। अ (अर्द्धमात्रा)+उ.(डेढ़ मात्रा)=ओ। अ (अर्द्धमात्रा)+ई (डेढ़मात्रा)=ऐ एवं अ (अर्द्धमात्रा)+ऊ(डेढ़मात्रा)=औ[1]। अतः दो स्वरों की इन मात्राओं के योग के कारण भी ए, ओ, ऐ और औ सन्ध्यक्षर कहलाते हैं।

अकार के साथ इकार और उकार के समाहार के अनन्तर ये पृथक्-पृथक् सुनाई नहीं पड़ते; अपितु इनका श्रवण एक वर्ण के ही समान होता है[2]। चतुरध्यायिका ने सन्ध्यक्षरों का विवेचन करते हुए ए, ओ को तो एकवर्णवत् माना है, परन्तु ऐ और औ को नहीं।[3]

(स) उच्चारण स्थान—इन वर्णों को सन्ध्यक्षर कहने का एक आधार इनकी द्विस्थानता भी है। यथा—ए, ऐ कण्ठ-तालु से उच्चरित होते हैं और, ओ, औ कण्ठ-ओष्ठ से। इन उच्चारण स्थानों की सन्धि के फलस्वरूप उच्चरित होने से ये वर्ण सन्ध्यक्षर कहे जाते हैं।[4]

इनका सन्ध्यक्षरत्व उपर्युक्त तर्कों पर आधारित है।

स्वरों को रेखाचित्र द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

---

१. सन्ध्यक्षरेषु सत्सु अकारः पूर्वमर्धं भवति, उकार उत्तरमर्धं प्रथमतृतीययोर्भवति। द्वितीयचतुर्थयोः उकार उत्तरमर्धं भवति। एवं शाकटायन आचार्यो मन्यते। अ इ=ए। अ उ=ओ। अ ई=ऐ। अ ऊ—औ। ऋ० प्रा०, १३.३९ पर उ० भा०

२. ऋ० प्रा०, १३.४०

३. च० अ०, १.४०, ४१

४. कण्ठतालुस्थानता कण्ठोष्ठस्थानता च लक्ष्यत एतेषु उभयेषु सन्ध्यक्षरेषु कण्ठतालव्ययोः कण्ठ्योष्ठ्योश्च। ए ओ ऐ औ इति।

ऋ०प्रा०, १३.३८ पर उ०भा०

तु० (क) वा०प्रा०, १.७३ (ख) पा०शि०, १८

(ग) षो०शि०, १२ (घ) ल०मा०शि० १६, १७

(ङ) कण्ठतालुर्कामिदेदैताम्। कण्ठोष्ठमुदोदौताम्। चा०व०सू०, ३, ४

(च) संन्धावुच्चारणीयान्यक्षराणि सन्ध्यक्षराणि। ए ऐ च कण्ठतालव्या ओ औ कण्ठोष्ठजौ स्मृतौ इत्युक्तेः।

—पयो०व्या०, १.१८, पर प्रभाप्रकाशिका

स्वर

समान	सन्ध्यक्षर
अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ॠ, ॠ, लृ, लॄ	ए, ऐ, ओ, औ

व्यञ्जन एवं उसका स्वरूप

ऋक्तन्त्र में व्यञ्जन वर्णों के अन्तर्गत स्पर्श, अन्तस्थ, ऊष्मन्, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुनासिक, यम और अनुस्वार की गणना की है।[1] व्यञ्जन शब्द अत्यन्त प्राचीन काल से इन्हीं वर्णों के लिये प्रयुक्त होता रहा है।[2]

वि पूर्वक 'अञ्ज्' धातु से ल्युट् प्रत्यय होने पर व्यञ्जन शब्द निष्पन्न होता है। अतः इसके दो तात्पर्य लिये जाते हैं—

(१) जो दूसरे से अर्थात् स्वर से व्यक्त हो।

(२) अथवा जो अर्थ को प्रकाशित करे। निर्वचन पर आधारित ये दोनों अर्थ व्यञ्जनों की अधोलिखित दोनों विशेषताओं को अभिव्यक्त करते हैं—

(अ) **स्वरानुगामित्व**—स्पष्ट उच्चारण के लिये स्वरों पर आश्रित होने के कारण व्यञ्जन सापेक्ष तथा स्वरानुगामी है।[3] उदात्तादि स्वर-धर्म भी

---

१. अथ व्यञ्जनानि। किति खिति गिति घिति ङिति कवर्गः। चिति छिति जिति झिति ञिति चवर्गः। टिति ठिति डिति ढिति णिति टवर्ग। तिति थिति दिति धिति निति तवर्गः।···इति स्पर्शाः। अथान्तस्थाः यिति रिति लिति विति अन्तस्थाः। अथोष्माणो हिति शिति षिति सिति योगवाहाः। अथायोगवाहा···अं आं इत्यनुस्वारौ। —ऋ०त०, १.२

तु० (क) ऋ०प्रा०, १.६ एवं इस पर उ०भा० (ख) तै०प्रा०, १.६
(ग) वा०प्रा०, १.४७, (घ) पा०शि०, ४,५ (ङ) का०व्या०, १.१६
(च) हेम०, १.१.१०, (छ) हरिना०, १.१.१७
(ज) प्रयो०व्या०, १.१६

२. मकारे व्यञ्जनमित्याहुः···। —गो०ब्रा०, १.१.२५
तु० व्यञ्जनैरेव···। —ऐ०आ०, २.२.४

३. परेण स्वरेण व्यञ्जन इति व्यञ्जनम्। —तै०प्रा०, १.६, पर वै०आ०

व्यञ्जनाश्रित नहीं, अपितु स्वराश्रित होते हैं।[1] उच्चारण तथा उदात्तादि स्वर-धर्म के लिए स्वर वर्णों पर आश्रित होने के कारण व्यञ्जनों को स्वरों का अनुगामी कहा गया है।[2] व्यञ्जनों के स्वराश्रयत्व को समझाने के लिए रंगस्थ-लगता नट-स्त्रियों का उदाहरण दिया गया है। विभिन्न पात्रों के द्वारा 'तुम किसकी हो ?' यह पूछे जाने पर वह प्रत्येक पात्र को उत्तर देती है कि मैं तुम्हारी हूँ। तुम्हारी हूँ।[3]

(ब) **अर्थ-प्रकाशकत्व**—यह व्यञ्जनों की दूसरी विशेषता है। 'अञ्ज्' धातु का अर्थ प्रकाशन भी है। अतः अर्थ को प्रकट करने के कारण भी इनका व्यञ्जनत्व है।[4] स्वर-अपरिवर्तित रहने पर भी व्यञ्जन-परिवर्तन से अर्थान्तर की प्राप्ति होती है। यूप, कूप, धूप इत्यादि पदों में स्वर-सादृश्य है, परन्तु

---

१. अक्षराश्रयाः। —ऋ०प्रा०, ३.२

तु० अन्तरेणापि व्यञ्जनमचः एवैते (उदात्तात्वादयः) गुणा लक्ष्यन्ते, न पुनरन्तरेणाचं व्यञ्जनस्योच्चारणमपि भवति। पा०सू० १.२.२९ के म०भा० पर कैयट एवं प्रदीप।

२. मणिवत्व्यञ्जनान्याहुः सूत्रवत्स्वर इष्यते।
व्यञ्जनान्यनुवर्तन्ते तेन व्यङ्ग्यं व्यञ्जनमुच्यते॥
दुर्बलस्य यथा राष्ट्रं हरते बलवान्नृपः।
दुर्बलं व्यञ्जनं तद्वत् हरते बलवान् स्वरः॥ —मा०शि०, ३० एवं १११

तु० (क) वृत्ति त्रयवार्तिक, ५ (ख) प्रयो०व्या०, १.१९ पर प्रभाप्रकाशिका

३. व्यञ्जनानि पुनर्नटभार्यावद् भवन्ति। तद् यथा नटानां स्त्रियो रङ्गं-गता यो यः पृच्छति कस्य यूयम् ? कस्य यूयम् ? इति तं तं तव तवेत्याहुः। एवं व्यञ्जनान्यपि यस्य यस्याचः कार्यमुच्यन्ते तं तं भजन्ते।

—पा०सू०, ६.१.२, पर म०भा०

तु० हरिना०, १.१.२, वृत्ति।

४. व्यञ्जयन्ति प्रकटान् कुर्वन्ति अर्थानिति व्यञ्जनानि।

—ऋ०प्रा० १.६, पर उ०भा०

तु० (क) अञ्जतेरञ्जनम्। अञ्जनं च प्रकाशनम्। अङ्क्ते क्षिणी इत्युच्यते। यत्तत् सितं चासितं चेतत् प्रकाशयति। तथाऽञ्जेर्व्यञ्जनम्। व्यञ्जनं च प्रकाशनम्।···अन्वर्थं खल्वपि निर्वचन्—'व्यज्यतेऽनेनेति व्यञ्जनम्, इति। —पा०सू०, ८.२.४८, पर म०भा०

(ख) हेम० १.१.१० पर लघुन्यास

(ग) प्रयो०व्या०, १.१९ पर प्रभाप्रकाशिका।

व्यञ्जन-वैभिन्य के कारण पद का अर्थ परिवर्तित हो जाता है।[1] ओदन के रस-प्रकाशक या उपकारक सूपादि के समान व्यञ्जन भी अर्थ-प्रकाशक या उपकारक होते हैं।[2]

हल् प्रत्याहार में व्यञ्जनों के परिगणित होने के कारण पाणिनि के सूत्रों में व्यञ्जन के लिये 'हल' शब्द का प्रयोग किया गया है।[3] हरिनामामृत व्याकरण[4] में व्यञ्जन के लिए विष्णुजन और मुग्धबोध व्याकरण[5] में इस शब्द का प्रयोग मिलता है।

व्यञ्जन-विभाजन

ऋक्तन्त्र में व्यञ्जनों को इस प्रकार विभाजित किया गया है—

(१) स्पर्श (२) अन्तस्थ (३) ऊष्मन् (४) विसर्जनीय (५) जिह्वामूलीय (६) उपध्मानीय (७) अनुनासिक (८) यम, एवं (९) अनुस्वार

व्यञ्जनों के उपर्युक्त प्रभेदों का वर्णन इस प्रकार है—

स्पर्श—ऋक्तन्त्र में पाँच वर्गों के समाहार के अन्तर्गत परिगणित पच्चीस व्यञ्जन वर्णों को स्पर्श कहा गया है। अत्यन्त प्राचीन काल से इन्हीं व्यञ्जन वर्णों के लिए स्पर्श शब्द प्रयुक्त होता रहा है।[6]

---

१. ···ननु कूपो यूपो इत्यादौ व्यञ्जनमेवार्थविशेषबोधकम् इति स्वरो व्यञ्जनाङ्ग" किं न स्यात्। —वा०प्रा० २.१.१, पर त्रि०

२. व्यञ्जयन्त एभिरिति व्यञ्जनानि, स्वराणामर्थप्रतिपादकोपकाराणि यथां सूपादीन्योदनस्येति। —का०व्या०, १.१.९, परपजी।
तु० हेम०, १.१.१० पर लघुन्यास

३. पा०सू०, १.२.१०; ३.१.८३, ३.७.२; इत्यादि।
तु०···व्यञ्जनानि हलश्च ते। प्रयो०व्या०, १.१९

४. कादयो विष्णुजनाः। हरिना०, १.१.१७

५. दान्ते मो सम्राजो हसेनुः। मुग्ध०व्या० ५३

६. किति खित गिति घिति ङिति कवर्गः। चिति छिति जिति झिति जिति चवर्गः। टिति ठिति डिति ढिति णिति टवर्गः। तिति थिति दिति धिति निति तवर्गः। पिति फिति बिति भिति मिति पवर्गः। इति स्पशाः। —ऋ०त० १२

तु० (क) अकारो वै सर्वा वाक्। सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना वह्वी नानारूपा भवति। —ऐ०आ०, २.३.६; ३.२.१

'स्पृश्' धातु से निष्पन्न होने से इसका शाब्दिक अर्थ है—संयोग, सम्पर्क, या सांनिध्य। ये वर्ण मुख के दो उच्चारणावयवों के स्पर्श के फलस्वरूप इस प्रकार उच्चरित होते हैं—पहले वहिर्गमन करती हुई वायु का उच्चारणावयवों द्वारा अवरोध होता है, तदनन्तर इन अवयवों के पृथक् होने पर अवरुद्ध वायु का पुनः वहिर्गमन होता है। इसलिए इन वर्णों को 'स्पर्श' कहते हैं।

इन वर्णों की स्पर्श संज्ञा का कारण यह भी बताया जाता है कि इनके उच्चारण में स्पृष्ट प्रयत्न है।[1] मुग्ध बोध व्याकरण में स्पर्शों को 'अप' संज्ञा से भी अभिहित किया गया है।[2]

इन वर्णों को कवर्ग चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग—इन पाँच वर्गों में बाँटा गया है।[3] वर्ग के प्रथम वर्ण[4] या प्रथम वर्ण के साथ उकार[5] जोड़कर भी इनका ज्ञापन किया जाता है। ऋक्तन्त्र में स्पर्श के लिए एकाक्षर संज्ञा 'र्ग'[6] और हरिनामामृतव्याकरण में 'विष्णुसर्ग'[7] संज्ञा का प्रयोग किया गया है।

(ख) सर्वे स्पर्शाः मृत्योरात्मनः। —छा०उ०, २.२२.३, एवं ३.२.५
(ग) ऋ०प्रा०, १.७ एवं इस पर उ०भा० (घ) तै०प्रा० १.७
(ङ) वा०प्रा० ८.१५.२० (च) च०अ०, १.६
(छ) ···स्पर्शानां पञ्चविंशतिः। पा०शि०, ४ (ज) व्या०शि०, ४
(झ) शै०शि०, ११ (ट) भा०पु० २.६.६ (ठ) अ०पु०, ३.३३६
(ड) पा०सू०, १.१.१० पर म०भा० (ढ) प्रयो०व्या० १.३१

१. स्पृष्टप्रयत्नजन्यत्वात् स्पर्शा इत्याख्यायन्ते। तै०प्रा०, १.७, पर वै०आ०

२. अपो समोर्ण ऋक् च। मुग्ध०व्या०, ६

३. ऋ०त०, १.२
तु० (क) ऋ०प्रा०, १.८.१२ (ख) तै०प्रा०, १.१०.२७
(ग) च०अ०, २.२९ (घ) व्या०शि०, २
(ङ) का०व्या०, १.१.१० (च) हेम०, ११.१२ (छ) सु०व्या० १.१३
(ज) प्रयो०व्या०, १.२०

४. प्रथमग्रहणे वर्गम्। वा०प्रा०, १.६.४, एवं इस पर उ०भा० एवं अनन्तभट्ट भाष्य।
तु० (क) क-च-ट-त पादीनां पञ्चकानां वर्गसंज्ञा प्रतीतैव। सु०व्या० १.१३
(ख) हेम०, १.१.१२ पर हैमप्रकाश।

५. कु चु टु तु पु वर्गास्तदुत्पञ्चवर्गसंग्रहः। षो०शि०, ५

६. स्पर्शोर्गस्थ। ऋ०त०, २.२.३

७. ते मान्ताः पञ्चपञ्च विष्णु सर्गाः। —हरिना०, १.१९

अन्तःस्थ—य, र, ल एवं व को सर्वसम्मत से अन्तःस्थ माना गया है। इनकी संख्या के विषय में आचार्यों में मतैक्य है।[1]

अन्तःस्थ शब्द अन्तः पूर्वक 'स्था' धातु से क्विप् प्रत्यय होने पर निष्पन्न होता है इनको अन्तःस्थ संज्ञा से अभिहित करने के अनेक विकल्प हैं—स्पर्श और उष्मन् वर्णों के मध्य अवस्थित होने से ये अन्तःस्थ कहे जाते हैं।[2] अथवा जिह्वा आदि करणों के अन्त से उच्चरित होने के कारण इन वर्णों को अन्तःस्थ संज्ञा से विभूषित किया गया है।[3] अथवा अपने उच्चारण-स्थान के अन्त में अवस्थित होने के कारण इन वर्णों को अन्तःस्थ कहा जाता है।[4] चतुरध्यायिका की व्याख्या में ह्विटनी यह मानते हैं कि इनको वर्णमाला के मध्य में अवस्थित होने से अन्तःस्थ कहा जाता है। ह्विटनी ने बोटलिंक और राय के इस मत का उल्लेख किया है[5] कि ये वर्ण वाक्य के अन्त में न आकर मध्य में आते हैं।

---

१. अन्थान्तस्थाः। यिति रिति लिति। वित्यन्तस्थाः। —ऋ०तं, १.२
तु० (क) नि०, २.१ (ख) ऋ०प्रा०, १.६
(ग) तै०प्रा०, १.८ (घ) वा०प्रा०, २१.२२
(ङ) च०अ०, १.३०, पर ह्विटनी (च) व्या०शि०, ४
(छ) चतस्रो यादयोऽन्तःस्था···। व०प्र०शि०, १४
(ज) पा०सू०, २.१.१० पर महाभाष्य (झ) का०व्या०, १.१.१४
(ट) हेम०, १.१.१५ (ठ) प्रयो०व्या०, १.१.२४
(ड) सु०व्या०, १.१.८

२. स्पर्शोष्मणामन्तर्मध्ये तिष्ठन्तीत्यन्तःस्थाः। —ऋ०प्रा०, १.६ पर उ०भा०

३. जिह्वामध्यप्रभृतीनां करणानामन्तैर्जन्यत्वाद्यरलवा अन्तस्था इत्याख्यायन्ते। —तै०प्रा०, १.८, पर वै०आ०

४. स्वस्य स्वस्य स्थानस्यान्ते तिष्ठन्तीत्यन्तस्था उच्यन्ते।
यकारस्तालव्यः, रेफो मूर्धन्यः, लकारो दन्त्यः वकारो दन्त्यौष्ठ्यः।
—का०व्या०, १.१.१४, पर पञ्जी।
तु० (क) यकारादीनां स्वस्थानानि ताल्वादीनि तदन्ते वसाने शेषावयवे तिष्ठन्तीत्येतदेवाह। —का०व्या०, १.१.१४, पर कविराज।
(ख) प्रयो०व्या०, १.१.२४, पर प्रभाप्रकाशिका।

५. The name by which the semi-vowels y, r, l, v are called-namely antahstha, 'Intermedicate. Standing between' is generally explained as indicating that the sound in question, in the arrangement of alphabet, stand between the mutes and the spirants. The Botlingk-Roth Lexicon, however (Sub-verbo) defines it to mean 'occuring only in the interior of a sentence, never at its end.'
Whitney on Caturadhyāyikā. 1.30

अतः इनको अन्तःस्थ कहा जाता है। यह मत समीचीन नहीं है, क्योंकि उपर्युक्त लक्षण अन्तःस्थ के साथ सोष्म वर्णों पर भी लागू होता है। ये वर्ण वाक्य के आदि में भी आते हैं तथा लकार भी इस नियम के अन्तर्गत नहीं आता।

इन वर्णों को अन्तःस्थ कहने का एक संभाव्य कारण यह भी हो सकता है कि इ, उ, ऋ और लृ से विशेषतया सम्बद्ध होने के कारण ये वर्ण स्वर और व्यञ्जन दोनों के गुणों को धारणा करते हैं। अतः इनको अन्तःस्थ कहा जाता है।

अन्तःस्थ के लिए ऋक्तन्त्र में एकाक्षरात्मक संज्ञा 'स्था' का प्रयोग किया गया है।[1] वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में अन्तःस्थ वर्णों के लिए 'घि' शब्द प्रयुक्त है।[2] पाणिनि ने इनको 'यण' प्रत्याहार में परिगणित किया है।[3] हरिनामामृत व्याकरण में इनके लिए 'हरिमित्र' और 'यल' अभिधान मिलते हैं।[4]

ऊष्मन्— ऋक्तन्त्र में ह, श, ष एवं स वर्णों की गणना 'ऊष्मन' संज्ञक वर्णों के अन्तर्गत की गई है।[5] ऊष्म वर्णों की संख्या के विषय में पर्याप्त मतभेद है। ऋक्प्रातिशाख्य में उपर्युक्त वर्णों के अतिरिक्त विसर्जनीय (अः) जिह्वामूलीय (क) उपध्मानीय (प) तथा अनुस्वार की भी गणना ऊष्म वर्णों में की गई है।[6] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के अनुसार विसर्जनीय और अनुस्वार को छोड़कर यह संख्या छः मानी गई है।[7] हेमचन्द्र ने हकार का परिगणन ऊष्म संज्ञक वर्णों में न कर यह संख्या सात माना है।[8]

---

१. रणमपि स्थायाम्। —ऋ०तं०, ४.४.११
२. घिशेषः। —वा०प्रा०, १.५३
३. प्रा०सू०, ६.१.७७
४. यरलवा हरिमित्राणि। —हरिना०, १.२७, तथा उस पर टीका
तु० अन्तःस्था यलश्च। —हरिना०, १.२७ पद वृत्ति
५. अधोष्माणो हिति शिति षिति सिति···। —ऋ०तं० १.२
तु० (क) वा०प्रा०, ८.१६, १७ (ख) व्या०शि०, ४
(ग) अ०पु०, ३.३३६ (घ) का०व्या०, १.१.५
(ङ) सं०सा०व्या०, १.८३ (च) प्रयो०व्या०, १.२७
(छ) हरिना० १.२८
६. उत्तरे ष्टावृष्माणः। —ऋ०प्रा०, १.१०
७. परे षड्ष्माणः। —तै०प्रा०, १.९
तु० (क) च०अ०, १.३१
(ख) क श ष स प हाः षडूष्माणः। आपि०शि०, ९
८. अं अः क प श ष साः शिट्। —हेम०, १.११६

इन वर्णों के उच्चारण में उष्ण वायु का प्राधान्य होने के कारण अथवा ऊष्मा नामक बाह्यप्रयत्न के योग से उच्चरित होने के कारण ये ऊष्मन् कहे जाते हैं।[१] इनके उच्चारण में वायु-मार्ग संकरा हो जाता है जिससे वायु उच्चारणावयवों का घर्षण करती हुई निकलती है।[२] अतएव इन ध्वनियों को संघर्षी ध्वनि (Fricatives or Hissing Sounds) कहा जाता है।

कातन्त्र व्याकरण में उष्मन् के लिए 'शिट्' संज्ञा का प्रयोग किया गया है।[३] संक्षिप्त सार व्याकरण में इन वर्णों को 'शादि'[४] और हरिनामामृतव्याकरण में 'हरिगोत्र' तथा 'शल'[५] नामों से अभिहित किया गया है।

अयोगवाह

ऋक्तन्त्र में विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय नासिक्य, यम और अनुस्वार की गणना अयोगवाह के अन्तर्गत की गई है।[६] पाणिनि शिक्षा में यमों की गणना अयोगवाह में नहीं की गई है।[७] कातन्त्र व्याकरण में उपर्युक्त

---

१. ऊष्मा वायुस्तत्प्रधानवर्णा ऊष्माणः। —ऋ०प्रा०, १.१०, पर उ०भा०
तु० (क) तै०प्रा०, १.९, पर वै०आ०
(ख) ऊष्मधर्मयोगाद् ऊष्माण इहोच्यत्ते। का०व्या०, १.५ पर दुर्ग

२. ऊष्मधर्मयोगादिति। उच्चारणे यो मुखं तपति स एवोष्मधर्मः।
का०व्या०, १.१.५ पञ्जी

३. शिडिति शादयः। —का०व्या०, ४.४
तु० शिट् संज्ञकाः श ष स हा एतएवोष्मसंज्ञकाः। —प्रयो० व्या० १.२७

४. शादि इत्यनेन श ष स हानां ग्रह्णम्। —सं०सा०व्या०, ८३, पर वृत्ति

५. (क) श षसहाः हरिगोत्राणि। —हरिना०, १.२८
(ख) ऊष्माणः शिटः शलश्च। —हरिना०, १.२८, पर वृत्ति

६. अथायोगवाहः। अः इति विसर्जनीयः। ≍क इति जिह्वामूलीयः। ≍प इत्युपध्मानीयः। हुमिति नासिक्यः। अधयमाः। कुँ इति सुँइति गुँ इति घुँ इति यमाः। अनन्त्यान्त्यसंयोगे मध्ये यमः पूर्वगुणः। अथानुस्वारौ। अं आं इत्यनुस्वारौ। —ऋ०तं० १.२
तु० (क) अथायोगवाहाः। अः इति विसर्जनीयः। ≍क इति जिह्वामूलीयः। ≍प इत्युपध्मानीयः। अं इत्यनुस्वारः। हुं इति नासिक्यः। कुँ खुँ गुँ घुँ इति यमाः। वा०प्रा०, ८.२५९.३१
(ख) व०प्र०शि०, १५, १६
(ग) महाभाष्य, कीलहार्न संस्करण, प्रथम भाग, पृ० २८

७. उपध्मानीय उष्मा च जिह्वामूलीयनासिके।
अयोगवाहाः विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः॥ पा०शि०, २२

वर्णों को अयोगवाह न कहकर योगवाह कहा गया है। उसके व्याख्याकारों का मत है कि प्रत्याहारवादी लोग इसको अयोगवाह कहते है।[1] परन्तु ऋक्तन्त्र में समस्त स्वर, स्पर्श, अन्तःस्थ और ऊष्म वर्णों को योगवाह कहा गया है।[2] ऋक्तन्त्र में स्वीकृत अयोगवाह वर्णों के लिए वर्णरत्नप्रदीपशिक्षा में 'संयोगवाह' संज्ञा का प्रयोग किया गया है।[3]

उपर्युक्त वर्णों को आयोगवाह कहने के ये दो कारण बताए जाते हैं—

(अ) **पराश्रितत्व**—इन ध्वनियों का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। ये स्वर और व्यञ्जनों पर आश्रित होकर उच्चरित होती हैं। अतएव इनको पराश्रित और पूर्ववर्ती स्वरों पर आधृत कहा गया है। अकारादि वर्णों के योग से अवस्थित होने के कारण इनको आयोगवाह कहा जाता है[4]।

(व) **अनुपदिष्टत्व**—पतञ्जलि और उनके अनुयायियों के मतानुसार यद्यपि अयोगवाह वर्णों का उपदेश या कथन प्रत्याहार में नहीं किया गया है, तथापि इनका विवेचन किया जाता है तथा ये शास्त्र-गृहीत हैं। प्रत्याहार-

---

१. वर्ण-समाम्नाये क्रमपरिपठितयोरनुस्वार-विसर्जनीययोः व्यस्तसंज्ञाविधानम् आभ्यां सह स्वर व्यञ्जनयोरभिन्नसन्निकृष्टत्वाविर्भावार्थम्। एवं सत्यमी इह योगवाहा एवोच्यन्ते। प्रत्याहारवादिनः पुनराहु.—अयोगवाहा इति। कथं पुनरयोगवाहाः ? अयुक्ता वहन्ति अनुपदिष्टाश्च श्रुयन्ते।

—का०व्या०, १.१.६, पर दुर्ग

तु० (क) का०पा०, १.८६. पर श्रीपतिदत्त व्याख्या।

(ख) का०व्या०, १.१.६, पर कविराज

२. ऋ०तं०, १.२

३. अनुस्वारो विसर्गश्च नासिक्योऽच यमस्तथा।
जिह्वामूलमुपधा च नवैते स्युः पराश्रयाः॥
संयोगवाह एवैते निजस्वरविवर्जिताः।
पूर्वस्याङ्गं भवन्त्येते स्वरा एतेषु पूर्ववत्॥ व०प्र०शि०, १५.६

४. अकारादिना वर्णसमाम्नायेन सहिताः सन्तः एते वहन्ति आत्मलाभं प्राप्नुवन्ति अयोगवाहाः। वा०प्रा०, ८.१८, पर उ०भा०

तु० (क) का०व्या०, १.१.६, पर दुर्ग एवं कविराज।

(ख) का०प०, १ ८६

सम्बन्ध-शून्य होने पर भी इनका श्रवण वर्ण-समाम्नाय में होता है[1]। ऋक्तन्त्र में स्वीकृत अयोगवाह वर्णों का विवरण इस प्रकार है—

विसर्जनीय—अः को विसर्जनीय कहा गया है[2]। सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में विसर्जनीय संज्ञा का ही व्यवहार हुआ है। विसर्जनीय शब्द वि उपसर्गपूर्वक 'सृज्' धातु से अनीयर प्रत्यय होने पर निष्पन्न होता है। वायु के विसर्जन के फलस्वरूप उत्पन्न होने के कारण इसे विसर्जनीय कहा जाता है[3]।

विसर्ग का स्वरूप ऊर्ध्व तथा अधः अवस्थित माना गया है[4]। एक स्थल पर विसर्ग का स्वरूप छोटे बछड़े के श्रृंग-युग्म, कुमारी-स्तन और कृष्ण सर्प के चक्षु युगल के समान बताया गया है[5]। यह असंगत प्रतीत होता है, क्योंकि उपर्युक्त युग्म एक दूसरे के सामने (. .) है। ऊपर नीचे (:) नहीं।

---

१. इमे योगवाहा न क्वचिदुपदिश्यन्ते, श्रूयन्ते च। तेषां कार्यार्थं उपदेशः कर्त्तव्यः···। यदयुक्ता वहन्ति अनुपदिष्टाश्च श्रूयन्ते।
—म० भा०, २.१.१, तथा इस पर कैयट एवं प्रदीप।

तु० (क) एतच्चाक्षरसमाम्नाये युक्ताः सन्तो वहन्ति प्रयोगं निर्वाहयन्तीत्ययोगवाहशब्दस्य व्युत्पत्तिर्दर्शिता। —म० भा०, २.१.१, पर उद्योत।

(ख) अविद्यमानः योगः प्रत्याहारेषु संबंधः येषां ते अयोगाः; अनुपदिष्टत्वाद् उपदिष्टैरगृहीतत्वाच्च प्रत्याहारसंबंधशून्या इत्यर्थः। वाहयन्ति निर्वाहयन्ति प्रयोगमिति वाहाः। अयोगाश्च ते वाहाश्च इति कर्मधारयः। अनुपदिष्टत्वे उपदिष्टैरगृहीतत्वे च सति श्रूयमाणा इत्यर्थः। —भट्टोजि दीक्षित, शब्दकौस्तुभ, पृ०, २२५

२. अःइति विसर्जनीयः। —ऋ० तं०, १.२

तु० (क) प्रऋ० प्रा०, १.२४, ६७, २.२४, (ख) ऋ० प्रा० वि० व०-६ (ग) तै० प्रा०, १.१२.२-४६, ४८ (घ) वा० प्रा०, ८.२२ (ङ) च० अ०, १.५, २.२५, (च) पा० शि०, ५, (छ) व० प्र० शि०, १५ (ज) प० सू०, ८.३,१५, (झ) का० व्या०, १.४६, (ट) सू० व्या० १.३-१, (ठ) हेम०, १.१.९ (ड) अ० पु० ३.३३६

३. वायोविसर्जनेन जन्यत्वात्। —तै० प्रा०, १.१८ पर वै० आ०

तु० Monier Williams, M. Sanskrit-English Dictionary, Visarjaniya. p. 100

४. ऊर्ध्वाधःस्थं बिन्दुयुग्मं विसर्ग इति गीयते।
—प्रयो० व्या०, १.२९ तु०, हरिना०, १.६ पर वृत्ति।

५. श्रृंगवद् बालवत्सस्य कुमार्याः स्तनयुग्मवत्।
नेत्रवत् कृष्णसर्पस्य स विसर्ग इति स्मृतः॥—का० व्या०, १.१६ पर दुर्ग

आश्वलायन गृह्यसूत्र में विसर्जनीय के लिए अभिनिष्ठान शब्द मिलता है[1]। पाणिनि के अनुसार अभिनिष्ठान तथा अभिनिस्तान—ये दोनों शब्द मिलते हैं। इन दोनों का अर्थ विसर्जनीय है। यह काशिका से स्पष्ट है[2]। विसर्जनीय के लिए विसृष्ट शब्द का प्रयोग भी कहीं-कहीं हुआ है[3]। मुग्धबोध व्याकरण में विसर्जनीय की एकाक्षर संज्ञा वि मिलती है[4]। तथा हरिनामामृत व्याकरण में विसर्जनीय को विष्णुसर्ग कहा गया है[5]।

जिह्वामूलीय—जिह्वामूल से उच्चरित होने के कारण ⌣क को जिह्वा-मूलीय कहा गया है[6]। जो तत्रभवः अर्थ में छः प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है[7]। कहीं-कहीं इसके साथ ⌣ख भी जिह्वामूलीय के रूप में परिगणित है[8]। ⌣क के लिए मू संज्ञा भी व्यवहृत हुई है[9]। इसका स्वरूप वज्राकृति एवं उदूखला-कृति बताया गया है[10]।

---

१. आ० गृ० सू०, १.१३.५
२. पा० सू०, ८.३.८६ एवं इस पर काशिका
३. रसकारयोर्विसृष्टः। —का० व्या०, ४.४.२
   तु० (क) प्रयो० व्या०, १.२९ पर वृत्ति एवं प्रभाप्रकाशिका
   (ख) हरिना० १.१६ पर वृत्ति
४. अं० अः नुवी। —मुग्ध० व्या०, १.१९
५. अः इति विष्णुसर्गः। —हरिना०, १.१६ पर इसकी टीका
६. ⌣क इति जिह्वामूलीयः। —ऋ०तं०, १.२
   तु० (क) ऋ०प्रा०वि०व०, १० (ख) वा०प्रा०, ८.२७
   (ग) पा०शि०, ५. (घ) व्या०शि०, ४
   (ङ) व०प्र०शि०-१५ (च) मा०शि०-४१०
   (छ) का०व्या०, १.१.१७
७. जिह्वामूलांगगुलेश्छः। —पा०सू०, ८.३.६२
८. ⌣कखयोर्जिह्वामूलीयः······। —सं०सा०व्या०, १.२१७ पर वृत्ति
   तु० (क) हेम०, १.१.१६. (ख) शिटो नादिकखोर्जिह्वामूलीयः स्याद् विभाषया। —प्रयो०व्या०, १.१२३
९. ⌣क पौ मुन्यौ। —मुग्ध०व्या०, २०
१०. ⌣क इति वज्राकृतिर्वर्णो जिह्वामूलीयसञ्ज्ञो भवति। —का०व्या०, १.१.१७ वृत्ति
   तु० उदूखलाकृतिर्वज्राकृतिर्वायं निगद्यते। —प्रयो०व्या०, १.१२३ वृत्ति

उपध्मानीय—‿प को उपध्मानीय कहा गया है। ‿प का विवेचन व्याकरण ग्रंथों में सर्वत्र प्राप्त है[१]। परन्तु उसके लिए उपध्मानीय संज्ञा का प्रयोग कहीं-कहीं नहीं हुआ है। कतिपय स्थलों पर ‿प के साथ-साथ ‿फ को भी उपध्मानीय कहा गया है[२]। प के लिए नी संज्ञा का भी व्यवहार प्राप्त होता है[३]। उपध्मानीय को गजकुम्भाकृति या अशीति अङ्क के समान माना गया है[४]।

उपध्मान से उत्पन्न होने के कारण प उपध्मानीय कहलाता है। उपध्मान का अर्थ है—फूंक मारना। ‿का उच्चारण करते समय अग्नि-जलाने के लिए फूंक मारने के समान या सर्प श्वास के सदृश वायु को एक साथ झटके से निकाला जाता है[५]। उपध्मानीय शब्द का निर्वचन अनेक प्रकार से किया जाता है। उपपूर्वक 'ध्मा' धातु से अनीयर प्रत्यय अथवा 'तत्रभवः' इस अर्थ में ईय प्रत्यय करने पर निष्पन्न माना गया है। सुपद्म व्याकरण की वृत्ति में इसे ध्वन् धातु का ईय प्रत्ययान्त रूप माना है और इसे उपध्मानीय कहा है[७]।

---

१. ‿प इत्युपध्मानीयः।　　　　　　　　　　　—ऋ०तं०, १.२
　तु० (क) उपध्मानीयः—प; इति।　　　—ऋ०प्रा०, १.४७ पर उ०भा०
　(ख) तै०प्रा०,१.१८. १४.१५　　(ग) वा०प्रा०, ८.२८. १.४१. ३-१२ ४.१०२.　　(घ) पा०शि०, ५ एवं इसपर पंञ्जिका भाष्य
　(ङ) व०प्र०शि०,१५.　　(च) मा०शि०, १०.
　(छ) सं०सा०व्या०,१.२१७　　(ज) का०व्या०, १.१८
　(छ) हेम०,१.११६.

२. (क) कुप्वोः ‿क ‿पौ च।　　　　　　—पा०सू०, ८.३.३७
　(ख) पफयोरुपध्मानीयः।　　　　　—सं०सा०व्या०, १.३७८
　(ग) शिटोऽनादि पफोर्वास्यादुपध्मानीयसंज्ञकः।　—प्रयो०व्य०, १.१२४

३. (क) ‿क ‿पौ मुन्यौ।　　　　　　　— मुग्ध०व्या०, २०
　(ख) नुवी पूर्वेण सम्बद्धा मुन्यौ तु परगामिनौ।
　　　　　　　　　　　　　　　—मुग्ध०व्या०, २०. पर दुर्ग

४. स चाशीत्यङ्कवत् गजकुम्भवद् वा।　　—प्रयो०व्या०, १.१२४. वृत्ति

५. उपध्मानीयः उपध्मानेन जन्यत्वात।　　—तै०प्रा० १.१८. पर वै०आ०

६. उपपूर्वात् ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः इति धातोः कमण्यनीय प्रत्ययः उपसमीपे ध्मायते शब्द्यते इति।　　—का०व्या०,१.१.१८ पर पञ्जी

७. उप आ पूर्वकध्मावातोष्टनन्तस्य रूपम्। उपध्माने भवः गाहादित्वात् (५.३.१५) ईयः)। उपध्मानीय इति वकारसंयोगे यदि तदा ध्वनधातोर्धणन्तादीयः।　　—सु०व्या० १.१.१५ वृत्ति

जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के विषय में विशेष विचार अपेक्षित है। विसर्ग के बाद क हो तो उसे जिह्वामूलीय और यदि प हो तो उसे उपध्मानीय कहा जाता है। विसर्जनीय के साथ सम्बद्ध होने के कारण इनकी गणना वर्णों में की गयी है और इसी कारण इन्हें व्यञ्जन भी कहा जाता है[1]। आग्निवेश्य और वाल्मीकि का मत है कि यह परिवर्तन विसर्जनीय के कारण नहीं होता,[2] क्योंकि 'यः कामयेत'[3] और 'अग्निः पशुः आसीत्'[4] में क्रमशः क और प जिह्वामूलीय और उपध्मानीय नहीं हुए हैं। प्लाक्षि और प्लाक्षायण को उपर्युक्त मत मान्य नहीं है। उनके मत में विसर्ग के बाद यदि क और प हो तो वह जिह्वामूलीय और उपध्मानीय हो जाता है[5]। पाणिनि का मत है कि कवर्ग के क ख और प वर्ग के प फ परे रहते विसर्जनीय को क्रमशः जिह्वामूलीय और उपध्मानीय आदेश होते हैं, विकल्प से विसर्जनीय भी होता है[6]। उपर्युक्त परिस्थिति विशेष में जिह्वामूलीय और उपध्मानीय विसर्जनीय के उच्चारण की विशेषता के सूचक हैं। मराठी में उपर्युक्त उच्चारण-वैशिष्ट्य आज भी सुरक्षित है।

अनुनासिक—ऋक्तन्त्र में हुँ को नासिक्य वर्ण माना गया है और नासिक्य के अर्थ में 'अनुनासिक' संज्ञा व्यवहृत हुई है[7]। नासिक्य का शाब्दिक अर्थ है—

---

१. ककारपकारौ चानयोः परदेशस्थावुच्चार्येते। सर्वत्र परसम्बद्धावेवैतौ भवतो न स्वतन्त्रौ......। रेफादेशत्वात् कखपफसन्निधावेव तयोः प्रयोगादल्पविषयत्वम्......। रेफस्य वर्णत्वात् तयोश्च रेफादेशत्वाद वर्णत्वसिद्धि ......रेस्थानित्वेन व्यञ्जनसंज्ञापीति न विरोधः।

—हेम०, १.१.१६. पर वृत्ति।

२. कपवर्गश्चाग्निवेश्यवाल्मीक्योः। —तै०प्रा०, ९.४

३. तै०स०,२.१.२

४. वही, ४.७.२६

५. न प्लाक्षिप्लाक्षायणयोः। —तै०प्रा०, ९.४

६. कुप्वोः ⌣क ⌣पौ च। —पा०सू०, ८.३.३७

७. (१) हुं इत्यनुनासिकः। —ऋ०त० १.२

(२) नासिकायां यमानुस्वारनासिक्याः। —ऋ०तं० २.२.२

तु० (क) ऋ०प्रा०,१.४८ (ख) सानुनासिक्यो हकारः स्यादित्यर्थः।

—तै०प्रा०, २१.१४ पर त्रि०

(ग) वा०प्रा०,८.२३ (घ) च०अ०, १.१००

नासिका से सम्बन्धित । नासिक्य शब्द नासिका से उच्चरित होने वाले अन्य वर्णों के लिए भी प्रयुक्त हुआ है[1] ।

यम—ऋक्तन्त्र में कुँ खुँ गुँ घुँ को 'यम' कहा गया है। इसकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है—यदि अननुनासिक स्पर्श के बाद अनुनासिक स्पर्श हो तो दोनों के मध्य क्रम से यम हो जाता है। अर्थात् यदि वर्ग का पञ्चम वर्ण बाद में हो और वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण पूर्ववर्तीय हो तो वे पूर्ववर्ती वर्ण अपने-अपने वर्ग के यम को प्राप्त हो जाते हैं[2] । यम का सम्बन्ध उच्चरण से है। ऋक्तन्त्र में इसका विशेष विवरण नहीं दिया गया है। ऋक्प्रातिशाख्य और वाजसनेयि-प्रातिशाख्य के भाष्यों में उवट ने इसको उदाहरण देकर समझाने का प्रयत्न किया है। इसमें दो ध्वनियों का उच्चारण प्राप्त होता है तथा द्वितीय ध्वनि को ही यम कहा जाता है। उदाहरण स्वरूप उन्होंने 'पलिक्नी' 'अग्मन्', 'जघ्नथुः', 'परिङ्मानम्' और 'अप्नस्वतीम्' पदों को लिया है। उपर्युक्त पदों में वर्ग के प्रथम, तृतीय, चतुर्थ, तृतीय और प्रथम वर्णों के बाद क्रमशः वर्ग के पञ्चम वर्ण न, म और प हैं। अतः पूर्ववर्ती वर्णों के दो उच्चारण प्राप्त होते हैं, जिसमें अन्तिम को 'यम' कहते हैं।[3]

---

१. ऋ०तं० २.२.२
तु० (क) ऋ०प्रा०,१.४७ ६.३६ १३.३७ १४.३२
(ख) तै०प्रा०, १.१८ २.४६, ५० २१.८
(ग) वा०प्रा०, १.७४,८०. ८.२३,३५ (घ) च०अ०, १-२६.
(ङ) दण्डी, काव्यादर्श, ३.११४

२. अथ यमाः। कुं इति खुं इति गुं इति घुं इति यमाः। अनत्यान्त्यसंयोगे मध्ये यमः पूर्वगुणः। —ऋ०तं०, १.२
तु० (क) ऋ०प्रा, १.५०. ६.२९. (ख) तै०प्रा०, २१,१२.१३ एवं इसपर त्रि० (ग) वा०प्रा०, ८.२४.
(घ) च०अ०, १.१९. (ङ) पा०शि०, ४.
(च) स्पर्शानां पञ्चमयोगे चत्वारश्च यमाः स्मृताः।
—व०प्र०शि०-१४.
(छ) अनन्त्यश्च भवेत पूर्वोऽन्यश्च परतो यदि। तत्र मध्ये यमः तिष्ठेत् सवर्णः पूर्ववर्णयोः ।। —ना०शि०, २.१.८

३. 'पलिक्नीः' इत्यत्र ककाररूपो यमो वेदितव्यः। 'अग्मन्' इति गकाररूपः। 'जघ्नथुः' इति चकाररूपः। 'परिङ्मानम्' इति जकाररूपः। अप्नस्वतीम् इति पकाररूपः। —ऋ०प्रा०, ६.३४ पर उ०भा०

वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में उवट ने 'रेक्म' पद का उदाहरण दिया है, जिसमें प्रथम वर्ण क के वाद अन्तिम वर्ण म है। अतः इस पद का उच्चारण 'रेक्म' प्राप्त होता है। इसमें द्वितीय ककार यम संज्ञक है[1]।

यम के स्वरूप के विषय में दो मत प्रचलित हैं—

(१) शौनक के मत में यम अनुनासिकीकरण मात्र है। क्योंकि अननुनासिक के वाद अनुनासिक स्पर्श हो तो अननुनासिक (वर्ग के प्रथम चार वर्ण) यम को प्राप्त हो जाते है। इससे प्रतीत होता है कि पूर्ववर्ती वर्ण अनुनासिकत्व की प्राप्ति कर लेता हैं[2]।

(२) अन्य आचार्यों के अनुसार 'यम' आगम माना गया है। अतः उनके मत में यम के कारण प्राप्त नासिक्य वर्ण आगम स्वरूप होता है।[3] ऋक्तन्त्र में इसी मत को स्वीकार किया गया है।

यमों की संख्या—ऋक्तन्त्र में यम चार ही माने गये हैं। प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ स्पर्शों की इकाई मानकर यमों की संख्या चार ही होती है।[4]

---

१. 'रेक्म' इत्यत्र द्वितीयस्य ककारस्य यम इत्ययं कार्यक्रमः क्रियते।
—वा०प्रा०; ४.१६३ पर उ०भा०

२. ऋ०प्रा०, ६.२९

३. ऋ०तं०, १.२०

तु० (क) आनुपूर्व्याद् यथाक्रमं नासिक्या आगमा भवन्ति। प्रथमस्पर्शात् प्रथमनासिक्यः द्वितीयात्द्वितीयः एवं अन्यत्रापि।
—तै०प्रा०; २१.१२. पर त्रि०

(ख) वा०प्रा०, ८.२४

(ग) इति नारदौदव्रजिर्मतेन यमो वर्गागम इति विधीयते। अन्ये तु यमं वर्णापत्तिंमन्यन्ते। —पा०शि०, ४ पर पञ्जिका।

४. ऋ०त०, १-२.

तु० (क) वा० प्रा०, ८ २४ (ख) तै० प्रा०, २१.१२

(ग) पा० शि०, ४ (घ) ना०शि०, २.१.८

(ङ) व०प्र०शि, १४ (च) गौ०शि०, ८

(छ) शै०शि०-११

यद्यपि ऋग्वेदियों के अनुसार बीस यम होते हैं, परन्तु वे स्वरूपतः चार ही हैं।[1]

अनुस्वार—ऋक्तन्त्र में अं आं का परिगणन अनुस्वार वर्णों में किया गया है। अनुस्वार के इन दोनों रूपों को स्वीकार करने का आशय है—ह्रस्व और दीर्घ अनुस्वरों को मान्यता प्रदान करना।[2] कहीं-कहीं प्लुत अनुस्वार को भी मान्यता प्राप्त है।[3] अधिकांश आचार्यों ने अं की ही गणना अनुस्वार में की है।[4]

अनुस्वार शब्द अनु पूर्वक 'स्व्र' धातु से घञ् प्रत्यय होने पर निष्पन्न होता है। वर्ण अर्थात् स्वर के पश्चात् उच्चरित होने के कारण इसे अनुस्वार कहा जाता है।[5] इसको इस प्रकार भी समझाया गया है कि इसका परवर्ती आधा

---

१. (क) एवं विंशतिर्यमाः वह्वृचानां भवन्ति……स्वरूपेश्चत्वार एव।
—ऋ०प्रा०, १.५०. पर उ०भा०

(ख) विशंतित्वात् स्थानिनामादेशानामपि यमानां विंशतित्वप्रसङ्गः। स मा भूत् चतुणामेव। —ऋ०प्रा०, ६.२६ पर उ०भा०

२. अथानुस्वारौ। अं आं इत्यनुस्वरौ। ऋ०तं०-१-२.

तु०(क) तै०प्रा०, १.३४. (ख) वा०प्रा०, ४.१४८, १४९

३. अनुस्वाराश्च कर्तव्या ह्रस्वदीर्घप्लुतास्त्रयः। —मा०शि०, ८.११

तु० ऋ०प्रा०, १.५ पर उ०भा०

४. अः क प अं। ऋ०प्रा०वि०व०, ९

तु० (क) वा०प्रा०-८-२१ (ख) पा०शि-४ एवं इस पर पञ्जिका
(ग) व०प्र०शि०-१५ (घ) मा०शि०-८-११
(ङ) अ०पु०, ३.३३६ (च) पा०सू०, ८.३.२३
(छ) का०व्या०, १.१.१९ (झ) हेम०, १.१.९
(ट) मुग्ध०व्या०,१९ (ठ) हरिना०,१-१४
(ड) प्रयो०व्या०, १-२८ (ढ) जै०व्या०, ५.४.११
(ण) सु०व्या०, १.१.१४ (त) क०व्या०, २.२९

५. (क) अनु पश्चात् वर्गान्तिरं उच्चार्यते……अनुस्वारः।
—प्रयो० व्या० १-२८ पर प्रभाप्रकाशिका

(ख) स्वरमनुभवतीत्युनुस्वारः। पा०शि०-४. पर पञ्जिका

भाग स्वर के समान उच्चारित होता है।[1] अथवा पूर्ववर्ती वर्ण के साथ इसका संश्लिष्ट उच्चारण होता है।[2] अतः इसे अनुस्वार कहा जाता है।

अनुस्वार के स्वरूप के विषय में ध्वनि वैज्ञानिकों के विविध मत हैं, जिनमें ये दो प्रमुख हैं—

(अ) **स्वर-व्यञ्जनात्मक**—अनुस्वार के सम्बन्ध में यह शंका थी कि इसे स्वर माना जाय या व्यञ्जन। प्रातिशाख्य में निर्देश है 'अनुस्वारो व्यञ्जनं वा स्वरो वा'[3] इस प्रसंग में निरुक्त के प्रमाण पर 'वा' को समुच्चयार्थक[4] मानकर अनुस्वार को स्वर-व्यञ्जनात्मक मान लिया गया। उवट ने इसके गुणों को देखकर इसे मिश्र स्वर ही माना, क्योंकि ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त एवं अनुदात्त की प्राप्ति—ये अनुस्वार के स्वर गुण हैं तथा अर्ध-मात्राकालिकता एवं संयोगादि-प्राप्ति इसे व्यञ्जन के गुणों से सम्वद्ध करते हैं।[5] परन्तु अनुस्वार की स्वर-व्यञ्जनात्मकता अन्य आचार्यों को मान्य नहीं हुई और इसे व्यञ्जन ही माना।

(ब) **व्यञ्जनात्मक**—अनेक तर्कों के आधार पर अनुस्वार को अनेक आचार्यों ने व्यञ्जन ही माना है (१) प्रथमतः इसका उच्चारण अर्ध गकार के सदृश होता है।[6] गकार और त्वम् आदि पदों के मकार का उच्चारण भी

१. अनुस्वर्यते पश्चादर्थे स्वरवदुच्चार्यत इत्यनुस्वारः। याजुषभूषण.

२. (क) अनुस्वर्यते संलीनं शब्दयते इत्यनुस्वारः।—का०व्या०, १.१.१९ पर दुर्ग

(ख) अनु शब्दः संश्लेषे पूर्ववर्णेन संश्लिष्टर्यथा स्यात् तथा उच्चार्यते। का०व्या०,११.१९. पर कविराज.

३. ऋ०प्रा०, १.५.

४. वा इति विचारणार्थे ······अथापि समुच्चयार्थे भवति। —नि०-१-२

५. अं वर्ण समाम्नाये पठ्यते। स कांश्चित्स्वरधर्मान्गृह्णाति, कांश्चिदव्यञ्जन-धर्मान्। तद्यथा-ह्रस्वत्वं दीर्घत्वं प्लुतत्वमुदात्तत्वं स्वरितत्वमिति स्वर-धर्माः। तथा अर्द्धमात्राकालता स्वरवशेनोदात्तानुदात्तस्वरितत्वं संयोगश्चेति व्यञ्जन धर्माः तत्रोभयधर्मयोगादुभयस्वभावंस्वरव्यञ्जनयोरन्यद्वणान्तरं प्रकाशयति' अनुस्वारं व्यञ्जनं वा स्वरो वा'—ऋ०प्रा०-१-५. पर उ०भा०

६. अनुस्वरो व्यञ्जनं वा स्वरो वा इति परमतम्। तन्निरासार्थमुच्यते। अनुस्वारो युक्तवद् व्यञ्जनमेवास्मच्छाखायाम् अर्धगकाररूपत्वात्। तु० (क) सं०सा०शि-४३. —तै०प्रा०, २.३० परवै० आ०

(ख) यजुष्यनुस्वार इहापि यत्र भवेत् तदाद्यर्धगकारयुक्तः।

· पारि०शि०, १९१

व्यञ्जनों को रेखाचित्र द्वारा इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है—

व्यञ्जन

	योगवाह व्यञ्जन	अयोगवाह व्यञ्जन	
स्पर्श	क ख ग घ ङ	विर्सजनीय	अः
	च छ ज झ ञ		
	ट ठ ड ढ ण	जिह्वामूलीय	क
	त थ द ध न		
	प फ ब भ म		
अन्तःस्थ	य र ल व	उपध्मानीय	प
		अनुनासिक	हुं
उष्मन्	ह श ष स		
		यम	कुं खुं गुं घुं
		अनुस्वार	अं आं

नकारवत् होता है।[1] नकार की गणना व्यञ्जन में की गई है। अतएव अनुस्वार व्यञ्जन है।

(२) उच्चारण-काल के आधार पर भी अनुस्वार को व्यञ्जन माना जाता है, क्योंकि इसे व्यञ्जन के सदृश्या उच्चारण-काल वाला कहा गया है।[2] कतिपय विशेष परिस्थियों में उच्चारण-काल में अन्तर होने पर भी इसे व्यञ्जन ही स्वीकार किया जाता है स्वर नहीं।[3]

(**स**) **पराश्रित**—पराश्रित होने के कारण अनुस्वार व्यञ्जन है, क्योंकि स्वर की निरपेक्ष सत्ता होती है।[4] अनुस्वार को नासिक्य ध्वनि माना गया है। नासिक्य वर्णो की गणना व्यञ्जन में की जाती है। अतएव अनुस्वार की गणना व्यञ्जनों में होनी चाहिए।[5]

उच्चारण, उच्चारण-काल तथा पराश्रितत्व के आधार पर अनुस्वार को व्यञ्जन मानना ही समीचीन है।

---

१. ऋ०प्रा०, १४.५४

तु० (क) यथा तृतीयस्तथा पञ्चमा आनुनासिक्यवर्जम् आनुनासिक्यः तेषामधिको गुणः। —म०भा०, १.१.६

(ख) त्वन् माह्य् वर्वणां ततो विश्वां तिर्यं अवां नतौ सदा।
श्रिङते वृन्ते मन्ता च युध्वं वृं धृं धिनास्तथा॥
—सिद्धा०शि०, ५३

(ग) त्वमित्यस्य वा नकारोऽन्तादेशश्छन्दस इत्यन्योऽर्थः।
—सिद्धा०शि०, ५३ पर भाष्य

२. वा०प्रा०, ४.१४८, १४६ —तु० तै०प्रा०, १.३७

३. ऋ०प्रा०, १३.३२, ३३ —तु० तै०प्रा०, १.३४, १७.१.५

४. ऋ०प्रा०, १८.३०

तु० (क) अनुस्वारो विसर्गश्च कलपाठः प्लुताः यमाः।
जिह्वामूलमुपध्मा च षोडशैते पराश्रया॥
अशरीरास्तु ये वर्णाः विज्ञेयास्तु पराश्रयाः।
अन्य वर्णं समाश्रित्य दर्शयन्ति निजं पपुः॥
—चारायणी शिक्षा-१.१

५. ऋ० तं०, १.२

तु० (क) ऋ०प्रा०, १.४८ (ख) तै०प्रा०, १.१८, ४६, ५०

(ग) च०अ०, १.२६

मुग्धबोध व्याकरण में अनुस्वार को 'नु' कहा गया है ।[1] हरिनामामृत व्याकरण में इसको 'विष्णु चक्र', ('विन्दु' और 'लव' संज्ञा से अभिहित किया गया है ।[2] जैनेन्द्र व्याकरण में इसके लिये 'अनु' शब्द का प्रयोग किया गया है ।[3] सुपद्म व्याकरण में इसके लिये 'मु'[4] और कच्चायन व्याकरण में 'निग्गहीत' शब्द प्रयुक्त हुए हैं ।[5] अनुस्वार को एक विन्दु या अर्ध चन्द्राकार के समान संकेतित किया गया है ।[6]

ऋक्तन्त्र का वर्णक्रम

ऋक्तन्त्र में अक्षर-समाम्नाय को दो क्रमों में प्रस्तुत किया गया है, जिनके अभिधान हैं—उद्देश क्रम तथा उपदेश क्रम । वर्गमाला को इस प्रकार प्रस्तुत करने की विधा ऋक्तन्त्र की अपनी एक विशेषता है । प्रातिशाख्यों में इस प्रकार क्रमों में वर्णमाला का विभाजन नहीं किया गया है । ऋक्तन्त्र के उपर्युक्त क्रमों का विशिष्ट प्रयोजन है । उद्देश क्रम का प्रयोजन संज्ञाकरण है एवं उपदेश क्रम का प्रत्याहार ।[7] इनका विवेचन इस प्रकार है—

उद्देश क्रम

इस क्रम के अन्तर्गत वर्णमाला को सर्वस्वीकृत क्रम के अनुसार ही रखा गया है । इसमें क्रमशः चौदह स्वर, पच्चीस स्पर्श, चार अन्तःस्थ एवं चार ऊष्मन् वर्ण योगवाह के अन्तर्गत पठित हैं । तदनन्तर विर्सजनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, नासिक्य, यम और अनुस्वारों की गणना की गई है । जिन्हें अयोगवाह कहा गया है ।

उपदेश क्रम

उपदेश क्रम में वर्गों का क्रम कुछ विशिष्ट है । इसमें सन्ध्यक्षर, दीर्घ स्वर, ह्रस्व स्वर, अन्तःस्थ, वर्ग के पञ्चम, चतुर्थ, तृतीय, द्वितीय, प्रथम वर्ण, ऊष्मन्, विर्सजनीय, जिह्वामूलीय, उपध्यानीय, अनुनासिक, यम और अनुस्वार-इस क्रम में वर्णों को रखा गया है ।

इन दोनों क्रमों के अनुसार अक्षर-समनाय के विवेचन को स्पष्ट करने के लिए रेखाचित्र अगले पृष्ठ पर प्रस्तुत किये जा रहें हैं ।

---

१. अं अः नुवीं । —मुग्ध० व्या०, १६.
२. (क) अं इति विष्णु चक्रम् —हारिना०, १.१४
(ख) अनुस्वारो विन्दुर्लवश्च । —हरिना०, १.१४ पर वृत्ति
३. नुमो न् । —जै० व्या०, ५.४.११.
४. सु०व्या०, १.१.१४.
५. अं इति निग्गहीतं । —का०व्या०, २.२६
६. एको विन्दुरनुस्वारस्तिलवद्वार्धचन्द्रवत् । —प्रयो०व्या०, १.२८
७. उद्देशे संज्ञाकरणम् उपदेशे प्रत्याहारः । —ऋ०तं०, १.२

अक्षर-समाम्नाय (उद्देश क्रम)

	योगवाह		अयोगवाह	
स्वर				
समान	अ आ इ ई उ ऊ	अः	विर्सजनीय	
	ऋ ॠ लृ लॄ			
सन्ध्यक्षर	ए ऐ ओ औ	क	जिह्वामूलीय	
व्यञ्जन				
स्पर्श	क क ग घ ङ	प	उपध्मानीय	व्यञ्जन
	च छ ज झ ञ			
	ट ठ ड ढ ण			
	त थ द ध न			
	प फ ब भ म	हुं	अनुनासिक	
अन्तःस्थ	य र ल व	कुं खं गुं घुं	यम	
उष्मन्	ह श ष स	अं आं	अनुस्वार	

अक्षर-समाम्नाय (उपदेश-क्रम)

स्वर

समान		सन्ध्यक्षर
ह्रस्व	दीर्घ	
ऋ लृ इ उ अ	आ ॠ ॡ ई ऊ	ए ओ ऐ औ

व्यञ्जन

अन्तःस्थ	वर्ग के वर्ण					उष्मन्	अयोगवाह	
	पंचम	चतुर्थ	तृतीय	द्वितीय	प्रथम		विर्सजनीय	अः
र	ङ	घ	ग	ख	क	ह	जिह्वामूलीय	क
य	ञ	झ	ज	छ	च	श		
व	ण	ढ	ड	ठ	ट	ष	उपध्मानीय	प
ल	न	ध	द	थ	त	स		
	म	भ	ब	फ	प		अनुनासिक	हुं
							यम	कुं खुं गुं घुं
							अनुस्वार	अं आं

ऋक्तन्त्र का वर्ण-वैशिष्ट्य

इस परिशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋक्तन्त्र द्वारा वर्गीकृत अक्षर समाम्नाय अन्य प्रातिशाख्यों एवं लौकिक व्याकरणों में उल्लिखित वर्ण-क्रम से विलक्षण है। इसमें विषमतायें एवं विशेषतायें हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. ऋक्तन्त्र के अक्षर-समाम्नाय में स्वरों के प्लुत रूप को मान्यता नहीं दी गयी है। अतएव अन्य प्रातिशाख्यों की तुलना में स्वरों की संख्या के विषय में वैभिन्य पाया जाता है।

२. योगवाह और अयोगवाह मूलक विभाजन अन्यत्र दुर्लभ है।

३. उद्देश एवं उपदेश-क्रम मूलक अक्षर-समाम्नाय का विभाजन व्याकरण एवं प्रातिशाख्यों में अप्राप्य है।

४. लृ के ह्रस्व और दीर्घ दोनों रूपों को ऋक्तन्त्र में स्वीकार किया गया है।

५. अनुस्वार के ह्रस्व और दीर्घ दोनों रूपों को मान्यता प्रदान की गई है।

२

वर्णोच्चारण

ऋक्तन्त्र में वर्णों के वर्गीकरण के परिशीलन के अनन्तर उनके उच्चारण सम्बन्धी सिद्धान्तों की समीक्षा इस अध्याय में की जा रही है। वर्णों को व्यवहार के लिए उपयोगी बनाने के दो साधन हैं। उन्हें लिपिबद्ध करने के लिए उनके नियत संकेत एवं उच्चारण के लिए उनकी नियत ध्वनियां।

उच्चारणावयव

शरीर के जिन अवयवों के माध्यम से ध्वनियों का उच्चारण किया जाता है, उन्हें ध्वनि यन्त्र, उच्चारण-अवयव और वाग्यन्त्र कहते हैं। ध्वनि-उत्पादन में इनसे प्राप्त होने वाली सहायता के ज्ञान के लिए इनका परिचय अत्यन्त आवश्यक है। उच्चारणोपयोगी शरीरावयव इस प्रकार है—

फेफड़े —(Lungs) प्रत्येक ध्वनि का प्रमुख, मूल या उपादान कारण फेफड़ों से निःसृत वायु का प्रवाह होता है। फेफड़ों का काम धौकनी के सदृश होता है। इनमें निरन्तर विस्तार और संकोच होता रहता है। विस्तार के समय इनमें वायु भर जाती है और संकोच काल में वायु का निःसरण होता है। लगभग प्रत्येक वर्ण की उत्पत्ति इसी श्वास-प्रश्वास रूपी वायु से होती है। फेफड़ों के ऊपर अवस्थित श्वासनलिका से श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया होती रहती है।

स्वर-यन्त्र एवं स्वर-तन्त्री (Larynx and Vocal Chords)—श्वास नली के ऊपरी भाग में स्वर-यन्त्र नाम का एक अवयव है। फेफड़े से निःसृत वायु स्वर-यन्त्र से होकर बहिर्गमन करती है। स्वर-यन्त्र के बीच ओष्ठों के आकार की दो मांसल झिल्लियां हैं, जिन्हें 'स्वरतन्त्री' कहते हैं। ये झिल्लियां फैली हुई और अत्यन्त ही लचीली होती हैं। इन तन्त्रियों की सामान्यतया अधोलिखित अवस्थाएं होती हैं—

(१) सामान्य अवस्था में ये पृथक्, शिथिल और निःस्पन्द पड़ी रहती हैं। इस अवस्था में श्वास-निःश्वास-प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है।

अघोष ध्वनियों का उच्चारण ध्वनि-तन्त्रियों की इसी सामान्य अवस्था में होता है ।

(२) दूसरी अवस्था में स्वर-तन्त्रियां सन्निकट आकर सट जाती हैं, जिससे निःश्वास-काल में इनमें कम्पन उत्पन्न होता है । इनके सटे होने के कारण वायु अत्यन्त झटके के साथ बाहर निकलती है । इस अवस्था में घोष ध्वनियों का उच्चारण होता है ।

(३) तृतीय अवस्था में स्वर-तन्त्रियां न अत्यन्त पास आती हैं और न अत्यन्त दूर ही रहती हैं, अपितु मध्यम स्थिति में रहती हैं । इस अवस्था में वायु-निर्गमन-मार्ग अत्यन्त संकीर्ण हो जाता है । फुस-फुसाहट वाली ध्वनियों का उच्चारण इसी अवस्था में होता है ।

कण्ठ-बिल (Pharynx)—कण्ठ-बिल की अवस्थिति मुख के नीचे है । ध्वनियों के उच्चारण में इसका अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण स्थान है । इसके माध्यम से संवृत, विवृत आदि अवस्थाओं का भेद होता है ।

तालु (Palate)—मुख-विवर के ऊपरी भाग को तालु कहते हैं । कण्ठ और दन्तों के मध्य के इस स्थान को क्रमशः चार भागों में बाँटा गया है—

(१) कोमल तालु	(Soft Palate)
(२) मूर्धा	(Cerebrum)
(३) कठोर तालु	(Hard Palate)
(४) वर्स्व	(Alveola)

इस आधार पर ध्वनियों के कण्ठ, मूर्धन्य आदि विभेद किए जाते हैं ।

जिह्वा (Tongue)—मुख-विवर के नीचे अवस्थित अत्यन्त कोमल शरीरावयव जिह्वा है । यह उच्चारण-अवयवों में सबसे प्रमुख है । साधारण अवस्था में जीभ नीचे ढीली पड़ी होती है । विभिन्न स्थलों पर वायु के अवरोध के निमित्त इसका उपयोग किया जाता है । जिह्वा को पांच भागों में बांटा गया है —

(१) जिह्वाग्र	(Front of the Tongue)
(२) जिह्वामध्य	(Middle of the Tongue)
(३(जिह्वापश्च	(Back of the Tongue)
(४) जिह्वामूल	(Root of the Tongue)
(५) जिह्वाग्रतम	(Tip of the Tongue)

दन्त (Teeth)—ध्वनियों के उच्चारण में तालु और जिह्वा के बाद दांतों का स्थान आता है। ये भोजन के अतिरिक्त ध्वनि-उत्पादन में भी सहायक होते हैं। ऊपर के दांतों के साथ जिह्वा के अग्र भाग के कम या अधिक स्पर्श से दन्त्य वर्णों का उच्चारण किया जाता है।

ओष्ठ (Lips)—वायु का क्षणिक निरोध ओष्ठों के ही माध्यम से होता है। विभिन्न ध्वनियों के उच्चारण में ओष्ठों के आकार में भी वैभिन्य आ जाता है। जैसे आ के उच्चारण में ओष्ठ खूब खुले, इ के उच्चारण में कुछ संकुचित और ऊ के उच्चारण में गोलाकार हो जाते हैं।

अलिजिह्व (Uvule)—अलिजिह्व का कार्य वायु का अंशतः अवरोध करना है। अलिजिह्व की उच्चारण काल में तीन स्थितियां होती हैं।

(१) प्रथम अवस्था में यह स्वाभाविक स्थिति में रहता है, जिसमें यह ढीला होकर नीचे की ओर लटका रहता है। श्वास अवाध-गति से नासिका-विवर से निकलती रहती है। अलिजिह्व के इस अवस्था में रहने पर 'हुं' आदि का उच्चारण मुख के खोले बिना ही किया जा सकता है।

(२) दूसरी अवस्था में अलिजिह्व तनकर खड़ा हो जाता है और नासिका-विवर के मार्ग को पूर्णतया बन्द कर देता है। अतः वायु-निर्गमन मुख-विवर से होता है। समान स्वर और व्यञ्जनों का उच्चारण इसी दशा में होता है।

(३) तीसरी और अन्तिम अवस्था में अलिजिह्व मुख-विवर और नासिका-विवर के मार्ग को पूर्णतया अवरुद्ध न कर मध्यम अवस्था में रहता है। वायु दोनों मार्गों से होकर निकलती है। अनुनासिक स्वरों का उच्चारण इसी अवस्था में होता है।

उपर्युक्त अवयवों का व्यक्त ध्वनियों के उच्चारण में प्रमुख स्थान हैं।

शब्दोत्पत्ति में वायु

ध्वनि-निष्पत्ति में वायु का महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्वास-प्रश्वास रूपी वायु ही ध्वनि में परिवर्तित हो जाती है। शरीर में अवस्थित वायु के पांच भेद किए गए हैं—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान। ध्वनियों के उच्चारण में प्रथम तीन का विशेष महत्व है। प्राण और अपान की सन्धि को 'व्यान' कहते हैं और 'व्यान' ही वाक् है। प्राण और अपान के मध्य ही

वाणी का अधिष्ठान माना गया है[1]। वक्ता की इच्छा होने पर ही शरीरस्थ वायु प्रेरित होकर वर्णों की उत्पत्ति करती है। कण्ठ, तालु आदि विभिन्न स्थानों पर जिह्वा आदि अवयवों द्वारा घात, प्रतिघात से विभिन्न स्थानीय वर्णों की उत्पत्ति होती है।[2]

संगीतशास्त्र एवं तान्त्रिक ग्रन्थों में भी शब्दोत्पादन के लिए वायु की प्रमुखता स्वीकार की गई है। इन दोनों में ही मूलाधार का विशेष महत्त्व है।

---

१. अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानो यो व्यानः सा वाक् तस्मादप्राणन्नपानन् वाचमभिव्याहरति। —छ० उ०, १.३.३.
तु० प्राणापानान्तरे देवी वाग्वे नित्यं हि तिष्ठति।
—महाभारत, अश्वमेधपर्व

२. अघातो वाचो वृत्तिं व्याख्यास्यामः। वायु प्रकृतिमाचार्याः। वायुर्मूर्छञ्श्वासीभवति। श्वासो नाद इति शाकटायनः। वायुरस्मिन् काये मूर्छत्यटतीत्येषोऽर्थः। स खलु सविशेषं प्रतिपन्नः कण्ठं प्रतिपन्नः श्वसितिर्भवति। स खसितिः शिरः प्रतिपन्न आकाशमद्वारकं नदतिर्भवति। तस्येदानी नदतेजिह्वाग्रेणेर्यमाणस्य व्यक्तयः प्रादुर्भवन्ति वर्णानामोष्ठयाः कण्ठ्यास्तालव्याः मूर्धन्याः दन्त्याः नासिक्याः जिह्वामूलीया इति।
—ऋ०तं०, १.१.

तु० (क) ऋ० प्रा०, १३.१३, १३.१ एवं इन पर उ० भा०

(ख) वायुशरीरसमीरणात् कण्ठोरसोः सन्धाने।—तै० प्रा०, २.२ इस पर माहिषेय भाष्य।

(ग) वा० प्रा०, १.७,९

(घ) पा० शि०, ६.७ (ङ) आपि० शि०, १.१.२ एवं इस पर बृहद्वृत्ति।

(च) ···किमिदमुच्चारणं नामेति। विवक्षाजनितेन प्रयत्नेन कोष्ठ्यस्य वायोः प्रेरितस्य कण्ठताल्वाद्यभिघातः यथास्थानं प्रतिघाताद्वर्णाभिव्यक्तिः। —न्याय सूत्र, २.२.१८ पर वात्स्यायन भाष्य

(छ) ब्र० सू०, १.२.२५ पर शाङ्कर भाष्य।

(ज) वा० प०, १.१०८, १११, ११५ एवं ११६

(झ) अन्तर्वर्तिना प्रयत्नेनोर्ध्वमुदीरितः प्राणो वायुस्तेजसानुगृहीतः शब्दतामापद्य शब्दघनसंहन्यमानया प्रकाशमात्रया युक्तस्यान्तःसन्निवेशिनः शब्दस्याविभक्तं बिम्बमुपगृह्णाति। —वा०प०, १.११६ पर पुण्यराज भाष्य।

मूलाधार में समीरण के फलस्वरूप शब्द की उत्पत्ति इन दोनों सम्प्रदायों को मान्य है।[1] इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्द के उत्पादन में वायु की प्रमुखता है।

प्रयत्न

ध्वनियों के उच्चारण के लिए फेफड़े से बहिर्गमन करती हुई वायु को अवरुद्ध करके शरीरावयवों द्वारा कई प्रकार से विकार उत्पन्न किए जाते हैं। इस क्रिया या व्यापार को प्रयत्न कहते हैं। प्रत्येक ध्वनि के उच्चारण में किसी न किसी प्रकार का प्रयत्न अवश्य करना पड़ता है। प्रातिशाख्यों के अनुसार प्रयत्न दो प्रकार का होता है—

(१) बाह्य प्रयत्न

(२) आभ्यन्तर प्रयत्न

बाह्य प्रयत्न—स्वरतन्त्रियों में होने वाले व्यापार का बाह्य प्रयत्न, अनुप्रदान[2] और प्रकृति[3] कहा जाता है। वर्णों के उच्चारण में स्वर-तन्त्रियों का संकोच और विकास की प्रक्रिया एवं ऊष्मता अर्थात् वायु का न्यूनाधिक बहिर्गमन बाह्य प्रयत्न है। अतः बाह्य प्रयत्न की दृष्टि से वर्ण विभाजन का आधार स्वर-तन्त्रियां एवं ऊष्मता माना गया है। स्वर-तन्त्रियों के व्यापार के आधार पर वर्णों को घोष तथा अघोष एवं ऊष्मता के आधार पर सोष्मन् और ऊष्मन् कहा जाता है।

---

१. गुदालिङ्गान्तरे चक्रमाधाराख्यं चतुर्दलम्।
अस्ति कुण्डलिनी ब्रह्मशक्तिराधारपङ्कजे॥
आधाराद् द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेहनाद् द्व्यङ्गुलादधः।
एकाङ्गुलदेहमध्यं सप्तजाम्बूनदप्रभम्।
देहेऽपि मूलाधारेऽस्मिन् समुद्यति समीरणः॥

—सङ्गीत रत्नाकार, १.२.१२०, १४५, १४६

तु० (क) शारदातिलक, १.१४ (ख) सौभाग्यभास्कर, १३२

२. ऋ० तं०, १.३ तु० (क) गो० ब्रा०, १.१.२७

(ख) वायुमनुप्रदीयत इत्यनुप्रदानम्। —ऋ० प्रा०, १३.१ पर उ० भा०

(ग) अनुप्रदीयते वर्ण इत्यनुपदानं मूलकारणम्। अनुप्रदीयते उपादीयते जन्यत इत्यर्थः। —तै० प्रा०, २.९ पर उ० भा०

(घ) च० अ०, २.१२, १३

३. पा० सू०, १.१९ पर सि० कौ० एवं प्रदीप

स्वर-तन्त्रियों पर आधारित वर्ण-विभाजन

स्वर-तन्त्रियों के दूर और निकट रहने पर वर्णोच्चारण में जो अन्तर आता है, उसके आधार पर वर्णों को घोष एवं अघोष—इन दो भागों में विभक्त किया गया है—

घोष—जिन वर्णों के उच्चारण में स्वर-तन्त्रियाँ निकट आ जाती हैं और वायु-निर्गमन के समय घर्षण के फलस्वरूप कम्पन होता है, वे 'घोष' संज्ञक हैं। घोष वर्णों का उच्चारण 'नाद' संज्ञक[1] वायु और कण्ठ की 'संवृत'[2] अवस्था में किया जाता है।

घोष वर्णों में प्रत्येक वर्ग के तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम, हकार और अन्तःस्थ वर्णों की गणना की जाती है।[3] ऋक्तन्त्र एवं अन्य प्रातिशाख्यों में घोष वर्णों के लिए 'घोषवत्' संज्ञा का प्रयोग भी मिलता है।[4] वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में घोष के लिए 'घि' संज्ञा प्रयुक्त हुई है।[5] हरिनामामृतव्याकरण में इसे 'गोपाल' शब्द से अभिहित किया गया है।[6]

---

१. नादानुप्रदान स्वरघोषवन्तः। —ऋ०तं०, १.३
तु० (क) ऋ०प्रा०, १३.१, ५, ६, ७ (ख) तै०प्रा०, २.८, २४.५
(ग) च०अ०, १.१२.१३, ४३ (घ) पा०शि०, २९
(ङ) पारि०शि०, २९ (च) आपि०शि०, २६

२. संवृतो घोषवान्। —ऋ०तं०, १.३
तु० (क) ऋ०प्रा०, १३.१ (ख) पा०शि०, २०
(ग) पा०सू०, १.१.४ पर म०भा०

३. उत्तमा घोषाः। हान्तस्थाः। —ऋ०तं०, २.२.४, ५
तु० (क) ऋ०प्रा०, १.१२ पर उ०भा० (ख) वा०प्रा०, १.५३
(ग) व्यञ्जनशेषो घोषवान्। तै०प्रा०, १.१४ (घ) च०अ०, २.२
(ङ) पा०शि०, २६ (च) शौ०शि०, २२ (छ) का०व्या०, १.१.१२
(ज) हेम०, १.१.१४ (झ) प्रयो०व्या०, १.२३ (ञ) हरिना० १.३१

४. ऋ०तं०, १.३
तु० (क) ऋ०प्रा०, १३.१५, १४, १८ (ख) तै०प्रा०, ८.९
(ग) च०अ०, १,१३.२.११

५. घि शेषः। वा०प्रा०, १.५३
तु० शेषा घिसंज्ञकाः स्मृताः। अमरेश-शिक्षा ५

६. हश्च गोपालाः। हरिना०, १.३१ एवं इस पर वृत्ति

अघोष—जिन ध्वनियों के उच्चारण में स्वर-तन्त्रियों में कम्पन नहीं होता, उन्हें 'अघोष कहते हैं। ये वर्ण 'श्वास' वायु[1] और कण्ठ की 'विवृत'[2] अवस्था के फलस्वरूप उच्चरित होते हैं।

ऋक्तन्त्र में अघोष वर्णों को कहीं भी गिनाया नहीं गया है। सामान्यतया वर्ग के प्रथम, द्वितीय, श, ष, स की गणना अघोष वर्णों के अन्तर्गत की जाती है।[3] ऋक्प्रातिशाख्य और तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में जिह्वामूलीय एवं उपध्मानीय एवं अनुस्वार को भी 'अघोष' कहा गया है।[4] महाभाष्य में वर्ग के प्रथम और द्वितीय वर्णों को ही अघोष माना गया है।[5] उन वर्णों के लिए वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में 'जित्'[6] और हरिनामामृत व्याकरण में 'यादव'[7] संज्ञाओं का भी व्यवहार किया गया है।

---

१. श्वासोऽघोषाणाम्। —ऋ०तं०, १.३
तु० (क) ऋ०प्रा०, १३.४ (ख) ऋ०प्रा०वि०व०, ६
(ग) तै०प्रा०, २.१० (घ) च०अ०, १.१२
(ङ) पारि०शि०, २६ (च) आपि०शि०, २६
(छ) अ०पु०, ३३६, २६

२. विवृतो घोषः। —ऋ०तं०, १.३
तु० (क) तै०प्रा०, १.१२ पर वै०आ० (ख) पा०शि०, २०
(ग) पारा०शि०, ५७ (घ) श०शि०, २०

३. द्वौ द्वौ जित्। ऊष्माणश्च ह वर्जम्। —वा०प्रा०, १.५०, ५१
तु० (क) क ख च छ ट ठ त थ प फ श ष सा इति वर्गेष्वघोषाः। —ना०शा०, १४
(ख) शै०शि०, २० (ग) पारा०शि०, ५७ (घ) अमरेश शिक्षा-५
(ङ) का०व्या०, १.१.११ (च) प्रयो०व्या०, १.२२
(छ) आद्यद्वितया शषसा अघोषाः। —हेम०, १.१.१३

४. (क) अन्त्याः सप्त तेषामघोषाः। वर्गे वर्गे च प्रथमावघोषौ। —ऋ०प्रा०, १.११, १२
(ख) ऊष्म विसर्जनीयप्रथमद्वितीया अघोषाः। तै०प्रा०, १.१२ न हकारः। —तै०प्रा०, १.१३

५. वर्णाणां प्रथमद्वितीयाविवृतकण्ठाः श्वासानुप्रदाना अघोषाः। —पा०सू०: १.१.९, परम०भा०

६. वा०प्रा०, १.५०

७. यादवा अन्ये। —हरिना०, १.३२

ऊष्मता पर आधारित वर्ण-विभाजन

ऊष्मा का अर्थ है—वायु। वर्णों के उच्चारण में वायु का न्यूनत्व और आधिक्य इस विभाजन का आधार है। अतः ऊष्मता की दृष्टि से वर्णों को सोष्मन् और ऊष्मन्—इन दो भागों में विभाजित किया गया है—

सोष्मन्—ऋक्तन्त्र में वर्ग के द्वितीय और चतुर्थ वर्णों को सोष्मन् कहा गया है।[1] इन वर्णों के उच्चारण में वायु का वहिर्गमन होता है। वायु के निस्सरण के साथ उच्चरित होने के कारण इनको सोष्मन् कहते हैं।[2] उवट का मत है कि सोष्मन् वर्णों में ऊष्मा गुण अधिक है तथा इनके उच्चारण में वायु शीघ्रतर गति से बाहर निकलती है।[3]

ऋक्तन्त्र में सोष्म वर्णों का उल्लेख मात्र है। उनका विवेचन नहीं किया गया है। ऋक्प्रातिशाख्य में इन वर्णों के सम्बन्ध में विशेष विचार किया गया है। वहाँ सोष्म वर्णों की सोष्मता समान स्थान वाले ऊष्म वर्ण से कही गई है। अर्थात् खकार की सोष्मता ⁀क से, थकार की सोष्मता स से एवं पकार की सोष्मता ⁀प से है।[4]

---

१. युग्मा सोष्माणः। —ऋ०तं०, २.२.६

तु० (क) ऋ०प्रा०, १.१३ (ख) तै०प्रा०, १.११
(ग) वा०प्रा०, १.५७ (घ) च०अ०, १.१०

२. (क) ऊष्मा वायुः तेन सह वर्तन्त इति सोष्माणः।
—ऋ०प्रा०, १.१३ पर उ०भा०

(ख) ऊष्मा वायुः ऊष्मणा सह वर्तन्त इति सोष्माणः।
—वा०प्रा०, १.५४ पर उ०भा०

३. सर्वेषु वर्णेषु स्थानकरणानुप्रदानानि ऋ त्रयो गुणाः समानाः। सोष्ममूष्मागुणोऽधिकः। तत्र गुणबहुत्वान्मात्राकालेन शैघ्र्यादृते न शक्यमुच्चारयितुमिति तेषु शीघ्रतरं प्राणं मन्यन्ते। —ऋ०प्रा०, १३.१६ पर उ०भा०

४. (क) सोष्मतां च सोष्मणामूष्मणाहुः सस्थानेन। —ऋ०प्रा०, १३.१६

(ख) सोष्मणां वर्णानां सोष्मत्वं सस्थानेनोष्मणाहुः। खकारस्य ⁀क इत्येतेन। छकारस्य श इत्येतेन। ठकारस्य ष इत्येतेन। थकारस्य स इत्येतेन। पकारस्य ⁀प इत्येतेन।

—ऋ०प्रा०, १३.१६, पर उ०भा०

सोष्म घोष वर्णों की सोष्मता को घोष ऊष्म वर्ण हकार से माना गया है, क्योंकि हकार शुद्ध प्राण ध्वनि है। इसकी ऊष्मता घ, झ, ढ, ध और भ को सोष्म बनाती है।[1]

ऊष्मन्—ऋक्तन्त्र में ह, स, ष, श, वर्णों को 'ऊष्मन्' कहा गया है।[2] इनके उच्चारण में वायु का प्राधान्य होने के कारण इनकी 'ऊष्मन्' संज्ञा है।[3] अथवा ऊष्मा नामक बाह्य प्रयत्न से उच्चरित होने के कारण भी ये ऊष्मन् कहे जाते हैं।[4]

बाह्य प्रयत्न पर आधारित वर्णों की तालिका इस प्रकार है—

बाह्य प्रयत्न

(क) स्वर-तन्त्रियों के आधार पर—

घोष	अघोष
नाद	श्वास
ग घ ङ	क ख
ज झ ञ	च छ
ड ढ ण	ट ठ
द ध न	त थ
ब भ म	प फ
ह य र ल व	श ष स

---

१. (क) घोषिणां घोषिणैव। —ऋ०प्रा०, १३.१७

(ख) घोषिणां सोष्मणा घोषिणैवोष्मणा। हकारेणेत्यर्थः सोष्मतामाहुः। घ, झ, ढ, ध, भ इति० —ऋ०प्रा०, १३.१७ पर उ०भा०

२. अथोष्माणो हिति शिति षिति सिति। —ऋ०तं०, १.२
तु० वा०प्रा०, ८.१६, १७

३. ऊष्मा वायुस्तत्प्रधानवर्णा उष्माणः। —ऋ०प्रा०, १.१० पर उ०भा०

४. ऊष्माख्यबाह्यप्रयत्नयोगादूष्माण इत्याख्या। —तै०प्रा०, १.९ पर वै०आ०

(ख) ऊष्मता के आधार पर

सोष्मन्	ऊष्मन्
ख घ	ह श ष स
छ झ	
ठ ढ	
थ ध	
फ भ	

आभ्यन्तर-प्रयत्न

मुख-विवर के भीतर किया जाने वाला प्रयत्न आभ्यन्तर कहा जाता है। इसका क्षेत्र ओष्ठ से काकलक पर्यन्त माना गया है।[1] इसको आस्य प्रयत्न,[2] मुख प्रयत्न[3] एवं करण[4] भी कहा जाता है। ऋक्तन्त्र के अनुसार आभ्यन्तर प्रयत्न का विवरण इस प्रकार है—

संवृत—ऋक्तन्त्र में घोष वर्णों के आभ्यन्तर प्रयत्न को संवृत कहा गया है।[5] वाजसनेयिप्रातिशाख्य में अकार[6] एवं मान्डू की शिक्षा में

१. ओष्ठात् प्रभृति प्राक् काकलकात्। —पा०सू०, १.१.१० पर म०भा०

२. समानस्थानकरणास्यप्रयत्नः सवर्णः। —वा०प्रा०, १.४३
तु० पा०सू०, १.१.९ पर काशिका

३. योऽस्य वर्णस्य समानस्थानः समानकरणः समानमुखप्रयत्नः स तस्य सवर्ण-संज्ञो भवति। —वा०प्रा०; १.४३ पर उ०भा०

४. गो०ब्रा०, १.१.२४, २७
तु० (क) तद्विशेषः करणम्। —ऋ०प्रा०, १३.८ एवं इस पर उ०भा०
(ख) तै०प्रा०, २.३२; ३४ (ग) च०अ०, १.१८, २९
(घ) ···करणं स्याच्चतुर्विधम्। —ना०शि०, ८
(ङ) शै०शि०, २५ (च) करणमाभ्यन्तरप्रयत्नः। —म०भा०, १.१.१ पर उद्योत

५. संवृतो घोषवान्। —ऋ०तं०, १.३
तु० (क) पा०शि०, २०
(ख) तृतीय-चतुर्थाः संवृतकण्ठाः नादानुप्रदान स्वरघोषवन्तः। —पा०सू०, १.१.४ परम० भा०

६. (१) संवृतास्यप्रयत्नः अकारः —वा०प्रा०, १.७२, पर उ०भा०

यमों[1] को भी संवृत कहा गया है। घोष वर्णों के उच्चारण में कण्ठ विवरण संवृत अवस्था में रहता है। कण्ठ में तन्त्रियों के अत्यन्त सामीप्य को संवृत अवस्था कहा जाता है।[2] संवृत-प्रयत्न को एकमात्राकालिक माना गया है।[3]

विवृत—ऋक्तन्त्र के अनुसार स्वर एवं ऊष्म वर्गों को 'विवृत' कहा गया है।[4] विवृत का आशय है—खुला हुआ। इस अवस्था में उच्चारणावयव दूर-दूर

---

(२) संवृतोऽकारः। —च०अ०, १.३०

तु० (क) व०प्र०शि०, ४० (ख) शै०शि०, २५

(ग) ...ह्रस्वस्य अवर्णस्य प्रयोगे संवृत्तम्।

—पा०सू०, १.१.६ पर सि०कौ०, १०

(घ) ह्रस्ववर्णा प्रयोगे संवृतम्। —माहे०सू०, १ पर काशिका

१. यमानां संवृतं प्राहुः...। —मा०शि०, ६

२. (क) सामीप्येन यदास्पृशति सा संवृतता इत्येषोऽन्तप्रयत्नः।

—आपि०शि०, ८.३

(ख) स तदानीं प्राणो नाम वायुरुर्ध्वमाक्रमन् मूर्ध्नि प्रतिहतो निवृतः कोष्ठमभिहन्ति। तत्र कोष्ठेऽभिहन्यमाने कण्ठविलस्य...संवृतत्वात् संवारः। आपि०शि०, ८.३, पर वृहद्वृत्ति

३. संवृतं मात्रिकं ज्ञेयं...। —पा०शि०, २०

४. विवृतं स्वरोष्मणाम्। —ऋ०तं, १.३

तु० (क) च०अ०, १.३१.३२

(ख) स्वराणामूष्मणाञ्चैव विवृतं करणं स्मृतम्। —पा०शि०, २१

(ग) मा०शि०, ६ (घ) शै०शि०, २५ (ङ) ना०शा०, १४

(च) ...विवृतभूष्माणांस्वराणाञ्च।

—पा०सू०, १.१.६ पर सि०कौ० १०

(छ) विवृतत्वं स्वरभूष्मणां च। —चा०व०सू०, २४

(ज) पा०सू०, १.१.२ पर म०भा० एवं उस पर उद्योत तथा प्रदीप

(झ) विवृतमूष्मणां ईषदित्येवानुवर्तते।

—पा०सू०, १.१.१० पर म०भा०

रहते हैं उनमें परस्पर स्पर्श नहीं होता।[1] वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में अकार को विवृत नहीं माना गया है।[2]

स्पृष्ट—स्पर्श वर्णों के आभ्यन्तर प्रयत्न को 'स्पृष्ट' कहा जाता है।[3] स्पृष्ट शब्द 'स्पृश्' धातु से क्त प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। इस प्रयत्न में उच्चारणावयवों में अत्यन्त सामीप्य स्थापित हो जाता है एवं शीघ्र ही उच्चारणावयव दूर होकर वायु को बहिर्गमन करने देते हैं। इसी कारण इनको 'अस्थित' कहा जाता है; क्योंकि जिह्वा आदि उच्चारणावयव एक ही अवस्था में अधिक काल तक अवस्थित नहीं रहते।[4]

विवृततर—ऋक्तन्त्र में ऐ एवं औ को विवृततर प्रयत्न से उच्चरित माना गया है।[5] तरप् प्रत्ययान्त होने से इस शब्द का अर्थ हुआ—अधिक खुला हुआ। इन वर्णों के उच्चारण में मुख-विवर कुछ अधिक खुला रहता है।

---

१. दूरेण स्पृशति सा विवृतता···। —आपि०शि०, ८.४
तु० (क) तत्रोत्पत्तेः प्राग्यदाजिह्वाग्रोपाग्रमध्यमूलानि·· दूरतः वर्तन्ते तदा विवृतता। —पा०सू०, १.१.९, पर सि०कौ०, १० पर त०बो०
(ख) विवृतःकण्ठो यः श्वासोऽनुप्रदीयते यैरित्यर्थः।
—पा०सू०, १.१.४ पर म०भा० पर उद्योत

२. विवृतास्यप्रयत्न अकार इतरे स्वराः।
—वा०प्रा० १.७२, पर उ०भा०
तु० व०प्र०शि०, ४०

३. स्पृष्टं कारणं स्पृष्टानाम्। —ऋ० तं० १.३
तु० (क) ऋ० प्रा०, १३.९
(ख) स्पृष्टास्यप्रयत्नाः स्पर्शाः। —वा० प्रा०, १.७२ पर उ० भा०
(ग) च० अ०, १.२९
(घ) शेषाः स्पृष्टाः हलः···। —पा०शि० ३८
(ङ) व०प्र० शि०, ३९ (च) मा०शि०, ८ (छ) अ०पु०, २.३३६
(ज) पा०सू०, १.१.९ पर म०भा० एवं प्रदीप (झ) पा०सू०, १.१.९ पर सि०कौ०, १०

४. अस्थितमिति अत्र वर्णस्थानमाश्रित्य मध्ये जिह्वा न सन्तिष्ठते तत् अस्थितमित्युच्यते। —ऋ० प्रा०, १३.९ पर उ० भा०

५. विवृततरमकारैकारौकाराणाम्। —ऋ०तं०, १.३
तु० तेभ्य ऐ औ विवृततरौ···। —आपि० शि० ८.३

आभ्यन्तर प्रयत्न से सम्बन्धित रेखाचित्र इस प्रकार है—

आभ्यन्तर प्रयत्न

संवृत	विवृत	विवृततर	स्पृष्ट	दुःस्पृष्ट
ग घ ङ	अ आ इ ई	ऐ	क ख ग घ ङ	य र ल व
ज झ ञ	उ ऊ ऋ ॠ	औ	च छ ज झ ञ	
ड ढ ण	लृ ॡ ए		ट ठ ड ढ ण	
द ध न	ओ		त थ द ध न	
ब भ म	ह श ष स		प फ ब भ म	
ह य र ल				

दुःस्पृष्ट—अन्तःस्थ वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न दुःस्पृष्ट कहा गया है।[1] इसे 'ईषत्स्पृष्ट' और 'नेमिस्पृष्ट' नाम से भी व्यवहृत किया जाता है।[2] इन वर्णों के उच्चारण में उच्चारणावयव परस्पर दूर-दूर रहते हैं एवं उनका स्वल्प-कालिक स्पर्श होता है।

उच्चारण-स्थान के आधार पर वर्ण-विभाजन

जिस अङ्ग विशेष पर वर्ण अवस्थित रहते हैं अर्थात् उच्चारित होते हैं, वही उस वर्ण का स्थान कहलाता है।[3] इस उच्चारण स्थान को उस वर्ण का आधार भी कहा जा सकता है।[4] उच्चारण-स्थान पर ही बहिर्गमन करती हुई वायु को अवरुद्ध करके वर्णों को उत्पन्न किया जाता है। वर्णोत्पत्ति में स्थान का अत्यधिक महत्त्व है। ऋक्तन्त्र में उच्चारण-स्थान के आधार पर वर्णों का अधोलिखित वर्गीकरण किया गया है—

कण्ठ्य—ऋक्तन्त्र में हकार, अकार, आकार और विसर्जनीय की गणना

---

१. दुःस्पृष्टमन्तःस्थानाम् —ऋ०तं०, १.३
तु० (क) दुःस्पृष्टं तु प्राग्घकाराच्चतुर्णाम्। —ऋ० प्रा०, १३.१०
(ख) वा०प्रा०, १.७२ पर उ० भा० (ग) च०अ०, १.३०

२. ···नैमिस्पृष्टा····। —पा०शि० ३८
तु० (क) व० प्र०शि०, ४१
(ख) ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्। पा० सू०, १.१.६
पर सि०कौ०, १०

३. अस्मिन् तिष्ठन्तीति स्थानानि। —तै० प्रा०, २३.४ पर आ० भा०
तु०—(क) यस्मिन् तिष्ठति तत् स्थानम्। —तै०, प्रा०, २३.४ पर त्रि०
(ख) यदुपक्रम्यते तत्स्थानम्। —च०अ० १.१८ पर भाष्य०
(ग) पारि० शि० ३६, ४१ (घ) आपि०, शि० ७.३
(ङ) वा०प०, १.१

४. अधिकरणं वर्णानां स्थानशब्देनोच्यते। —ऋ० प्र० १.४६ पर उ०भा०
तु०(क) गो०ब्रा०, १.१.२४ (ख) तै०प्रा०, २.३१, ३३
(ग) वा०प्रा०, १.६२ (घ) च० अ०, १.४१

'कण्ठ्य' ध्वनियों के अन्तर्गत की गई है।[1] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में अ[2] और पाणिनि शिक्षा में विसर्जनीय[3] को कण्ठ्य वर्ण नहीं माना गया है। कहीं-कहीं कवर्ग का भी समाहार कण्ठ्य वर्णों में किया गया है।[4]

कण्ठ से उत्पन्न होने के कारण इन ध्वनियों को 'कण्ठ्य' कहा जाता हैं।[5] ध्वनिशास्त्रियों ने इस स्थान को काकल या काकलक एवं कण्ठ-बिल भी कहा है। इन ध्वनियों के उच्चारण में वायु को ध्वनि-तन्त्रियों पर एक साथ अवरुद्ध किया जाता है, तदनन्तर विशेष घर्षण के साथ छोड़ दिया जाता है।

उरस्य—ऋक्तन्त्र में विसर्जनीय को उर से भी उच्चारित माना गया है।[6] ऋक्प्रातिशाख्य में विसर्जनीय एवं हकार दोनों की गणना उरस्य के अन्तर्गत की गई है।[7] पाणिनि शिक्षा में वर्ग के पञ्चम और अन्तःस्थ वर्णों के साथ संयुक्त हकार को भी उरस्य ही कहा गया है।[8]

इनका उच्चारण उर से होता है। स्वर-तन्त्री एवं उच्चारणावयवों का उपयोग नहीं होता, अपितु ये सामान्य अवस्था में अवस्थित रहते हैं। उर से निःसृत वायु का केवल बहिर्गमन मात्र होता है।

---

१. हाः कण्ठे। —ऋ० तं०, २.१.२
तु० (क) ऋ० प्रा०, १.३८.३९ (ख) वा० प्रा०, १.७१
(ग) अवर्णश्च विसर्गश्च हकारश्चापिकेवलः।
कण्ठ्याः वर्णाः स्मृताः ह्येषाः हनुमध्यंतुकारणम्॥ —व० प्र० शि०, ३३
(घ) अहौ च कण्ठस्थौ…कण्ठ्यो विसर्जनीयते…। —ना०शा०, १४

२. कण्ठस्थानौ हकारविसर्जनीयौ। —तै०प्रा०, २.४६

३. कण्ठ्यावहाः। —पा०शि०, १७
तु०—अ०पु०, ११

४. अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः। —पा० सू०, १.१.९ पर सि०कौ०, १०
तु०—(क) चा०व०सू०, ३
(ख) अकुहाः कण्ठजाः प्रोक्ताः।—मा०शि०, २२ (ग) षो०शि०, ११

५. कण्ठेभवः कण्ठ्यः। —ऋ०प्रा०, १.३८ पर उ०भा०

६. उरसि विसर्जनीयो वा। —ऋ०तं०, २.१.३

७. केचिदेता उरस्यौ। —ऋ०प्रा०, १.४० एवं इस पर उ० भा०

८. हकारपञ्चमैर्युक्तमन्तःस्थाभिश्च संयुक्तम्।
उरस्यं तं विजानीयात् कण्ठ्यमाहुरसंयुक्तम्॥ —पा० शि०, १७
तु० लो९ शि०, ९

जिह्वामूलीय—इन वर्णों के परिगणन में ऋक्तन्त्र के सूत्र एवं वृत्ति में एकरुपता नहीं है। वृत्ति के अनुसार कवर्ग, ऋ एवं ॠ जिह्वामूलीय हैं।[1] सूत्र को देखते हुए यह विचार असंगत प्रतीत होता है। सूत्र में क्र के साथ जिह्वामूलीय चिह्न (⁀) का प्रयोग किया गया है।[2] अतएव इसके अनुसार उपर्युक्त वर्णों के साथ ⁀क को भी स्वीकृत किया जाना चाहिए। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में जिह्वामूलीय वर्णों के अन्तर्गत ऋकार को नहीं लिया गया है।[3] ऋक्प्रातिशाख्य में उपर्युक्त वर्णों के अतिरिक्त लृ एवं लॄ को भी जिह्वामूलीय के रूप में स्वीकार किया गया है।[4] अधिकांश ग्रन्थों में जिह्वामूलीय शब्द का व्यवहार तो किया गया है, परन्तु उनकी संख्या के विषय में कोई निर्देश प्राप्त नहीं है।[5]

जिह्वा के मूल से उच्चारित होने के कारण इन वर्णों को जिह्वामूलीय कहा जाता है।[6] इन वर्णों के उच्चारण में जिह्वामूल ऊपर उठकर हनुमूल[7] का स्पर्श करता है एवं नासिक-रन्ध्र को पूर्णतया बन्द कर देता है।

---

१. जिह्वामूलीयस्था जिह्वामूलस्थानाः ककार ऋकार ॠकाराः।
—ऋ०तं०, २.१.४ पर वृत्ति०

२. जिह्वामूले ⁀क्र। —ऋ०तं०, २.१.४
तु०(क) वा०प्रा०, १.६५ (ख) व०प्र०शि०, २७

३. हनुमूले जिह्वामूलेन कवर्गे स्पर्शयति स्पर्शस्थानेषूष्माण आनूपूर्व्येण।
—तै०प्रा०, २.३५,४४

४. ऋकारल्कारावथ षष्ठ ऊष्मा हि जिह्वामूलीयाः प्रथमश्च वर्गः।
—ऋ०प्रा०, १.४१

५. पा० शि०, १३.१८
तु० (क) व०प्र०शि०, २७ (ख) मा०शि०, ७.११
(ग) षौ०शि०, १३ (घ) व्या०शि०, ४
(ङ) पा०सू०, ४.३.६२ इत्यादि (च) सं०सा०व्या०, १.२१७
(छ) का०व्या०, १.१.१७ (ज) प्रयो०व्या०, १.१२३

६. जिह्वामूलीयं जिह्वामूलेन जन्यत्वात्। —तै० प्रा० २.३५ पर वै०आ०
तु० (क) पा०शि० १३ (ख) लो०शि० १३
(ग) ना०शा० १४ (ङ) जिह्वामूजिह्वामूलेन जिह्वानाम्
—आपि०शि०, २.३
(घ) जिह्वामूलं उच्चायते सौ जिह्वामूलीयः। मुग्ध०व्या०, २० पर दुर्ग०

७. जिह्वामूलीयानां हनुमूलम्। —हरिना० १.४

तालव्य—शकार, चवर्ग, यकार, इकार, ईकार और एकार को तालुस्थानीय वर्ण माना गया है।[1] एकार तथा ऐकार को तालव्य मानने में कुछ आचार्यों में मतभेद है। ऋक्प्रातिशाख्य में इन दोनों की गणना तालव्य वर्णों में की गई है[2] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य एकार एवं ऐकार को तालव्य नहीं माना गया है। अनेक शिक्षा एवं व्याकरण ग्रन्थों में इसी का अनुसरण किया गया है।[3]

इन वर्णों का उच्चारण करते समय जिह्वा के मध्यभाग से कठोर तालु का स्पर्श किया जाता है, इसी से ये तालुस्थानीय कहे जाते हैं।[4]

मूर्धन्य—प्रातिशाख्यों की परिपाटी के अनुसार ऋक्तन्त्र में षकार और टवर्ग को 'मुर्धन्य'[5] कहा गया है। पाणिनि ने ऋकार और रकार को मूर्धास्थानीय माना है।[6]

---

१. तालुनि श्च्ये। —ऋ०तं०, २.१.५
तु० (क) वा०प्रा०, १.६६
(ख) नव तालव्याः इ३ ई३ इतीवर्णः च छ ज झ ञ य श एकारश्चेति।
—या०शि०, ६.३

२. तालव्यवेकारचकारवर्गाविकारैका शैयकारः शकारः। —ऋ०प्रा०, १.४२

३. तै०प्रा०, २.३६, ४०, ४४
तु० (क) ···यिश्चुतालुकम्। —पौ०शि०, ११ (ख) आपि०शि०, २.३
(ग) इचुयशानां तालुः। —पा०सू०, १.१.६ पर सि०कौ०, १०
(घ) ताल्विचुयशानाम्। —चा०व०सू०, ६

४. तै०प्रा०, २.३६, ४०, ४४
तु० (क) वा०प्रा०, १.७६ (ख) च०अ०, १.२१ (ग) आपि०शि०, २.४
(घ) तालुस्थाना भवन्त्येषां जिह्वामध्यं तु कारणम्।
—व०प्र०शि०, २८
(ङ) चा०व०सू०, १८

५. मूर्धनि षटौ। —ऋ०तं०, २.१.६
तु० (क) मूर्धन्यौ षकारटकारवर्गौ। —ऋ०प्रा०, १.४३
(ख) तै०प्रा०, २.३७, ४४ (ग) वा०प्रा०, १.६७
(घ) षकारोऽथटवर्गश्च मूर्धन्याः परिकीर्तिताः। —व०प्र०शि०, २६
(ङ) या०शि०, ३८

६. स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषा···। —पा०शि०, १७
तु० (क) आपि०शि०, २.४ (ख) मूर्ध ऋटुरषाणाम्।
—चा०व०सू०, ६

उच्चारण-प्रसङ्ग में मुख-विवर के ऊर्ध्वभाग को मूर्धा कहा जाता है।[1] इन वर्णों के उच्चारण में जिह्वाग्र ऊपर उठकर मुख-विवर के ऊपरी भाग को मुड़कर स्पर्श करता है।[2]

दन्त्य--तवर्ग, सकार और लकार का उच्चारण-स्थान दन्त हैं।[3] शिक्षा ग्रन्थों में इन वर्णों के अतिरिक्त लृकार को भी दन्त्य वर्ण कहा जाता है।[4] ऋक्तन्त्र में रेफ को विकल्प से दन्त मूल से उच्चरित वर्ण कहा गया है।[5] शौनक आदि ध्वनि-शास्त्रियों ने उपर्युक्त सभी वर्णों को दन्तमूलीय ही माना है।[6] कुछ आचार्यों ने रेफ को बर्स्व से भी उच्चरित कहा है।[7]

(ग) ···ऋतुरषाणामूर्धस्थिता ज्ञेयाः। —ना०शा०, १४

(घ) पा०सू०, १.१.९ पर सि०कौ०, १०

१ मूर्धशब्देन वस्त्रविवरोपरिभागो विवक्षते। —तै०प्रा०, २.३७ पर त्रि०

२. तै०प्रा०, २.३७, ४४

तु० (क) वा०प्रा०, १.७८ (ख) आपि०शि०, २.५

(ग) व०प्र०शि०, २९

३. दन्त्ये त्सलाः। —ऋ०तं०, ६.१.७

तु० वा०प्रा०, १.६९

४. ···दन्त्या लृतुलसाः स्मृताः : —पा०शि०, १७

तु० (क) आपि०शि०, २.६

(ख) अष्टौ दन्त्याः लृ लृ३ इति लृवर्णः तथदधन लकार सकारा इति। —या०शि०, ९३

(ग) ·· स्लृतुलादन्तम्···। —षो०शि०, ११

(घ) चा०व०सू०, ७

५. रेफो मूले वा। —ऋ०तं०, ३.१.८

तु० (क) वा०प्रा०, १.६८

(ख) रो दन्तमूलस्थानमेकेषाम्। —आपि०शि०, २.९

(ग) एको दन्तमूलीयो रेफः। —या०शि०, ९३

(घ) रेफश्च दन्तमूलोत्थाः···। —व०प्र०शि०, ३०

६. दन्तमूलीयस्तु तकारवर्णः सकाररेफलकारश्च। —ऋ०पा०, १.४४, ४५

तु० तै०प्रा०, २.३८, ४२, ४४

७. (क) रेफं बर्स्वमेके। —ऋ०प्रा०, १.४६

(ख) बर्स्वशब्देन दन्तमूलादुपरिष्टादुच्छूनः प्रदेश उच्चयते। —ऋ०प्रा०, १.४६ पर उ०भा०

इन वर्णों के उच्चारण में जिह्वा का अग्रभाग दांतों का स्पर्श करता है, और दन्तमूलीय वर्णों में दन्तमल का।[१]

ओष्ठ्य—ऋक्तन्त्र के अनुसार वकार, ओकार, औकार, उपध्मानीय (‿प), पवर्ग, उकार और ऊकार 'ओष्ठ्य' हैं।[२] शिक्षा ग्रन्थों में वकार, ओ, औ को शुद्ध ओष्ठस्थानीय वर्ण नहीं माना गया है।[३] अपितु इन्हें मिश्रित ओष्ठ्य कहा गया है, अर्थात् वकार का उच्चारणस्थान दन्त व ओष्ठ और ओ, औ का उच्चारण कण्ठ और ओष्ठ बताया गया है।[४]

इन वर्णों के उच्चारण में अधर और ऊपर दोनों ओष्ठों की सहायता ली जाती है, जो उच्चारण के समय विभिन्न आकृतियों को धारण करते हैं।[५]

---

१. (क) दन्त्यानां जिह्वाग्रं प्रस्तीर्णम्। —च०अ०, १.२४
(ख) जिह्वाग्रेण तवर्गे दन्तमूलेषु। —तै०प्रा०, २.३८
(ग) दन्तमूलेषु च लकारे। —तै०प्रा०, २.४२

२. ओष्ठ्ये वो‿पू। —ऋ०तं०, २.१.९
तु० (क) शेष ओष्ठ्योऽपवाद्य नासिक्यान्। —ऋ०प्रा०, १.४७
(ख) वा०प्रा०, १.७०

३. पा०शि०, १६
तु० (क) षो०शि०, १२ (ख) वा०प्र०शि०, २२
(ग) चा०व०सू०, १२ (घ) अ०पु०, ११.२४
(ङ) ना०शा०, १४

४. ओष्ठान्ताभ्यां दन्तैर्वकारे। —तै०प्रा०, २.४३
तु० (क) दन्त्योष्ठ्यो वः स्मृतो बुधैः। —पा०शि०, १८
(ख) ···वो दन्त्योष्ठ्यस्तथैव च। शै०शि०, १५
(ग) ···वकारस्य दन्त्योष्ठ्यम्। —अ०पु०, ११.२६
(घ) ···ओ औ कण्ठोष्ठ जौ स्मृतौ।
—पा०शि०, १८, शै०शि०, १५
(ङ) कण्ठोष्ठ्यस्तु तथोकारः···। —ल०मा०शि०, १७
(च) ओदौतोः कण्ठोष्ठम्। —पा०सू०, १.१.९ पर सि०कौ०, १०

५. तै०प्रा०, २.१४, २४, ३८, ४३, ४४

६. ओष्ठ्यानामधरौष्ठम्। —च०अ०, १.२५

नासिक्य—यम (कुं, खुं, गुं, घुं), अनुस्वार (अं आं) और अनुनासिक (हुं) का उच्चारण स्थान नासिका है।[1] नासिका में उच्चारण होने के कारण इन वर्णों को 'नासिक्य' कहा जाता है।

इस आधार पर वर्गीकृत वर्णों की तालिका इस प्रकार है—

उच्चारण-स्थान के आधार पर वर्णों का वर्गीकरण

स्थान	वर्ण
कण्ठ्य	ह अ आ : (विसर्जनीय)
जिह्वामूलीय	क ख ग घ ङ ऋ ॠ ⁀ क (जिह्वामूलीय)
उरस्य	(विसर्जनीय)
तालव्य	श च छ ज झ ञ य इ ए
मूर्धन्य	ष ट ठ ड ढ ण
दन्तमूलीय	रेफ
दन्त्य	त थ द ध न स ल
ओष्ठ्य	व ओ औ ⁀ प (उपध्मानीय) प फ ब भ म उ ऊ
नासिक्य	कुं खुं गुं घुं—यम अं आं—अनुस्वार हुं—नासिक्य

---

१. नासिकायां यमानुस्वारनासिक्याः। —ऋ०तं०, २.२.२

तु० (क) नासिक्ययमानुस्वारान्। —ऋ०प्रा०, १.४८

(ख) तै०प्रा०, २.४९, ५०; २१.८, १२, १४

(ग) यमानुस्वारनासिक्यानां नासिके। —वा०प्रा०, १.७४

(घ) हकारान्नासिक्येन। —च०अ०, १००

(ङ) नासिक्यानां नासिका। —च०अ०, १.२६

(च) नासिक्ये नासिकास्थानं तथानुस्वार उच्यते। यमा वर्गोत्त्माश्चापि यथोक्तं चैवं ते मताः॥ —च०अ०, १.२६ पर टीका।

सामगान में प्रयुक्त कतिपय विशिष्ट ध्वनि समूहों का उच्चारण

सामगान के प्रसंग में किट्-किट्, प्न्य और ह् इन ध्वनियों का उच्चारण समय-समय पर करने का विधान है। इन ध्वनि-समूहों के उच्चारण-स्थान का विवेचन प्रासंगिक न होने से अन्य प्रातिशाख्यों में नहीं किया गया है। सामवेद से सम्बद्ध होने के कारण ऋक्तन्त्र में सामगान में प्रयुक्त इन विशिष्ट ध्वनि-समूहों के उच्चारण-स्थान का भी निर्देश किया गया है, जो इस प्रकार है—

हनु—जम्भ प्रदेश को 'हनु' कहा जाता है[१]। आरण्य सामगान और स्तोभगान में 'किट्-किट् ध्वनियों का उच्चारण किया जाता है[२]। इस ध्वनि का विवेचन याग के प्रसंग में विभिन्न संहिताओं में किया गया है[३]। क् इ ट् के पृथक्-पृथक् उच्चारण स्थान निर्दिष्ट किये जा चुके हैं[४]। यह एक विशिष्ट ध्वनि है। इस ध्वनि के एक साथ समग्रता में उच्चारण के लिए हनु नामक स्थान का उल्लेख ऋक्तन्त्र में किया गया है[५]।

संस्वाद—*सामों के गायन के सन्दर्भ में आरण्यकगान के व्रत पर्व में 'प्न्य' इस ध्वनि समूह के उच्चारण किये जाने का उल्लेख है।[६] इस ध्वनि के लिए ऋक्तन्त्र में संस्वाद शब्द का प्रयोग हुआ है। संस्वाद शब्द की निष्पत्ति

---

१. हनुः यत्र जम्भाख्या दन्ताः जायन्ते। —शब्दकल्पद्रुम, खण्ड-५, पृ०, ५०३

२. आयाम। ३। नामाः। ३। किट् किट्।...।
सामाश्रमी, सत्यव्रत, सामवेद, द्वितीय खण्ड, आरण्यकगान, पृ०, ४८५
तु० अयम्। नमः। किट्। मनः। प्राणः। —वही, स्तोभगान, पृ०, ५३७

३. किक्किटाकारं जुहोति ग्राम्याणां पशुनां धृत्यै। —तै० सं० ३.४.३.५
तु० किक्किटाकारादारण्याः प्रत्रसन्ति। —का० सं०, १३.१२

४. क का उच्चारण स्थान जिह्वामूल, इ का तालु और ट का मूर्धा है, परन्तु इस प्रसंग में इनका एक साथ उच्चारण हनु से किया जाता है।

५. किट्किडाकारो हन्वाम्। —ऋ० तं०, २.१.१०

६. ओ २। वा २३४। ओ होवा। प्न्य त्रिर्गसेत्) सामवेद, सातवलेकर, ग्रामेगेय आरण्यक गानात्मकः आरण्यक गान, व्रतपर्व, १७५ गान, पृ०२४१

* संस्वाद और निगार के विशेष अध्ययन के लिए मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत महाविद्यालय के भूतपूर्व वेद विभागाध्यक्ष, पं० ए० ए० रामनाथ दीक्षित का कृतज्ञ हूँ।

सम् पूर्वक श्वस् धातु से की जा सकती है। य व्युत्पत्ति संस्वाद शब्द के श्वास वायु से सम्बन्ध को स्पष्ट कर देगा। 'प्न्य' के उच्चारण में वायु झटके के साथ बाहर निकलती है। संभवतः इस ध्वनि समूह को इसीलिए संस्वाद कहा गया है। प्न्य में प्, न् तथा यकार का उच्चारण अलग-अलग नहीं होता, परन्तु तीनों ध्वनियों का उच्चारण एक साथ संयुक्त रूप से किया जाता है। ऋक्तन्त्र में इस ध्वनि समूह का उच्चारण अविशेष स्थान अर्थात् सर्वस्थान प्राप्त कहा गया है[1]।

निगार—सामगान में यथावसर 'हूँ' ध्वनि का उच्चारण किया जाता है[2]। इस ध्वनि को निगार कहा गया है[3]। निगार शब्द नि उपसर्ग पूर्वक निगरण अर्थ वाली गृ धातु से निष्पन्न है। इसका आशय निगलने से है। हूँ इस ध्वनि का उच्चारण करते समय वायु को अन्दर की ओर खींचा जाता है। निगरण क्रिया से सम्बन्ध होने के कारण इसे 'निगार' कहा जाता है। हूँ में हकार, मकार और नासिक्य ध्वनियों का समाहार है। इस समाहार का उच्चारण करते समय तीनों ध्वनियों का एक साथ ही उच्चारण किया जाता है, अतः ऋक्तन्त्र में इसे अविशेष स्थान तथा वृत्ति में सर्वस्थान प्राप्त कहा गया है[4]।

सामगान में प्रयुक्त विशिष्ट ध्वनि समूहों का उच्चारण

स्थान	ध्वनि समूह
हनु	किट् किट्
संस्वाद	प्न्य
निगार	हूँ

१. (क) अविशेष स्थानौ संस्वाद निगारौ। —ऋ०तं०, २.२.१
(ख) पकारनकारयकारावासंस्वादे। —ऋ०तं०, २.२.१ पर वृत्ति।
२. हिम्। (त्रिः)। हो। (त्रिः)। हूँ। (त्रिः)।
—आरण्यकगान, व्रतपर्व, पृ० २०५
तु० (क) चकामे ३। हूँ हूँ हूँ हूँ हूँ। (द्वे त्रिः)। —वही, पृ० २१०
(ख) हो। (त्रिः)। हूँ। (त्रिः)। —वही, शुक्रियपर्व, पृ०, २५८
(ग) ऊँ हूँ, २३४५। —वही तवश्यावीयसाम १
३. (क) अविशेषस्थानौ संस्वादनिगौरौ। —ऋ० तं०, २.२.१
(ख) हकार मकार नासिक्या वा निगारे। —ऋ० तं०२.२.१ पर वृत्ति।
४. अविशेषस्थानौ भवतः सर्वस्थानप्राप्तौ संस्वादनिगारौ।
—ऋ० तं०,. २.२.१ पर वृत्ति।

वर्णों का विशद ध्वन्यात्मक विवेचन

भाषा को सर्वग्राह्य बनाने का माध्यम लिपि है। किसी वर्ण को लिपि-बद्ध करने मात्र से उसकी सम्पूर्ण विशेषताओं का ज्ञान नही हो सकता। वर्ण के सम्पूर्ण गुणों को प्रस्तुत करने के लिए उनका विवरण अत्यन्त ही आवश्यक होता है। ध्वनियों के विवेचन के लिए संस्कृत के अक्षर-समाम्नाय को इस प्रकार विभक्त किया जा सकता है—

स्वर

(१) समान (२) सन्ध्यक्षर

व्यञ्जन

(अ) स्पर्श—(१) कण्ठ्य (२) तालव्य (३) मूर्धन्य
(४) दन्त्य (५) ओष्ठ्य

(ब) अन्तःस्थ

(स) ऊष्मन्

अयोगवाह

(१) विसर्जनीय (२) जिह्वामूलीय (३) उपध्मानीय
(४) अनुनासिक (५) यम (६) अनुस्वार

सामवेदीय ध्वनि

(१) किट्-किट्। (२) प्न्य (३) ह

द्वित्व

ऋक्तन्त्र के अनुसार उपर्युक्त वर्णों का ध्वन्यात्मक विवेचन इस प्रकार है—

स्वर

समान

अ—यह ह्रस्व, दीर्घ, वृद्ध स्वर है। इसमें नादानुप्रदान, विवृत, कण्ठ्य आदि ध्वनि-गुण हैं। इसका करण हनु मध्य है।

इ—यह द्वितीय समान स्वर है। यह मात्रा-त्र्यात्मक, नादानुप्रदान, विवृत, एवं तालव्य ध्वनि है। इसका करण जिह्वामध्य माना गया है।

उ—यह त्रिमात्रा-युक्त, नादानुप्रदान, विवृत एवं ओष्ठ्य ध्वनि है। ओष्ठ की सहायता से उच्चरित होने के कारण इसका करण भी ओष्ठ ही है।

ऋ—यह चतुर्थ समानाक्षर है। यह भी ह्रस्व, दीर्घ, वृद्ध मात्रायुक्त, नादानुप्रदान, विवृत और जिह्वामूलीय ध्वनि है। इसका कारण हनु मूल है।

लृ—यह पञ्चम एवं अन्तिम समान स्वर है। इसमें तीन मात्राएँ होती हैं। इसका अनुप्रदान नाद संज्ञक वायु है। आभ्यन्तर प्रयत्न विवृत है। यह दन्त स्थानीय है एवं करण जिह्वाग्र है।

सन्ध्यक्षर

ए—इसको प्रथम सन्ध्यक्षर माना गया है। यह अ+इ (=ए) के संयोग के फलस्वरूप निष्पन्न हुआ है। यह नादानुप्रदान, विवृत, दीर्घ, वृद्ध, तालु स्थानीय ध्वनि है। इसका करण जिह्वामध्य है।

ऐ—यह द्वितीय सन्ध्यक्षर है। यह अ+ए की सन्धि का फल है। यह नादानुप्रदान, विवृततर, दीर्घ, वृद्ध एवं तालुस्थानीय ध्वनि है। इसका करण जिह्वामध्य है।

ओ—यह अ+उ=(ओ) के संयोग के फलस्वरूप निष्पन्न तृतीय सन्ध्यक्षर है। इसमें नादानुप्रदान, विवृत, दीर्घ, वृद्ध एवं ओष्ठ्य आदि ध्वनि गुण हैं। ओष्ठ इसका करण है।

औ—यह अन्तिम सन्ध्यक्षर है। इसकी निष्पत्ति अ+ओ (=औ) के संयोग के उपरान्त हुई है। यह नादानुप्रदान, विवृततर, दीर्घ, वृद्ध, ओष्ठ्य ध्वन्यात्मक वर्ण है। इसका करण ओष्ठ हैं।

व्यञ्जन

स्पर्श— व्यञ्जन के अन्तर्गत आने वाले वर्णों में स्पर्श वर्णों का स्थान प्रमुख है। इनको निम्नवर्णित भागों में विभक्त किया गया हैं—

(१) कण्ठ्य	(२) तालव्य	(३) मूर्धन्य
(४) दन्त्य	(५) ओष्ठ्य	(६) उरस्य
(७) जिह्वामूलीय		

उपर्युक्त वर्णों का विवरण निम्नलिखित है।

क—यह कवर्गीय प्रथम वर्ण है। इसमें श्वासानुप्रदान, अघोष, जिह्वामूल एवं दुःस्पृष्ट ध्वनिगुण है।

ख—यह कवर्गीय द्वितीय वर्ण है। यह श्वासानुप्रदान, सोष्म, अघोष, स्पृष्ट एवं जिह्वामूलीय ध्वनि है।

ग—कवर्ग का तृतीय वर्ण है। यह घोष, नादानुप्रदान, संवृत, घोष, स्पृष्ट एवं जिह्वामूल ध्वनि गुणों से युक्त है।

घ—यह कवर्गीय चतुर्थ वर्ण है। इसका ध्वनि-गुण संवृत, घोष, नादानुप्रदान, सोष्म, स्पृष्ट एवं जिह्वामूल है।

ङ—यह अपने वर्ग का पञ्चम और अन्तिम अनुनासिक अक्षर है। यह घोष, संवृत, नादानुप्रदान, स्पृष्ट एवं जिह्वामूलीय वर्ण है।

च—यह चवर्गीय प्रथम तालव्य ध्वनि है। इसका अन्य गुण अघोष, श्वासानुप्रदान, स्पृष्ट है।

छ—यह चवर्गीय द्वितीय तालुस्थानीय ध्वनि है। इसमें सोष्म, श्वासानुप्रदान, अघोष, स्पृष्ट आदि गुण अवस्थित है।

ज—यह अपने वर्ग का तृतीय तालव्य वर्ण है। यह घोष, नादानुप्रदान, संवृत एवं स्पृष्ट आदि ध्वन्यात्मक गुणों से युक्त है।

झ—यह चवर्गीय चतुर्थ तालव्य ध्वनि है। इसमें घोष, नादानुप्रदान, सोष्म, संवृत, स्पृष्ट आदि ध्वनि गुणों का समाहार है।

ञ—यह अन्तिम चवर्गीय तालव्य ध्वनि है। इसकी ध्वनिगत विशेषताओं में घोष, नादानुप्रदान, संवृत, अनुनासिक, स्पृष्ट आदि की गणना की गई है।

ट—यह प्रथम मूर्धन्य ध्वनि है। इसके अन्य गुण हैं—श्वासानुप्रदान, अघोष, स्पृष्ट।

ठ—यह द्वितीय मूर्धन्य ध्वनि है। इसके अन्य ध्वनि-वैशिष्ट्य में अघोष, श्वासानुप्रदान, सोष्म एवं स्पृष्ट की गणना की गई है।

ड—यह तृतीय मूर्धन्य वर्ण है। यह घोष, नादानुप्रदान, संवृत एवं स्पृष्ट आदि ध्वनिगत विशेषताओं से युक्त है।

ढ—यह चतुर्थ मूर्धन्य अक्षर है। इसके अन्य ध्वन्यात्मक गुण हैं—घोष, नादानुप्रदान, सोष्म, संवृत एवं स्पृष्ट।

ण—यह अन्तिम, अनुनासिक एवम् मूर्धन्य ध्वनि है। यह घोष, नादानुप्रदान, संवृत एवं स्पृष्ट आदि ध्वनि गुण युक्त है।

त—यह तवर्गीय प्रथम दन्त्य वर्ण है। इसमें अघोष, श्वासानुप्रदान एवं स्पृष्ट ध्वनि-गुण का समावेश है।

थ—यह तवर्गीय द्वितीय दन्त्य वर्ण है। इसके ध्वनिगत गुण हैं—सोष्म, अघोष, श्वासानुप्रदान एवं स्पृष्ट।

द—यह तृतीय दन्त्य वर्ण है। इसमें घोष, नादानुप्रदान, संवृत, एवं स्पृष्ट ध्वन्यात्मक गुण विद्यमान हैं।

ध—यह तवर्गीय चतुर्थ दन्त्य ध्वनि है एवं सोष्म, घोष, नादानुप्रदान, संवृत, स्पष्ट ध्वनि है।

न—यह दन्त्य वर्गीय अन्तिम अनुनासिक ध्वनि है। इसमें घोष, नादानुप्रदान, संवृत एवं स्पृष्ट गुणों की अवस्थिति है।

प—यह पवर्गीय प्रथम ओष्ठ्य वर्ण है एवं यह अघोष, श्वासानुप्रदान, स्पृष्ट गुण से युक्त है।

फ—यह पवर्गीय द्वितीय ओष्ठ्य वर्ण है। इसमें सोष्म, अघोष, श्वासानुप्रदान एवं स्पृष्ट गुण हैं।

ब—यह पवर्गीय तृतीय ओष्ठ्य ध्वनि है। इसके गुण हैं—घोष, नादानुप्रदान, संवृत एवं स्पृष्ट।

भ—यह अपने वर्ग का चतुर्थ ओष्ठ्य वर्ण है। इसमें सोष्म, घोष, नादानुप्रदान, एवं स्पृष्ट गुणों का अवस्थान है।

म—यह पवर्गीय अन्तिम, अनुनासिक एवं ओष्ठ्य वर्ग है। इसके ध्वन्यात्मक गुणों में घोष, नादानुप्रदान, संवृत एवं संस्पृष्ट का परिगणन किया गया है।

अन्तःस्थ—अन्तःस्थ वर्णों में य, र, ल एवं व की गणना की गई है। इनका विवरण अधोलिखित है—

य—यह अन्तःस्थ वर्णों में प्रथम है। इसमें घोष, नादानुप्रदान, तालु, संवृत एवं दुःस्पृष्ट आदि गुणों का अवस्थान है।

र—यह द्वितीय अन्तःस्थ वर्ण हैं। इसके गुण हैं—घोष, नादानुप्रदान, संवृत एवं दुःस्पृष्ट एवं दन्तमूलीय।

ल—यह अन्तःस्थ वर्णों में तृतीय स्थानीय है। इसमें दन्त्य, घोष, नादानुप्रदान संवृत एवं दुःस्पृष्ट गुण समाविष्ट है।

व—यह अन्तिम अन्तःस्थ वर्ण है। इसका ध्वन्यात्मक गुण ओष्ठ्य, घोष, नादानुप्रदान, एवं दुःस्पृष्टत्व है।

ऊष्मन्—ऊष्मन् वर्णों के अन्तर्गत ह श ष एवं स की गणना की गई है। इसका ध्वनिगत-गुण इस प्रकार है—

ह—यह प्रथम ऊष्मवर्ण है। इसमें कण्ठ्य, घोष, नादानुप्रदान, संवृत एवं विवृत आदि गुणों का समाहार है।

श—यह द्वितीय ऊष्मवर्ण है। इसके गुणों में अघोष, श्वासानुप्रदान, तालु विवृत आदि की गणना की गई है।

ष—यह तृतीय ऊष्मवर्ण है। इसमें मूर्धन्य, अघोष, श्वासानुप्रदान एवं विवृत गुण आते हैं।

स—यह अन्तिम ऊष्मवर्ण है। इसके गुणों में दन्त्य, अघोष, श्वासानुप्रदान एवं विवृत प्रमुख है।

अयोगवाह

विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुनासिक, यम और अनुस्वार को अयोगवाह कहा जाता है। ये ध्वनियाँ पराश्रित होती हैं। अतएव जिन वर्णों से संयुक्त होती है, उसी वर्ण का अङ्ग हो जाती हैं। अतः इन ध्वनियों के अधिकांश गुण अङ्गी ध्वनियों के ही होते हैं। इनके विशिष्ट गुणों का विवेचन इस प्रकार है।

विसर्जनीय (अः)—इसको कण्ठ्य या उरस्य पराश्रित ध्वनि कहा गया है।

जिह्वामूलीय (क)—यह जिह्वामूल से उच्चरित होने वाली पराश्रित ध्वनि है।

उपध्मानीय (घ)—यह ओष्ठ्य पराश्रित ध्वनि है।

अनुनासिक—हुं को अनुनासिक माना गया है। यह नासिका से उच्चरित होने वाली पराश्रित ध्वनि है।

यम—कुं खुं गुं एवं घुं इत्यादि यम वर्णों को नासिक्य ध्वनि कहा गया है।

अनुस्वार (अं आं)—यह भी नासिक्य पराश्रित ध्वनि है।

सामवेदीय ध्वनियाँ—ऋक्तन्त्र सामवेद से विशेषतः सम्बद्ध है। अतः कुछ ध्वनियों का विवेचन ऋक्तन्त्र में किया गया है, जो इस प्रकार है—

किट्-किट्—इसका उच्चारण स्थान हनु है।

ण्य—यह संस्वाद में उच्चारित होने वाली ध्वनि है।

ह—यह ध्वनि निगार में उच्चारित होती है।

द्वित्त्व का उच्चारण

वर्णोच्चारण के प्रसंग में ऋक्तन्त्र में द्वित्त्व के उच्चारण का भी विवेचन मिलता है। परिस्थिति विशेष में व्यञ्जन के उच्चारण से पूर्व उसी व्यञ्जन का एक अतिरिक्त उच्चारण प्राप्त होता है, जिसे द्वित्त्व कहते हैं। अन्य ग्रंथों में इसे 'क्रम'[१] 'द्विवर्ण'[२] 'द्विरुक्ति'[3] और 'द्विर्भाव'[४] भी कहा गया है। ऋक्तन्त्र के अनुसार द्वित्त्व का उच्चारण अधोनिर्दिष्ट परिस्थितियों में होता है।

द्वित्त्व-उच्चारण के नियम

ऋक्तन्त्र में द्वित्त्व-उच्चारण से सम्वन्धित अधोलिखित नियम प्रतिपादित है—

(१) ह्रस्व स्वर से परे स्पर्श वर्ण का द्वित्त्व उच्चारण प्राप्त होता है।[५] यथा;

(क) तदावृण

यहाँ प्रस्तुत नियम से दकार का द्वित्त्व उच्चारण होता है।

(ख) 'हुम्' शब्द के मकार में यदि स्वर हो तो मकार द्वित्त्व उच्चारण को प्राप्त हो जाता है।[६] यथा;

हुम्म

---

१. क्रम शब्दो द्वित्त्वपर्यायः। —तै०प्रा०; २१.१६ पर उ०भा०

२. व्यञ्जनपूर्वं व्यञ्जनं द्विवर्णं व्यञ्जनपरम्। —तै०प्रा०, १४.१

३. तत्र पूर्वो ककारो द्विरुक्तिजः। —वा०प्रा०, ४.१०१, पर उ०भा०

४. तत्र व्यञ्जनमात्रस्य द्विर्भावो वक्ष्यति। —वा०प्रा०, ४.१०२, अनन्तभट्ट भाष्य

५. द्विस्पर्शः। —ऋ०तं०, ५.५.९

तु० ङणन ह्रस्वोपधाः स्वरे च०अ०, ३.२७,

(१) सा०वे०, १.१३८

६. हुम्। —ऋ०तं०, ५.६.१

(ग) स्वर के बाद आने वाले संयुक्त व्यञ्जन का आदि वर्ण दो बार उच्चारित होता है।[1] यथा;

(क) प्र मंहिष्ठा (ख) अभिप्रियाणि (ग) अभि प्र वः
यहाँ पर स्वर के बाद आने वाले संयुक्त व्यञ्जन मं में म और प्र में प दो बार उच्चारित होते हैं।

(घ) स्वर के बाद हकार और रेफ हो तो दोनों दो बार उच्चारित होते हैं।[2] यथा;

(क) विह्लुतम् (ख) आजुह्वानस्य (ग) दुदुह्रिरे (घ) अर्केभिरर्किणः
उपर्युक्त स्थलों पर हकार और रेफ दो बार उच्चारित होते हैं।

(ङ) संयुक्त ऊष्म वर्ण के बाद यदि व्यञ्जन हो तो ऊष्म वर्ण द्वित्त्व उच्चारण को प्राप्त करता है।[3] यथा;

---

१. रात् सण् —ऋ०तं०, ५.६.४
तु० (क) स्वरानुस्वारोपहितो द्विरुच्यते संयोगादिः स क्रमो विक्रमे सन्। —ऋ०प्रा०, ६.१
(ख) स्वरपूर्वं व्यञ्जनं द्विवर्णम् व्यञ्जनपरम्। —तै०प्रा०, १४.१
(ग) स्वरात् संयोगादिर्द्विरुच्यते सर्वत्र। —वा०प्रा०, ४.९९
(१) सा०वे० १.१०७, (२) सा०वे०, १,५५४
(३) सा०वे०, १.२३५

२. र हात्। —ऋ०तं०, ५.६.५
तु० (क) परं रेफात्। —ऋ०प्रा०, ६.४
(ख) परं तु रेफहकाराभ्याम्। -वा०प्रा०, ४.१००
(ग) रेफात्परं च। —तै०प्रा०, १४.४
(घ) रेफहकारौ परं ताभ्याम्। —च०अ०, ३.३१
(ङ) अचो रहाभ्यां द्वे। —पा०सू०, ८.४.४६
(१) सा०वे०, १.२४४ (२) सा०वे०, १.४६५
(३) सा०वे०, १.५६० (४) सा०वे०, १.१९८

३. ऊष्मा व्यञ्जने। —ऋ०तं०, ५.६.६
तु० (क) तै०प्रा०, १४.४.६
(ख) च०अ०, ३.३१, ३२
(ग) पा०सू०; ८.४.४६, ४९
(१) आ०ब्रा० २.२३-१८
(२) सन्दर्भ निर्दिष्ट नहीं है।

(क) वार्ष्यायणीपुत्रः

(ख) वार्ष्यः

प्रस्तुत प्रसंग में षकार संयुक्त ऊष्म है । अतएव इसका द्वित्त्व उच्चारण होता है।

वर्णोच्चारण के प्रसंग में ऋक्तन्त्र में वाह्य प्रयत्न, आभ्यन्तर प्रयत्न और उच्चारण स्थान के आधार पर वर्णों का विवेचन किया गया है। ऋक्तन्त्र की सामवेद के साथ सम्बद्धता के कारण उच्चारण में संस्वाद, निगार एवं हनु का विवेचन विशिष्ट प्रकार से किया गया है, जो अन्य प्रातिशाख्यों में अप्राप्य है। ये विशेषताएं केवल सामवेद से ही सम्बन्धित हैं।

३

अक्षर

अक्षर का स्वरूप

अक्षर को भाषा की मूल इकाई माना गया है, जो अपने में पूर्ण है। अपने अस्तित्व के निमित्त इसे किसी पर निर्भर नहीं होना पड़ता। निरपेक्ष होने के कारण इसकी सत्ता पूर्णरूपेण स्वतन्त्र है, तथा सापेक्ष होने के कारण व्यञ्जन अक्षरो पर ही आश्रित रहते हैं।[1] इसी कारण व्यञ्जन में उदात्त अनुदात्तादि गुणों का अभाव होता है, क्योंकि ये उदात्तादि अक्षर के धर्म हैं।[2] इन स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष वर्णों के लिए अक्षर के साथ ही शब्द का भी प्रयोग होता है।

---

१. वर्ति। भूयान। —ऋ०तं०, २.५.७.८

तु० (क) ऋ०प्रा०, १.१६, २२ एवं १८.३२

(ख) न क्षरन्तीत्यक्षराणि क्षरणमन्याङ्गतया चलनम्।
—तै०प्रा० १.२ पर वै०आ०

(ग) व्यञ्जनं केवलमवस्थातुं न शक्नोति; किन्तु सापेक्षं स्वरस्तु निरपेक्षः। सापेक्षनिरपेक्षयोर्निरपेक्षमेव विशिष्टमाचक्षन्ते प्रेक्षावन्तः। विशिष्टंप्रत्यङत्वमविशिष्टस्यैव।
—तै०प्रा०, २१.१ पर त्रि०

(घ) दुर्बलस्य यथा राष्ट्रं हरते बलवान् नृपः।
दुर्बलं व्यञ्जनं तद्वद्धरते बलवान् स्वरः।
मणिवत्व्यञ्जनान्याहुः सूत्रवत्स्वर इष्यते।
व्यञ्जनान्यनुवर्तन्ते यत्रतिष्ठति स स्वरः॥—या०शि०, २९.३०

२. (क) अक्षराश्रयाः। —ऋ०प्रा०, ३.२

(ख) वेदस्योच्चारणवेलायां स्वरधर्मा उदात्तादि मुणात्तत्तत्समीपस्थेषु व्यञ्जनेष्वपि निविशन्ते प्रदीपप्रभेव घटादिषु।
—तै०प्रा०, २१.१ पर वै०आ०

अक्षर शब्द की निष्पत्ति 'क्षर् सञ्चलने' धातु से अच् प्रत्यय होने से अथवा 'अशू व्याप्तौ' धातु से सर या औणादिक सरन् प्रत्यय से मानी गई है ।[1] इससे स्पष्ट है कि अक्षर संचलन-रहित अर्थात् निरपेक्ष है । व्यञ्जन, अनुस्वार तथा उदात्तादि धर्म इसी पर आश्रित है । इसी को ध्यान में रखकर इसका निर्वचन 'न क्षरतीतिअक्षरम्' किया गया है ।[2]

अक्षर शब्द को दार्शनिक और वैयाकरण इन दोनों सम्प्रदाय के अनुयायियों ने स्वीकार किया है ।

(अ) **दार्शनिकों का अक्षर—**

अक्षर शब्द का व्यवहार प्रमुखतया दो अर्थों में प्राचीन काल से ही होता रहा है । इस शब्द का अर्थ अविनश्वर होने मे सृष्टि का मूलतत्त्व अक्षर कहा जाने लगा, तथा इसी गुण के कारण भाषा की मूल इकाई भी अक्षर शब्द से व्यवहृत होने लगी ।[3] दार्शनिक अर्थ में अक्षर शब्द का प्रयोग परमतत्त्व के

(ग) स्वर उच्चः स्वरो नीचः स्वरः स्वरित एव च ।
व्यञ्जनान्यनुवर्तन्ते यत्र तिष्ठति स स्वरः ॥
स्वरप्रधानं त्रैस्वर्यमाचार्याः प्रतिजानन्ते ।
मणिवद व्यञ्जनं विद्यात् सूत्रवच्च स्वरं विदुः ॥
—ना०शि०, २.५.३, ४

(घ) नैते (अनुदात्तादयः) व्यञ्जनस्य गुणा अच एते गुणाः । तत्सामीप्यात्तु व्यञ्जनमपि तद्गुणमु-पलभ्यते—। —पा०सू०, १.२.२९ पर म०भ०

१. धा०पा०, ३५०
तु० अश्नोतेर्वा सरो क्षरम् । अश्नोतेर्वा पुनरयमौणादिकः सरन् प्रत्ययः । अश्नुत इत्यक्षरम् । —म०भा०, १.१.२

२. नि०, १३.१२
तु० अथ किमिदमक्षरमिति ? अक्षरं न क्षरं विद्यात् । न क्षीयते क्षरति वा अक्षरम् । —म०भा०, १.१.२

३. (क) ऋचो क्षरे परमे व्योमन् । —ऋ०, १.१६४.३९, ४१
(ख) श०ब्रा०, ६.१.३.६ (ग) मु०उ०, १.१७
(घ) निघण्टु, १.११.४६ (ङ) नि०, १३.१०.११
(च) गीता, १५.१७.१८
तुलनीय अक्षर का उदक अर्थ—
(क) ततः क्षरत्यक्षरं तद् विश्वमुपजीवति । —ऋ०, १.१६४.४२
(ख) निघण्टु, १.१२.३६ (ग) नि०, ११.४०, ४१

प्रतीक के रूप में अत्यन्त प्राचीनकाल से ही किया जाने लगा था। अपने मौलिक अर्थ—निरपेक्षता, अक्षयत्व, अविनाशित्व एवं परिव्याप्तत्त्व के आधार पर ही यह परमतत्त्व के वाचक के रूप में स्वीकार किया गया। यह समस्त प्राणियों का अतिक्रमण करता है, परन्तु इसका अतिक्रमण कोई भी नहीं कर सकता।[1] अतएव यह अक्षर है।

अक्षरब्रह्म तथा शब्दब्रह्म का ऐक्य स्थापित करके उसके विवर्त के रूप में क्रमशः जगत् एवं वाङ्मय का व्याख्यान किया गया है। अक्षर-ब्रह्म से जैसे सृष्टि का विवर्तन होता है, उसी प्रकार अर्थभाव से भाषा के समस्त व्यापारों के विवर्तन का हेतु शब्दब्रह्म माना गया है।[2]

(ब) वैयाकरणों का अक्षर—

अपने में परिपूर्ण, स्वतन्त्र और मूल इकाई के लिए विद्वानों में अत्यन्त प्राचीन काल से ही भाषा की मीमांसा के प्रसंग में अक्षर शब्द का प्रयोग किया है। व्याकरण की दृष्टि से विचार करने पर अक्षर शब्द का प्रयोग शब्दांश[3], वर्ण[4] और स्वर[5]—इन अर्थों में प्रमुख रूप से प्राप्त होता है।

---

१. एष वा अक्षर एष ह्येभ्यः सर्वेभ्यो भूतेभ्यः क्षरति न चैनमतिक्षरत्ति तस्मादक्षयम्। तस्मादक्षरमित्याचक्षत एतमेव सन्तम्। —ऐ०ब्रा०, २.२.२

२. अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यथा॥ —वा०प०, १.१

३. ऋ०, १.१६४.२४
तु० (क) ऋ०प्रा०, १८.३२ (ख) तै०प्रा०, २०.२.२४, ४
(ग) ऋ०तं०, १.४ (घ) पा०शि०, २७
(ङ) या०शि०, ७३

४. श०ब्रा०, ४.३.२७
तु० (क) ऐ०आ०, ३.२.३ (ख) ऋ० तं०, १.४
(ग) म०भा०, १.१.२

५. ऋ०प्रा०, १.१७.१६
तु० (क) वा०प्रा०, १.९९ (ख) च०अ०, १.९३
(ग) ऋ०तं०, २.५.६ (घ) पा०शि०, २७
(ङ) व०प्र०शि०, ८

व्याकरण में अक्षर शब्द के अर्थ का आधार इसका दार्शनिक भाव ही है, इसीलिए अक्षर ब्रह्म अथवा शब्दब्रह्म मूलतत्त्व का पर्याय माना जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि दार्शनिक चिन्तन पर आधारित अक्षर शब्द का मूलभाव व्याकरण के क्षेत्र में प्रचलित अक्षर शब्द के अर्थ में सन्निहित है। ऋक्तन्त्रकार ने भी इस सामान्य अर्थ में अक्षर शब्द को ग्रहण किया है तथा इसका पर्यालोचन किया है।

अक्षर-प्रभेद

ऋक्तन्त्र में प्रायोगिक दृष्टि से अक्षर के दो भेद किए गए हैं—

(अ) घु (=लघु)—यह लघु का एकाक्षरात्मक रूप है।[1] सामान्यतया इसका प्रयोग ह्रस्व के ही अर्थ में होता है। व्यञ्जनान्त, असंयोग पर और अनुसार रहित वर्ण को लघु 'कहा' जाता है।[2] इस शब्द की निष्पत्ति ह्रस्व अर्थ वाली 'लघि' धातु से मानी गई है। इन वर्णों का उच्चारण शीघ्रता से होने के कारण इन्हें लघु अभिधान से अभिहित किया जाता है। 'लघु' की समानार्थक अनेक संज्ञाओं का प्रयोग प्रातिशाख्य तथा व्याकरण ग्रन्थों में मिलता है। इनमें लघीय,[3] लाघव[4] प्र-घि,[5] और वामन[6] संज्ञाएं प्रमुख हैं।

(ब) गुरु—अनुस्वार सहित, संयोग पर, व्यञ्जनान्त और अवसान प्राप्त वर्ण के 'गुरु' कहा जाता है।[7] यह संज्ञा द्विमात्राकालिक दीर्घ के ही अर्थ

---

१. युग्मं घु। —ऋ०तं०, ५.३.१

तु० (क) सा०तं०, ७.३.८ (ख) स्वर्घो घुरु। —मु०, ५४०

२. लघु ह्रस्वं न चेत् संयोग उत्तरः। —ऋ०प्रा०, १८.३८

तु० (क) तै०प्रा०, २२.१४, १५ (ख) च०आ०, १.५१

(ग) पा०सू०, १,२.२७ (घ) ह्रस्वो लघुः। सु०व्या०, १.१६

(ङ) संयोगपरो ह्रस्वो विसर्गाद्युग्झितो लघुः। —हैम प्रकाश

३. लघीयो व्यञ्जनादृते। —ऋ०प्रा०, १८.४४

४. वर्णस्थं गुरु लाघवं···। —सु०, र०भा०, ६२.२७६

५. प्रोघि च। —जै०व्या०, .२.१११

६. वामनो लवुः। —हरिना०, १.७९

७. गुरु सणि। —ऋ०तं०, ५.५.९

तु० (क) गुरुणि दीर्घाणि। तथेतरेषां संयोगानुस्वारपराणि यानि। —ऋ०प्रा०, १.२०.२१

(ख) तै०प्रा०, २२.१४ (ग) वा०प्रा०, ४.१०९

में प्रयुक्त हुई है। 'गृधातु' से इसे व्युत्पन्न माना गया है।[1] ह्रस्व वर्ण की अपेक्षा इसके उच्चरण में अधिक समय लगता है अतः इसको गुरु कहते हैं। इसके लिए 'रु'[2] और 'त्रिविक्रम'[3] संज्ञा का भी प्रयोग किया गया है।

अक्षर एवं व्यञ्जन का अङ्गाङ्गिभाव

वाक्य या पद में स्वर के आधार पर ही अक्षरों की संख्या का निर्धारण किया जाता है एवं गणना की जाती है। ऋक्तन्त्र में अक्षर के अङ्गाङ्गि-भाव-विषयक अधोलिखित नियमों का विवेचन किया गया है—

१. पद के अवसान या अन्त में अवस्थित व्यञ्जन पूर्ववर्ती स्वर (अक्षर) का अङ्ग होता है।[4] यथा;

(१) यदिन्द्र पाक् (२) वण् महां
(३) यदद्य कत् (४) प्रत्यङ्

यहां क्, ण्, त् और ङ् अवसान में स्थित हैं, और अपने पूर्ववर्ती स्वर के अङ्ग हैं।

(घ) च०अ०, २.५२, १.५३, ५४
(ङ) संयोगे गुरु। दीर्घञ्च। —पा०सू०, १.४.११, १२
(च) दीर्घो विसर्गानुस्वारयुक् संयोगपरो गुरुः। —हैम प्रकाश
(छ) दीर्घो गुरुः। —सु०व्या० १.१७
(ज) प्रयो०व्या०, १.१५
(झ) सु०र०भा०, ६२.२७६

१. धा०पा०, १४६८
२. स्फेरुः। —जै०व्या०, १.२.१११
तु० स्वः स्ये रुः। —मुग्ध०व्या०, ५४१
३. त्रिविक्रमो गुरुः। —हरिना०, १.८०
४. व्यञ्जनं पूर्वस्यान्तस्वरम्। —ऋ०तं०, -.२.१०
तु० (क) व्यञ्जनान्युत्तरस्यैव स्वरस्यान्त्यं तु० पूर्वभाक्। —ऋ०प्रा, १८.३३
(ख) अवसितं पूर्वस्य। —तै०प्रा०, २१.३
(ग) अवसितं च। —वा०प्रा०, १.१०६
(घ) च०अ०, १.५७
(१) सा०वे०, १.२७९ (२) सा०वे०, १.२७६
(३) सा०वे०, १.१२६ (४) आ०सं०, ५२

२. क्रम अर्थात् द्वित्व-विधान से उत्पन्न वर्ण पूर्ववर्ती स्वर या अक्षर का अङ्ग होता है ।[1] यथा;

(१) आर्क्कम् (२) नर्य्यम् (३) प्र होत्रे पुर्व्यम्
(४) हर्य्यते (५) पवते हर्य्य— (६) महरस्य

उपर्युक्त स्थलों पर रेफ एवं सकार के बाद दो ककार, यकार और वकार का संयोग है जिसमें प्रथम ककार, यकार और वकार द्वित्व से उत्पन्न होने के कारण क्रमज हैं। अतः प्रस्तुत नियम से ये पूर्ववर्ती अकार या अ ऊकार के अङ्ग हैं ।

३. पद के अन्त में यदि व्यञ्जन और उससे पहले संयुक्त वर्ण हों तो संयोग का प्रथम व्यञ्जन पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है ।[2] यथा;

(१) यः पात्रम् (२) पन्यम्

यहाँ अन्तिम व्यञ्जन पूर्ववर्ती नियम-१ के अनुसार पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग है तथा 'त्र' और 'न्य'—इन संयुक्त वर्णों के आदि व्यञ्जन अपने पूर्ववर्ती स्वर के अङ्ग हैं ।

---

१. अभिनिधानः । —ऋ०तं० २.३.१
तु० (क) परेण चासंहितम् । —तै०प्रा०, २१.५
(ख) क्रमजं च । —वा०प्रा०, १.१०४
(ख) रेफहकार क्रमजं च । —च०अ०, १.५८
(१) सा०वे०, १.१५८ (२) सा०वे०, १.५६
(३) सा०वे०, १.९८ (४) सा०वे०, १.२२८
(५) सा०वे०, १.५७६ (६) सा०वे०, १.९७

२. व्यञ्जने । —ऋ०,तं०, २.३.२
तु० (क) संयोगादिर्वा । —ऋ०पा०, १.२५
(ख) संयोगादिश्चवैवं च । ऋ०प्रा०, १८.३५
(ष) संयोगादि । —तै०प्रा०, २२.४
(घ) संयोगादिः पूर्वस्य । —वा०प्रा०, १.१०२
(ङ) संयोगादि पूर्वस्य । —च०अ०, १.५६
(१) सा०वे०, १.४२४ (२) सा०वे०, १.१२३

४. अनुस्वार पूर्ववर्ती स्वर (अक्षर) का अङ्ग होता है[1]। यथा;

(१) त्रिंशत्पदा (२) अंसत्रम् (३) त्रिंशद्धाम

(४) अपां रेतांसि (५) नव्यांसम्

यहाँ सभी अनुस्वार अपने पूर्ववर्ती स्वर के अङ्ग हैं।

५. रेफ और लकार पूर्ववर्ती अक्षर के अङ्ग होते हैं। यदि व्य परे न हो तो[2]। यथा;

(१) अर्को देवानाम् (२) अर्कस्य देवाः (३) स्पर्धन्ते

(४) कार्धा (५) शुल्का (६) गद्द या

व्य परे न होने के कारण रेफ और लकार अपने पूर्ववर्ती अक्षर अकार, आकार और उकार के अङ्ग हैं।

६. ह्रस्व से परे संयुक्त स्पर्श अपने पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है।[3] यथा;

(१) सख्यं ते (२) अग्ने (३) न ज्यायः

(४) अरण्योः (५) अन्धसः (६) इन्द्रा

उपर्युक्त उदाहरणों में ख्, ग्, ज्, ण्, और न् ह्रस्व से परे ये स्पर्श वर्ण अपने पूर्ववर्ती अक्षरों अकार और इकार के अङ्ग हैं।

---

१. अनुस्वारौ च। —ऋ०तं०, २.३.३

तु० (क) पूर्वस्यानुस्वारविसर्जनीयौ। —ऋ०प्रा०, १.२४

(ख) विसर्जनीयानुस्वारौ भजेते पूर्वमक्षरम्। —ऋ०प्रा०, १८.३४

(ग) तै०प्रा०, २१.६

(१) सा०वे०, १.२८१ (२) सा०वे०, १.२७५

(३) सा०वे०, २.२७६ (४) सा०वे०, १.२७

(५) सा०वे०, १.२८

२. रलावव्यपरौ। —ऋ० तं०, २.३.४

(१), (२) इनका सन्दर्भ अज्ञात है। (३) सा० वे०, १.५३६

(४) सा० वे०, १.१०५ (५) सा० वे०, १.२६१

(५) सा० वे०, १.३०७

३. स्पर्शः स्वे। ऋ० त०, २.३.५ यह नियम अन्यत्र स्वतन्त्र रूप से अप्राप्य है।

(१) सा० वे०, १.३२४ (२) सा० वे०, १.१ (३) सा० वे, १.२०३

(४) सा० वे०, १.७९ (५) सा०वे०, १.३१३ (६) सा० वे०, १.३८८

७. दो स्वरों का मध्यवर्ती व्यञ्जन परवर्ती स्वर का अङ्ग होता है।[1] ऋक्तन्त्र में इस नियम का उदाहरण नहीं दिया गया है।

ऋक्तन्त्र में विवेचित उपर्युक्त नियमों का समाहार अन्य प्रातिशाख्यों में एकाधिक नियमों में भी किया गया है।

---

१. रादि रमन्यत्। —ऋ० तं०, २.३.६
तु० (क) स्वरान्तरे व्यञ्जनान्युत्तरस्य। —ऋ० प्रा०, १.२३
(ख) तत्परस्वरम्। —तै० प्रा०, २१.२
(ग) उत्तरैश्चावसितैः। —वा० प्रा०, १.१०१
(घ) परस्य स्वरस्य व्यञ्जनानि —च० अ०, १.५५

४

मात्रा

मात्रा का स्वरूप

ऋक्तन्त्र में मात्रा और उसके निर्धारण आदि विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है। मात्रा शब्द मापना अर्थवाली 'मा' धातु से निष्पन्न हुआ है। पहले मात्रा शब्द का आशय सामान्य मापक से था[1]। कालान्तर में यह काल-मापक इकाई के रूप में प्रयुक्त होने लगा। मात्रा शब्द वर्ण-उच्चारण-काल के अर्थ में अत्यन्त ही प्राचीन काल से प्रयुक्त होता रहा है। आरण्यकों और उपनिषदों में प्रणव सम्बन्धी विवेचन के प्रसङ्ग में उसकी मात्राओं का बराबर उल्लेख हुआ है[2]। वर्णोच्चारण-काल के रूप में मात्रा का विवेचन प्रातिशाख्यों का महत्त्वपूर्ण विषय है[3]।

---

१. (क) स मात्राभिर्ममिरे येमुरुर्वी···। —ऋ०, ३.३८.३
   (ख) मीयन्ते मान्तीति मात्राः। —ऋ०, ३.३८.३ पर सायणभाष्य

२. मात्रा। —ऋ० तं०, २.५.२
   तु० (क) यद्वेव मिमीते तस्मान् मात्रा। —श० ब्रा०, ३.६.४४
   (ख) गो० ब्रा०, १.१.२५ (ग) तै० आ०, ७.२१
   (घ) ···येन मात्रां विभजते···। ऐ० आ०, ३.१
   (ङ) छा० उ०, ३.१६ (च) बृ० उ०, ४.३.६, ४.३.३२
   (छ) तै० उ०, १.२.१ (ज) मा० उ०, ६.६.१०

३. ऋ० प्रा०, १.२७ तु० (क) तै० प्रा०, १६.३, २४.६
   (ख) वा० प्रा०, १.५६, ५६, ६१ (ग) च० अ०, १.३८.५०
   (घ) या० शि०, १६ (ङ) व० प्र० शि०, २२
   (च) म० श० शि०, ४५ (छ) कौ० शि०, २२
   (ज) प्रा० सू०, १.२.२७ (झ) का० व्या०, १.६
   (ट) प्रयो० व्या०, १.१०, ११ (ठ) एकद्वित्रिमात्राह्रस्वदीर्घप्लुताः। —हेम०, १.१.५

मात्रा के मानक

ऋक्तन्त्र में मात्रा के मानक के रूप में अणु, परमाणु, कला को स्वीकार किया गया है। जिनका विवरण अधोलिखित है—

(अ) **अणु**—मात्रा के सूक्ष्मतम मानक को 'अणु' कहा गया है। ऋक्तन्त्र के अनुसार अर्ध अकार का उच्चारण-काल 'अणु' शब्द से अभिधेय है।[1] वाजसनेयि-प्रातिशाख्य और चतुरध्यायिका में चौथाई मात्रा-काल को अणु कहा गया है।[2] यह अतिसूक्ष्म बतलाया गया है जो रजकण के सदृश्य होता है[3]।

(व) **परमाणु**—अणु के बाद परमाणु को मानक के रूप में स्वीकार किया गया है। ऋक्तन्त्र के अनुसार परमाणु दो वर्णों के मध्य विराम-काल है[4]। वाजसनेयि-प्रातिशाख्य मात्रा के आठवें भाग को परमाणु कहता है।[5] व्यास शिक्षा ने परमाणु का काल आधी मात्रा का काल माना है।[6] यह अणु का आधा भाग कहलाता है।[7]

(स) **कला**—तृतीय मानक है। कला के परिमाण के विषय में ऋक्तन्त्र में निर्देश नहीं है। यह परिमाण एक मिनट अड़तालीस सेकण्ड या आठ सेकण्ड का माना गया है[8]।

---

१. अर्धमणु। —ऋ० तं०, २.५.१

२. (क) वा० प्रा०, १.६ (ख) च० अ०, ३.६५

३. (क) कौ० शि०, २५
   (ख) तदर्धमणु तस्यार्ध परमाण्वभिधीयते। —व० प्र० शि०, २२
   (ग) चतुर्भिरणुभिमात्रा-परिमाणमिति स्मृतम्। —शौ० शि०,४७
   (घ) इन्दियाविषयोयो सावणुरित्युच्यते बुधैः। —शौ० शि०, ४६
   (ङ) कालो तिसूक्षमको णुः स्यात्। —व्या० शि०, २.३३
   (च) सूर्यरश्मिप्रतीकाशा कणिका यत्र दृश्यते।
   —लो० शि०, शि० स०, पृ०, २६२
   (छ) सकालो परमाणुर्वैयो भुङ्क्ते परमाणुताम्।
   सतो विशेषभुक् यस्तु स कालः परमो महान्।—भा० पु०, ३.११.४

४. वर्गान्तिरं परमाणु। —ऋ० तं०, २.४.४

५. परमाण्वर्धमात्रा। —वा० प्रा०, १.६१

६. मात्रार्धव्यक्तमात्रकम्। —व्या० शि०, २.३३

७. अणुर्द्वौ परमाणु स्यात् त्रसरेणुः त्रयः स्मृतः। —भा० पु०, ३.११.५

8. A division of Time variously computed one minute, 48 seconds or 8 seconds. The 60th part of one thirtieh part of a zodiacal sign, a minute of a degree,
—Apte, V. S. The practical Sanskrit-English Dictionary, Banaras, 1965, page-342.

उपर्युक्त मानको के अनन्तर प्रचलित मानक मात्रा का स्थान है। मात्रा का काल अनेक रूपों में वर्णित है। ऋक्प्रातिशाख्य में विभिन्न मात्राओं के उच्चारण-काल का निर्धारण पक्षियों की बोली के मात्रा के काल के माध्यम से किया गया है। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत मात्राओं के उच्चारण-काल को क्रमशः नील-कण्ठ, काक और मयूर की बोली के काल के परिमाण के तुल्य बताया गया है[1]। व्यास शिक्षा के अनुसार अङ्गुलि से चुटकी मारने के काल के बराबर समय मात्रा के उच्चारण में लगता है[2]। नारदीय-शिक्षा में इसकी तुलना पलक मारने के काल से की गयी है। इसके अतिरिक्त इसमें अन्य आचार्यों का मत भी निर्दिष्ट है, जिसके अनुसार विद्युत की कौंध के काल को मात्रा का उच्चारण-काल माना गया है[3]। माण्डूकी शिक्षा ने नारदीय-शिक्षा के मत का समर्थन किया है[4]। आधी मात्रा का उच्चारण-काल नकुल शब्द के सदृश काल वाला बताया गया है तथा अनुनासिक वर्णों को व्याघ्र की दहाड़ के काल के समान कहा गया है[5]।

---

१. चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रां वायसो ब्रवीत ।
शिखी त्रिमात्रों विज्ञेयः एषः मात्रा परिग्रहः ॥ —ऋ० प्रा०, १३.५०

२. अङ्गुलिस्फोटन् यावान् तावान् कालास्तु मात्रिकः —व्या० शि०, ३.२२

३. निमेषकाला मात्रा स्यात् विद्युत्कालेति चापरे ।
ऋक्त्वरा तुल्ययोगा वा मतिः स्यात् सोमशर्मणः ॥ —ना० शि०, ८

४. उद्वर्णोर्निमेषमात्रेण यो वर्णः समुदीर्यते ।
स एकमात्रो द्विस्तावान् दीर्घस्त्रिप्लुत उच्चते ॥ —मा० शि०, २२
तु० एकद्वित्रिक्रमेणैव मात्राकालं मनीषिणः ।
शब्दैर्निदर्शन्त्यत्र चाषकालकलादिनाम् । —कौ० शि०, १५

५. (क) चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रां चैव वायसः ।
शिखी रौति त्रिमांत्र तु नकुलस्त्वर्धमात्रकम् ॥ —पा० शि, ४६

(ख) ह्रस्वश्च यावद् विपिने स्वभावात् किकीदिवी रौति स एकमात्रः ।
काकोऽब्रवीत्तद्द्विगुणं तु कालः द्विमात्रिकः स्यात्तु स एव दीर्घ ॥
शिखी त्रिमात्रं वदति प्लुतःस्यात् ह्रस्वार्धकालः नकुलोऽर्धमात्रकम् ।
रङ्गे मुखे व्याघ्ररुतोपम् स्यात् मात्राद्वयं हृज्जनितस्त्वनास्यम् ॥
—पारि० शि०- १८, १९

मात्रा के मानक-निर्धारण के प्रसङ्ग में एक अन्य विवेचन भी समुपलब्ध होता है, जिसके अनुसार काल का निर्धारण क्षण, लव, कला आदि के आधार पर भी किया जाता है[1]। इसका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

८ क्षण = १ लव।	८ लव = १ काष्ठा
८ काष्ठा = १ निमेष।	८ निमेष = १ कला
२ कला = १ त्रुटि या अनुद्रुत।	२ त्रुटि या अनुद्रुत = १ द्रुत
२ द्रुत = १ लघु	२ लघु = १ गुरू
३ लघु = १ प्लुत	

मात्रा विभाजन

उच्चारण-काल के परिमाण को दृष्टि में रखते हुए मात्रा का जो विभाजन किया गया है, वह इस प्रकार है—

(अ) **ह्रस्व**—ऋक्तन्त्र में एकमात्राकालिक स्वर को 'ह्रस्व' एवं 'स्व' संज्ञा से अभिहिति किया गया है[2]। ह्रस्व वर्णों में अ, इ, उ, ऋ, एवं ऌ की गणना की जाती है[3]। ह्रस्व शब्द को न्यूनार्थक 'ह्रस्' धातु से निष्पन्न माना गया है[4]। अवग्रह एवं अनुस्वार की गणना भी ह्रस्व स्वरों के अन्तर्गत की गई है[5]।

---

१. सङ्गीतशास्त्र, (हिन्दी समिति लखनऊ प्रकाशन) —१९६५, पृ०, ५७.

२. (१) अकालो ह्रस्वः। —ऋ० तं०, २.४.१०
(२) स्पर्शः स्वे। —ऋ० तं० २.३.५.
तु० (क) आवत्स्वर्धप्लु। —मुग्ध० व्या०, ५.
(ख) नि०, ३.१३

३. (क) ओजाः ह्रस्वाः सप्तमान्ता स्वराणाम्। मात्रा ह्रस्वः।
—ऋ० प्रा०, १.१७.१.२७ एवं इस पर उ० भा०
(ख) गुरुतालघुता साम्यं ह्रस्वदीर्घप्लुतानि च। —ऋ० प्रा० वि० व, ५.
(ग) तै० प्रा०, २४.५, १.३१, ३३, ३४ वा० प्रा०, १.५५
(घ) च० अ०, १.५९ या० (ङ) या० शि०, १६
(च) व० प्र० शि०, २२ इत्यादि (छ) पा० सू०, १.२.२७.
(ज) का० व्या०, १.६ (झ) प्रयो० व्या०, १.१० (ट) हेम०, १.१.५

४. ह्रस्वो ह्रसतेः। नि०, ३.१३ तु० नि०, २.१७ एवं ६.११

५. (क) समासेऽवग्रहो ह्रस्तव समकालः। —तै० प्रा०, ६.१८

ह्रस्व के लिए 'वामन'[1] और 'प्र'[2] संज्ञाओं का प्रयोग भी होता है।

(ब) दीर्घ—ऋक्तन्त्र में 'द्विमात्राकालिक' स्वर को 'दीर्घ' कहा गया है।[3] इन स्वरों के उच्चारण में ह्रस्व स्वर की अपेक्षा अधिक समय लगता है। इसके अन्तर्गत आ, ई, ऊ, ॠ, ॡ, ए, ओ, ऐ, औ की गणना की गई है।[4] निरुक्त में वृद्धवर्धक 'द्राघ्' धातु से दीर्घ शब्द की व्युत्पत्ति मानी गई है।[5]

दीर्घ के लिए 'घ'[6] 'दी'[7] 'र्घ'[8] और 'त्रिविक्रम'[9] संज्ञाओं का भी प्रयोग हुआ है।

(स) वृद्ध—त्रिमात्रिक स्वर के लिए वृद्ध शब्द का प्रयोग प्रातिशाख्यों में नहीं मिलता, परन्तु ऋक्तन्त्र में त्रिमासिक स्वर को वृद्ध कहा गया है।[10] लोमशी

---

१. पूर्वो वामनः। —हरिना०, १.५

२. अकालो च् प्रदीपः। —जै०व्या०, १.४.५

३. द्वे दीर्घम्। —ऋ०तं०, २.५.२

तु० (क) ओंकारो यजुर्वेदे दीर्घप्लुतोदात्त एकाक्षरः···। —गो०ब्रा०, १.१.२५

(ख) सा०श्रौ०सू०, १.२.२७ एवं १०.५.२८

(ग) गो०गृ०सू०, २.८.१५

४. (क) ऋ०प्रा०, १.१८ एवं इस पर उ०भा०

(ख) तै०प्रा०, १.३५ (ग) वा०प्रा०, १.५७

(घ) च०अ०, १.६० (ङ) या०शि०, १६

(च) व०प्र०शि०, २२ (छ) लो०शि०, ८.१०

(ज) म०श०शि०, ४५ (झ) पा०सू०, १.२.२७

(ट) प्ररो दीर्घः। —का०व्या०, १.७

(ठ) प्रयो०व्या०, १.११ (ड) हेम०, १.१.५

५. दीर्घं द्राघतेः। —नि०, २.१६

६. (१) घम्। —ऋ०तं०, २.५.३

(२) रौ घम्। —ऋ०तं०, २.४.३

तु० सा०तं०, १.७.३, २.७.६

७. अकालो प्रदीपः। —जै०व्या०, १.१.१

८. आवत्स्वर्घप्लु। —मुग्ध०व्या०, ५

९. परस्त्रिविक्रमः। —हरिना०, १.६

१०. तिस्रो वृद्धम्। —ऋ०तं, २.५.४

शिक्षा में ह्रस्व, दीर्घ और वृद्ध—इन तीन मात्राओं का निर्देश है।[1] चारायणी शिक्षा में वृद्ध और प्लुत में अन्तर दिखलाया गया है। दो मात्राओं के काल से संयुक्त ह्रस्व स्वर को प्लुत, और एक मात्रा के काल से संयुक्त दीर्घ स्वर को 'वृद्ध' कहा गया है।[2]

ऋक्तन्त्र के अतिरिक्त सर्वत्र त्रिमात्राकालिक स्वर के लिए 'प्लुत' संज्ञा का ही व्यवहार मिलता है। गोपथ ब्राह्मण में त्रिमात्राकालिक स्वर के लिए प्लुत शब्द ही व्यवहृत[3] हुआ है। सभी प्रातिशाख्य ग्रन्थ त्रिमात्रिक स्वर को 'प्लुत' संज्ञा से सम्बोधित करते हैं।[4] वैदिक आभरण भाष्य में प्लुत को वाण के सदृश दूरगामी और मयूर-ध्वनि के काल के समान काल वाला कहा गया है।[5]

शिक्षा ग्रन्थों को भी यही संज्ञा मान्य है और तीन मात्रा वाले वर्णों को प्लुत कहा गया है।[6] पाणिनि और परवर्ती वैय्याकरणों ने भी त्रिमात्रिक

---

१. ह्रस्वं दीर्घं तथा वृद्धमभिगीतं तु सामगाः।
—लो०शि०शि०सं०, पृ०, ४५६

२. ह्रस्वं द्विमात्रा संयुक्तं प्लुतमाहुर्मनीषिणः।
दीर्घं तु मात्रा संयोगाद् वृद्धमित्यभिधीयते॥ —चा०शि०शि०सं०, पृ०, ६

३. ···ओंकारो यजुर्वेदे दीर्घप्लुतोदात्त एकाक्षरः···। —गो०ब्रा०, १.१.२५

४. (क) तिस्रः प्लुत उच्चते स्वरः। —ऋ०प्रा०, १.३०
(ख) गुरुत्वं लघुता साम्यं ह्रस्वदीर्घप्लुतानि च। —ऋ०प्रा०वि०व०, ५
(ग) त्रिः प्लुतः। न प्लुतपूर्वम्। —तै०प्रा०, १.३६, १.४ इत्यादि
(घ) प्लुतस्त्रि। —वा०प्रा०, १.५८
(ङ) त्रिमात्रः प्लुतः। —च०अ०, १.६२

५. (क) शरादिवद्दूरगामित्वात्प्लुत इत्युच्यते।
—तै०प्रा०, १.३६ पर वै०आ०
(ख) त्रिस्तावान् ह्रस्वत्रिगुणकालः मयूररुततुल्यकालस्वरः प्लुतसंज्ञो भवति।
—तै०प्रा०, १.३६. पर वै०आ०

६. (क) या०शि०, १६ (ख) व०प्र०शि०, २२
(ग) लो०शि०, ८.१० (घ) म०श०शि० ४५
(ङ) शै०शि०, १२

स्वर को प्लुत ही माना है ।[1] हरिनामामृत व्याकरण में प्लुत के लिए 'महापुरुष' संज्ञा का प्रयोग किया गया है ।[2]

प्लुत स्वरों के अधिक उदाहरण नहीं प्राप्त होते । ऋक्प्रातिशाख्य के अनुसार ऋग्वेद में प्लुत स्वर के तीन ही उदाहरण हैं ।[3] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में अपनी संहिता में प्लुत के लगभग चालीस उदाहरण परिगणित हैं परन्तु उनका उल्लेख नहीं किया गया है । वाजसनेयि-प्रातिशाख्य प्लुत के सात उदाहरणों का उल्लेख करता है ।[4] अमोघनन्दिनी शिक्षा भी इसका समर्थन करती है ।[5] अथर्ववेद संहिता में प्लुत के पन्द्रह उदाहरण मिलते हैं, जिनका चतुरध्यायिका में निर्देश किया गया है ।[6]

मात्रा-विभाजन के नियम

(अ) स्वर की मात्रा—ऋक्तन्त्र में स्वर वर्णों के मात्रा-विषयक नियमों का प्रतिपादन अत्यन्त विस्तार से किया गया है ।

---

१. (क) उकालोऽजत्रस्वदीर्घप्लुत । —पा०सू०, १.२.२७
(ख) त्रिमात्रिकः प्लुतः । —चा०व०सू०, ४३
(ग) एकद्वित्रिमात्राह्रस्वदीर्घप्लुता. । —हेम०, १.१.५
(घ) गानाह्वानक्रन्दनेषु स्वरास्त्रिमात्रिकाः प्लुताः । —प्रयो०व्या०, १.१२

२. त्रिमात्रो महापुरुषः । —हरिना०, १.७

३. अधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी ३ दर्थे प्लुतिर्भीरिव विन्दतीं ३ त्रिः —ऋ०प्रा०, १.३१
(१) ऋ०, १०.१२९.५ (२) ऋ०, १०.१४६.१

४. सर्वमग्ना ३ इ लाजी ३ छाची ३निति त्रिमात्राणि च । प्रणवश्च । विवेशा ३ इति चानुदात्तम् । आसीदिति चोत्तरं विचारे । पूर्वमन्तोदात्तम् । —वा०प्रा०, २.५०, ५४

५. सप्तप्लुताः भवन्ति ह्यष्टमो नविद्यते । —अ०न०शि०, ४६

६. खण्वखा ३ इ खैमखा ३ इ मध्ये तदुरि (४.१५ १५) । इदं भूया ३ इदा ३ मिति (४.६.१८) । ऊर्ध्वो नु सृष्टा ३ स्तिर्यङ् नु सृष्टा ३ः सर्वा दिशः पुरुष आ वभूवां ३ (१०.२.२८) । पराञ्चमोदनं प्राशी ३ः प्रत्यञ्चा ३ मिति (११.३.२६) । त्वमोदनं प्राशी ३ स्त्वामोदना ३ इति (११.३.२७) । वशेया ३ मवशे ३ ति (१२-४-४२) । यत्तदासी ३ दिढं नु ता ३ दिति (१२.५.५०) । इति प्लुतानि । —च०अ०, १.१०५

(१) ह्रस्व स्वर एक मात्रा के काल वाले होते हैं। ह्रस्व वर्णों में अ, इ, उ, ऋ, लृ की गणना की गई है और इनको अकार के उच्चारण काल वाला बताया गया है। अकार का उच्चारण-काल एक मानक के रुप में गृहीत है।[1] वाजसनेयि-प्रातिशाख्य और चतुरध्यायिका में इसी मानक को मान्यता दी गई है।[2] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में ऋ और लृ को मानक माना गया है।[3] पाणिनि ने उ को मानक माना है।[4]

(२) यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि दीर्घ स्वर द्विमात्राकालिक होते हैं।[5] दो स्वरों की सन्धि के कारण निष्पन्न दीर्घ स्वर भी द्विमात्राकालिक ही होते हैं। प्रातिशाख्यों और शिक्षा ग्रन्थों में सन्ध्यक्षरों आदि की आधी मात्रा को भी अनुस्यूत करने पर मात्रा त्रिकला होती है।[6]

---

१. मात्रा। —ऋ०तं०, २.५.२
तु० (क) अकालो ह्रस्वः। —ऋ०तं०, २.४.१० तथा इसकी वृत्ति
(ख) अकारकालो वर्णो भवति। —ऋ०तं०, २.४.१० पर वृत्ति

२. (क) मात्रा च। अमात्रस्वरो ह्रस्वः। —वा०प्रा०, १.५५, ५६
(ख) एकमात्रो ह्रस्वः। —च०अ०, १.५९

३. ऋकारल्कारौ ह्रस्वौ। तेन च समानकाल स्वरः।
—तै०प्रा०, १.३१, ३३

४. (क) ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घ प्लुतः। —पा०सू०, १.२.२७
(ख) ऊ इति त्रयाणामयं मात्रिकद्विमात्रिकत्रिमात्रिकाणां। प्रश्लिष्ट निर्देशः।
—पा०सू०, १.२.२७ पर काशिका

५. द्वे दीर्घम्। सन्ध्याद्यश्च। —ऋ०तं०, २.५.३ एवं २.३.१०

६. (क) ऋ०तं०, २.३.१०
तु० (ख) सन्ध्यष्वकारोऽर्धमिकार उत्तरं युजोरुकार इति शाकटायनः।
—ऋ०प्रा०, १.३.३९
(ग) अकारार्द्धमेकारौ-कारयोरादिः। —तै०प्रा०, २.२८
(घ) अर्धमात्रा कण्ठ्यस्य ध्येकारैकारयोर्भवेत्।
औकारौकारयोर्मात्रा तयोर्विवृतसंवृतम्॥
—शि०सं०पृ०, ३९७
(ङ) एकारौकारयोरादावकारोऽप्येक मात्रकः इवर्णोवर्णयो शेषोः भवेतामथमात्रकौ। —का०नि०शि०, ६

(३) वृद्ध स्वर तीन मात्रा-काल वाला होता है।[1]

(४) संयुक्त व्यञ्जन परे रहते स्वर गुरु अर्थात् दो मात्रा काल वाले होते हैं।[2] यथा;

(१) अग्निः (२) अश्वः (३) चित्तम् (4) चित्तम्।

(ब) व्यञ्जन की मात्रा—ऋक्तन्त्र में व्यञ्जन की मात्रा का काल एक मात्रा या आधी मात्रा माना गया है।[3] ऋक्प्रातिशाख्य, तैत्तिरिय प्रातिशाख्य, वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में व्यञ्जन का उच्चारण का आधी मात्रा बताया गया है।[4] चतुरध्यायिका के अनुसार व्यञ्जन एक मात्रा कालिक भी होता है।[5] याज्ञवल्क्य शिक्षा,[6] वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा,[7] मल्लशर्म शिक्षा[8] लोमश शिक्षा[9] तथा शैशिरीय शिक्षा[10] में व्यञ्जन को आधी मात्रा के काल वाला कहा गया है। व्यास शिक्षा[11] एवं कौहलीय शिक्षा में व्यञ्जन को अणु मात्रा-कालिक कहा गया है।[12] सर्वसम्मत शिक्षा का मत है कि स्वरहीन व्यञ्जन का काल एक मात्रा

---

१. तिस्रोवृद्धम्। —ऋ०तं०, २.५.४

२. (क) सयुक् सण्। —ऋ० तं०, २.३.७

(ख) गुरुसणि। —ऋ०तं०, २.५.६

(१) सा०वे०, १.४ (२) सा०वे०, उदाहरण लौकिक है।

(३) सा०वे०, १.१२०६ (४) सा०वे०, १.४१७

३. मात्रार्धमात्रा वा। —ऋ०तं०, २.५.८

४. (क) उ इतरे च। —ऋ०प्रा०, १.३४

(ख) ह्रस्वार्धकालं व्यञ्जनम्। —तै० प्रा०, १.३४

(ग) व्यञ्जनमर्धमात्रा। —वा०प्रा०, १.५६

५. व्यञ्जनानि च। —च०अ०, १.६०

६. ···व्यञ्जनार्धमात्रिकम्। —या०शि०, १६

७. ···व्यञ्जनं चार्धमात्रिकम्। —व०प्र०शि०, २२

८. महाशब्देन संयुक्तो व्यञ्जनं चार्धमात्रिकम्। —म०श०शि०, ४५

९. प्लुत मात्रो विज्ञेय व्यञ्जनं चार्धमात्रिकम्। —लो०शि०, ८.१०

१०. व्यञ्जनं त्वर्धमात्रं स्यात्। —शै०शि०, २२

११. हल् युक्तं हलुत्तरं तदणुमात्रं प्रकीर्तितम्। —व्या०शि०, ४.२७
व्यञ्जनपरं व्यञ्जनं युक्तं व्यञ्जनं पादमात्रं प्रयुज्यते। यथा विश्वक्रस्नीया, हलयुक्तमिति किं यत्तन्न। —व्या०शि०, ४.२७ व्याख्या

१२. ···व्यञ्जनं वा त्वणु मात्रकम्। —कौ०शि०, १६

के चतुर्थांश के बराबर होता है।[1] वैदिक आभरण में ऐसा निर्देश है, कि दीर्घ स्वर के परवर्ती व्यञ्जन की मात्रा ह्रस्व स्वर के बाद आने वाले व्यञ्जन की अपेक्षा १/४ मात्रा ह्रस्वतर होती है।[2] आपिशल शिक्षा में भी इस सम्बन्ध में एक निर्देश है, जिसके अनुसार ह्रस्वस्वर का परवर्ती नासिक्य व्यञ्जन की मात्रा दीर्घ स्वर के बराबर होती है।[3]

(स) **विराम की मात्रा**—ऋक्तन्त्र में 'विराम' की मात्रा का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन किया गया है और अनेक नियमोपनियमों का निर्देश भी किया गया है। साधारणतः विराम का अर्थ व्यवधान, अन्तर आदि से है, जिसमें थोड़ा-सा रुककर बाद वाले पद का पाठ पुनः आरम्भ किया जाता है। व्यास शिक्षा में इसको अनुच्चारण काल कहा गया है।[4] ऋक्तन्त्र में विराम विषयक अधोलिखित नियमों का प्रतिपादन किया गया है—

(१) दो वर्णों का अन्तर परमाणु-कालिक होता है। परमाणु का काल है आधी कला।[5]

---

१. अस्वरं व्यञ्जनं नित्यमणुमात्रं प्रयुज्यजे, संसर्गाच्चेति बाहुल्यान् मात्रा वृद्धैः प्रकीर्तिताः। —स०स०शि०, २२

२. (क) नन्वणुमात्रमित्युक्तं ह्रस्वार्धकालं व्यञ्जनमित्युक्तत्वादिति चेत्, सत्यम्, तदौत्सर्गिक, मात्रा वृद्धि संसर्गादिति बाहुल्यात् प्राचुर्येण वृद्धैः प्रकीर्तिताः।

—तै०प्रा०, १.३७ पर वै० आ०

(ख) दीर्घप्लुताभ्यां परस्य व्यञ्जनस्य स्वरपरस्य पादमात्रत्वमुक्तम्।
—तै० प्रा०, १.३७ पर वै०आ०

३. द्विमात्र उत्तमो ह्रस्वादध्वर्यो व्यञ्जनान्तरः।
दीर्घादनन्तरस्तद्वन् मात्रिको व्यञ्जनान्तरः॥ —आपि०शि०, १६

४. विरामो वर्णयोर्मध्ये ह्यणुकालो प्यसंयुते। —व्या०शि०, ५.३७

तु (क) विरामः तृष्णीम्भूतकालः स्यात्।
—व्या०शि०, ५.३७ पर व्याख्या

५. (क) वर्णान्तरं परमाणु। —ऋ०तं०, २.४.४

(ख) तत्कलार्धम्। —ऋ०तं०वृ०, २.४.४

(ग) व्या०शि०, ५.३७

(२) दो स्वरों के मध्य विराम में आधी मात्रा का अन्तर होता है।[१] ऋक्प्रातिशाख्य में इसी को विवृत्ति कहा गया है।[२]

(३) अवसान में विराम एक मात्रा काल का होता है।[३] ऋक्प्रातिशाख्य और वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में इसी नियम का सङ्केत प्राप्त होता है। उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों में अवग्रह का काल एक मात्रा बताया गया है।[४]

(४) अर्धर्च में विराम दो मात्रा काल का होता है।[५]

(द) **वृत्ति की मात्रा**—द्रुत, मध्यम और विलम्बित इन तीन वृत्तियों के माध्यम से अध्ययन कर्मानुष्ठान और उपदेश आदि का सम्पादन किया जाता है।[५*] ऋक्तन्त्र में मात्रा की वृत्तियों का विवेचन तो किया गया है परन्तु वृत्तियों के स्वरूप इत्यादि का नहीं। सम्भवतः अन्य प्रातिशाख्यों में वृत्तियों के स्पष्टीकरण से यह विषय सुबोध मान लिया गया है। ऋक्तन्त्र में मात्रा विषयक जो विवेचन वृत्तियों से सम्बन्धित है, वह इस प्रकार है—

द्रुत—इसमें मात्रा त्रिकला होती है।[६]

मध्यम—मध्यम वृत्ति की मात्रा चतुष्कला होती है।[७]

विलम्बित—विलम्बित वृत्ति की मात्रा पञ्चकला होती है।[८]

---

१. स्वरयोरर्धमात्रा। —ऋ०तं०, २.४.५

२. (क) स्वरान्तरं तु विवृत्तिः सा वा स्वरभक्तिकाला। —ऋ०प्रा०, २.3.4

(ख) द्राधीयसी सार्धमात्रा। अर्धोनान्या। —ऋ०प्रा०, १.३३, ३५

(ग) तै०प्रा०, २२.१३

३. विरामे मात्रां। —ऋ०तं०, २.४.६

४. (क) मात्रा ह्रस्वः। तावदवग्रहान्तरम्। —ऋ०प्रा०, १.२७, २८

(ख) श्र ऋग्विराम पदविरामो विवृत्तिविरामः समानपदविवृत्तिविराम-स्त्रिमात्रों द्विमात्र एकमात्रो र्धमात्र इत्यानुपूर्व्येण। —तै०प्रा०, २२.१३

५. नित्यविरते द्विमात्रम्। —ऋ०तं०, २.४.७

५* ऋ०प्रा०, १३.४६.४९ एवं इन सूत्रों पर उ०भा०

तु० (क) तै०प्रा०, २३.१७, २०

(ख) का०नि०शि०, ३,४ (ग) मा०शि०शि०सं०, पृ० ४६३

(घ) पा०सू०, १.१.७० पर म०भा०

६. द्रुतायां मात्रा। —ऋ०तं०, २.४.१

७. चतुष्कला मध्यमायाम्। —ऋ०तं०, २.४.२

८. पञ्चकला विलम्बितायाम्। —ऋ०तं०, २.३.४

ऋक्तन्त्रकार ने इन वृत्तियों के मध्य क्रमशः ३ : ४ : ५ का अनुपात माना है। परन्तु यह समय का अनुपात सब ग्रन्थों में एक सा नहीं है। इसमें परस्पर भिन्नता दृष्टिगोचर होती है।[1]

(य) **सामगान में मात्रा**—ऋक्तन्त्र विशेषतः सामवेद से सम्बन्धित है। अतएव इसमें सामगान से सम्बन्धित मात्रा के विषय में विचार किया गया है, जो इस प्रकार है—

(१) वैस्वर्य में स्वर त्रिमात्रिक होता है।[2] वैस्वर्य का अर्थ है—उदात्त और अनुदात्त का संयोग होने पर स्वरान्तर की प्राप्ति न होना अपितु दोनों में से जो स्वर रहता है वही रह जाता है। इस अवस्था में स्वर का उच्चारण काल त्रिमात्राकाल वाला होता है।[3]

(२) भक्त्यन्त सामगान में तीन मात्रा का व्यवधान होता है।[4] सामवेद का ज्ञाता यज्ञों में विभिन्न गानों में साम का गायन करता है। गान

---

१. (क) द्रुतायां वृत्तौ ये वर्णास्ते त्रिभागाधिका भवन्ति। तथा मध्यमायां ये वर्णास्ते विलम्बितायां त्रिभागाधिका भवन्ति।

—ऋ०प्रा०, १३.४८ पर उ०भा०

यहाँ अनुपात १६ : २० : २५ का है।

(ख) मध्यमैकान्तरावृत्तिर्द्वन्तरा हि विलम्बिता।

—मा०शि०शि०सं०, पृ०, ४६३

इसके अनुसार अनुपात १ : २ : ३ का है।

(ग) द्रुतं श्लोकं ऋतं वोच्चारयति वक्त्तरि नाडिकायां यस्या नवपानीय-फलानि स्रवन्ति तस्या एव मध्यमायां वृत्तौ द्वादशफलानि स्रवन्ति।

—पा०सू०, १.१.७० पर कैयट

यहाँ अनुपात है—९ : १२ : १६ का।

२. वैस्वर्ये स्वरस्त्रिमात्रः। —ऋ०तं०, २.५.५

३. (क) तस्माद्वैश्र्ये स्वार संज्ञा। विस्वरत्वेनोच्चारणमेव स्वार इति नाम्ना पठन्ति। वैस्वर्य चौच्चनीयांशयोर्मध्ये स्पणादुभयं साधारणं न स्वरान्तरं येन स्थानमपि तस्य स्यात्। तदुक्तम्—

उच्चनीचे यन्मध्ये स्वरः साधारणः स्मृतः। —ऋ०तं०वि०, ५३

(ख) उच्चनीचस्य यन्मध्ये साधारणमिति श्रुतिः। —ना०शि०, ७

(ग) उच्चादुच्चतरं नास्ति नीच्चान्नीचतरं तथा।

वैस्वर्ये स्वारसंज्ञायाः किं स्थानं स्वार उच्चते॥ —ऋ०तं०वि०, ५३

४. त्रिमात्रं सामसु। —ऋ०तं०, २.४.६

हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव, निधन और प्रणव में विभक्त रहते हैं। यहाँ भक्त्यन्त से आशय उपर्युक्त विभागों में विभक्त गानों से है।

(३) सामगान में इ और ए के बाद, इ और उ के बाद तथा आ और इ के बाद ओ जोड़ना गति कहा जाता है। इस अवस्था की मात्रा १/२ या त्रिकला हुआ करती है।[1]

(४) गाथा में विराम दो मात्रा काल का होता है।[2] यथा;

ये नौभिः प्रतरन्ति मानसं काशमीराः सलिलम्। मदानसः तानश्वपथे वशीकृथा युधीन्द्रो दिविदानवानिव। नैवोदकमस्ति पातवे नपक्षा उत्पतनाय। स्तोभमकृपणं वत। सारसो मृगो मण्डूको विललाप। धन्वन्युपचित्रकपाण्डुपलाशकमत्स्यकाञ्जहि। जालाकाकेन गरणीषु च मत्स्यकानानाहननांसक्स्यविदिशानि सामिकम्।

(५) स्वररित; विनत, प्रणत, अभिगीत सामगानों में अर्द्ध अकार का काल अणु संज्ञक होता है।[3]

प्रस्तुत अध्याय में ऋक्तन्त्र को प्रमुखतया दृष्टि में रखकर मात्रा का विवेचन किया गया है। ऋक्तन्त्र के साथ-साथ अन्य ग्रन्थकारों के मतों का पर्यालोचन भी किया गया है। ऋक्तन्त्र सामवेद से सम्बद्ध है, अतः इसमें सामगान-विषयक मात्रा के नियमों का जो विवेचन किया गया है, वह अन्य प्रातिशाख्यों में अप्राप्य है।

---

१. त्रिश्च त्रिकला वा। —ऋ०तं०, २.३.९

२. गाथासु। —ऋ०तं०, २.४.८

३. (क) अर्द्धमणु। —ऋ०तं०, २.५.१

(ख) अर्द्धमकारकालो अणुसंज्ञो भवति। स्वरितविनतप्रणताभिगीतेषु। ऋ०तं०वृ०, २.५.१

५

स्वर

स्वर का महत्त्व

संस्कृत भाषा के प्रभव-स्थान, समस्त विद्याओं के आकर, संसार की अमूल्य-निधि वेदों में आज तक उदात्तादि स्वर विद्यमान हैं। वेदों से सम्बद्ध कुछ अन्य ग्रन्थों में भी स्वर सुरक्षित हैं। अति पुराकाल में याज्ञिक-क्रियाओं में मन्त्रों का सस्वर-पाठ ही होता था। शतपथ का आदेश है कि ऋत्विज् स्वर सम्पन्न वाणी से यज्ञ कर्म करे। अतएव यजमान यज्ञ में प्रशस्त स्वर-पाठ करने वाले को देखने की इच्छा करता है।[1]

अर्थ की दृष्टि से भी स्वरों का महत्त्व है। यथानिर्दिष्ट नियत स्वर के अनुसार अर्थ करने में असमर्थ व्यक्ति को स्वर-विरुद्ध अर्थान्तर कल्पना का प्रयास नहीं करना चाहिए। वेदार्थज्ञान में स्वर के माहात्म्य के सम्बन्ध में वेंकट माधव का मत है कि जिस प्रकार अंधकार में दीपक की सहायता से चलता हुआ व्यक्ति ठोकर खाकर नहीं गिरता; उसी प्रकार स्वरों की सहायता से अर्थ-वैशद्य की उपलब्धि होती है और प्रयास करने वाले का स्खलन नहीं होता।[2] नाम एवं आख्यात का भेद स्वर से ही ज्ञात हो सकता है।[3] यज्ञों में स्वर और वर्ण से हीन जो मन्त्र प्रयुक्त होता है वह आयु, प्रजा

---

१. वाचि स्वरमिच्छेत्। तया स्वरसम्पन्नयाऽऽर्त्विज्यं कुर्यात्। तस्मात् यज्ञे स्वरवन्तं दिदृक्षन्त एव। —श०ब्रा०, १४.४.१.२७

२. अंधकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्।
एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्त्यर्थाः स्फुटा इति॥
अनुक्रमणिका षष्टी स्वरतोऽर्थस्य निर्णयः।
प्रदर्शयति मन्त्रेषु ग्राह्या सा निपुणैर्नृभिः॥
—स्वरा०, १.१.८.६ एवं २४, २५

३. नामाख्यातविभागश्च स्वरादेवावगम्यते। —ऋ०अ० परिशिष्ट, ४.४.८

और पशु आदि को नष्ट करता है और यज्ञ फल की प्राप्ति नहीं कर सकता है। सस्वर उच्चारण से वेद सुशोभित होता है।[1] स्वरोच्चारण में स्वरूप त्रुटि भी क्षम्य नहीं है। कम से कम चपेटिका का सामना तो करना ही पड़ता था।[2] स्वरादि के संस्कार से रहित व्यक्ति वेदार्थ-निर्णय में सक्षम नहीं हो सकता। उस व्यक्ति का जीवन धूमायमान अग्नि के सदृश निष्फल है।[3] सस्वर उच्चारण करने वाला ही याजक बनने योग्य है।[4] यज्ञ, जप आदि याज्ञिक प्रक्रिया उदात्तादि स्वर-अवबोध होने पर ही पूर्णरुपेण सम्पादित की जा सकती है।[5]

समस्त आचार्यों ने भी वेदार्थ-ज्ञान के निमित्त स्वरों की महत्ता को स्वीकार किया है।[6]

---

१. (क) प्रहीणः स्वरवर्णाभ्यां यो वै मन्त्रः प्रयुज्यते ।
यज्ञेषु यजमानस्य रुषत्यायुः प्रजां पशून् ॥ —ना०शि०, १.६
(ख) हस्तभ्रष्टो स्वरभ्रष्टो न वेदफलमश्नुते । —या०शि०, २६
(ग) सुतीर्थादागतं व्यक्तं स्वाम्नाय्यं सुव्यवस्थितम् ।
सुस्वरेण सुवक्त्रेण प्रयुक्तं ब्रह्म राजते ॥ —पा०शि०, ५१

२. उदात्तस्य स्थाने अनुदात्तं ब्रूते खण्डिकोपाध्यायः तस्मै शिष्याय चपेटिकां ददाति । —म०भा०, १.१.१

३. (क) यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नावित शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥ —म०भा०, १.१.१
(ख) अविदितस्वरादिसंस्कारत्वादर्थापरिज्ञानाद् वा ।
—म०भा०, १.१.१ पर कैयट

४. (क) यो वा इमां पदशः स्वरशोऽक्षरश्च वाचं विदधाति स आर्त्विजीनो भवति । —म०भा०, १.१.१
(ख) स्वरश इति । स्वर उदात्तादि । —म०भा०, १.१.१ कैयट

५. (क) तेनादृष्टार्थ एवायं स्वरपाठो वगम्यते । सर्वदा ब्रह्मयज्ञाङ्ग द्रव्ययज्ञजपेषु च । —तन्त्रवार्त्तिक, १.३.१
(ख) अथ त्रैस्वर्यादीनां कथं समाम्नानमिति ? उच्यते, अर्थाववोधनार्थं भविष्यति । —शाबर भाष्य, ८.२.३१

६. (क) वेदार्थोपयोगितया संक्षेपतः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते ।
—ऋ०भा०भू०
(ख) स्वरस्तु वेद एव विशेषप्रतीतिवत् ।—आचार्य विश्वनाथ, सा०द०, ३
(ग) सामर्थ्यमौचितीदेशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥ —वा०प०, २. ३१७

शिक्षा ग्रन्थों में यह उदाहरण प्राप्त होता है। त्वष्टा नामक असुर ने अपने पुत्र-वृत्र की वृद्धि के लिए जो यज्ञ किया था, उसमें इन्द्र की भेद-नीति के द्वारा अपनी ओर मिलाये गये ऋत्विजों ने 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' मंत्र में अन्तोदात्त 'इन्द्रशत्रु' पद के स्थान में 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' आद्युदात्त पद का प्रयोग कर दिया; जिससे इन्द्र ही वृत्र का हन्ता हो गया।[1] पाणिनि ने भी इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये हैं।[2] जैसे 'क्षयो निवासे' 'जयः करणम्' सूत्रों में अद्युदात्त 'क्षय' शब्द गृहवाची है और अन्तोदात्त हानि अथवा नाश का। आद्युदात्त 'जय' पद का अर्थ जीत का साधन अश्वादि है और अन्तोदात्त का अर्थ है जीतना।[3] वेंकटमाधव ने उपर्युक्त बातों का वर्णन स्वरानुक्रमणी में अत्यन्त ही विस्तार से किया है।[4]

ऋग्वेद के अपने बृहद् भाष्य में उन्होंने स्वरानुसार अर्थ किए हैं। कतिपय शब्दों की सूची इस प्रकार है।

शब्द	अर्थ	पृष्ठ
जठरः	अग्नि	४२६,७३५
जठरः	उदरवचनः	
यमः	येन गच्छति	५०१
यम्ः	वैवस्वतः	
सत्यम्	ऋतार्थे	५६९
सत्यम्	दारिद्रये	

१. (क) मन्त्रो हीनो स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतो पराधात्॥ —पा०शि०, ५२

(ख) ना०शि०, १.१.५ (ग) म०भा०, १.१.१

२. पा०सू०, २.१.१ ६.२.२८ ६.१.१९८ ६.१.१५८

३. पा०सू०, ६.१.२०, २०२

४. स्वरा०, १.३.२;३,२२ १.४.६ १.१.२१ १.८.७ इत्यादि।

पतञ्जलि ने महाभाष्य के प्रारम्भ में व्याकरण-अध्ययन के प्रयोजन की व्याख्या करते हुए 'स्थूलपृषती' पद के अर्थ में संभावित संशय के निराकरण के लिये लिखा है—

यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं ततो बहुव्रीहिः, अथ समासान्तोदात्तत्वं ततस्तत्पुरुष इति।[1] इसी प्रकार अन्यत्र अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं, जहाँ शब्द के सूक्ष्म अर्थ तक पहुँचने के लिए स्वर की सहायता लेनी ही पड़ती है।[2]

स्वर का आशय

वैदिक और लौकिक वाङ्मय में स्वर शब्द अनेक अर्थों में मिलता है, परन्तु अत्यन्त प्राचीन काल से उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित संज्ञक विशिष्ट उच्चारण-धर्मों के लिए भी स्वर शब्द का प्रयोग होता रहा है।[3] 'स्वृ शब्दोपतापयोः' धातु से करण अर्थ में घ प्रत्यय होने पर अथवा अच् प्रत्यय होने पर स्वर शब्द निष्पन्न होता है। अतः इसका निर्वचन है—'स्वर्यन्तेऽर्थाः एभिः'।[4] अर्थ-अवबोधक होने के कारण ये स्वर हैं। उदात्तादि स्वर अक्षर पर आश्रित होते हैं, क्योंकि अक्षर की ही निरपेक्ष सत्ता होती है।[5]

स्वर-भेद

मूलतः स्वर तीन ही हैं, किन्तु उसके कुछ अवान्तर भेद किये गये हैं। इन

---

१. म०भा०, १.१.१

२. (क) ऋ०, १०.३४.११, १०.१२९.१
   (ख) मीमांसा सूत्र, ३.३.१५,१६
   (ग) म०सं०, १.१८ ३२.२ इत्यादि।

३. श०ब्रा०, १४.४.१.२७
   तु० (क) ऋ०प्रा०, ३.१,३,१९,२४ इत्यादि
   (ख) पा०शि०, ११ (ग) ना०शि०, १.१.५
   (घ) या०शि०, ७६,७७,११८ (ङ) मा०शि०, ५

४. अमर कोश, १.६.४ पर भानुजि दीक्षित

५. (क) अक्षराश्रयाः, ऋ०प्रा०, ३.२
   (ख) स्वराणामक्षरैः धर्मधर्मिसम्बन्धो न तु व्यञ्जनैः,
   —ऋ०प्रा०, ३.२ पर उ०भा०
   (ग) स्वरः उच्चः स्वरो नीचः स्वरः स्वरित एव च। स्वरप्रधानं त्रैस्वर्यं व्यञ्जनं तेन सस्वरम्॥ —या०शि०, ११८
   (घ) म०भा, १.१.२

भेदों के आधार पर इनकी संख्या के विषय में पर्याप्त मतभेद हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है—

(अ) एक स्वर

कतिपय ग्रन्थों में स्वर का एक भेद प्राप्त होता है। इसको तान स्वर कहा गया है। इसके दो भेद हैं—तान स्वर[१] तथा प्रावचन स्वर।[२] वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में साम, जप, न्युंख के अतिरिक्त मन्त्रों में एक स्वर बताया गया है।[३] यही तान स्वर है, जो यज्ञ में ही होता है। वार्तिककार कात्यायन ने इस विषय का विशेष विवेचन किया है, जिससे यह ज्ञात होता है कि तान का अर्थ एकश्रुति स्वर है।[४]

(ब) दो स्वर

कहीं-कहीं उदात्त एवं अनुदात्त इन दो स्वरों का उल्लेख मिलता है।[५] शतपथ ब्राह्मण में ये ही दो स्वर प्रयुक्त हैं। ताण्ड्य और भाल्लवी ब्राह्मण में स्वर-विधान शतपथवत् ही है।[६] इनको 'भाषिक स्वर' और 'गाथा स्वर' भी कहा जाता है।[७]

---

१. (क) तानोऽन्येषां ब्राह्मणस्वरः। तान एवाङ्गोपाङ्गानाम्
—ऐ०ब्रा०, ३.२७,२८

(ख) अनन्तदेव, भाषिक सूत्र १.२७ पर टीका एवम् प्रतिज्ञा परिशिष्ट १.८ पर टीका

(ग) ······प्रावचनो वा यजूंषि —वा०प्रा०, १.३२

२. ······प्रावचनो विधिः —ना०शि०, १.१.८

३. एकम् सामजपन्युंखवर्जम् —वा०प्रा०, १.१३०,१३१

४. (क) आ०श्रौ०, १.८.१९

(ख) तान इत्येकश्रुतेः पूर्वाचार्यसंज्ञा —जै०न्या०मा०वि०, ९.२.८.३.

५. द्वौ —वा०प्रा०, १.१२९

६. (क) शतपथवत् ताण्डिभाल्लविनां ब्राह्मणस्वरः
—अनन्तदेव, भाषिक सूत्र, ३.१५

(ख) द्वितीय प्रथमावेतौ ताण्डिभाल्लविनां स्वरौ। तथा शातपथावेतौ स्वरौ वाजसनेयिनाम्॥ —ना०शि०, १.१.१३

७. (क) ब्राह्मणे तूदात्तानुदात्तौ भाषिकस्वरौ। अनन्तदेव, प्रतिज्ञा
—परिशिष्ट, १.८

(ख) छन्दोगानां वाजसनेयिनां च ब्राह्मणे गाथास्वरौ। प्रथम द्वितीयौ भवतः······॥ —ना०शि०, १.१.१२

(स) तीन स्वर

शाकल,माध्यन्दिन, काण्व तथा कौथुम शाखाओं में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तीन स्वर हैं। यद्यपि इनमें एकश्रुति या प्रचय स्वर भी होता है, परन्तु उच्चारण तथा हस्तादि चालन की दृष्टि से तीन स्वर ही माने जाते हैं। प्रचय की स्वतंत्र सत्ता न होने के कारण इसका आकलन पृथक् स्वर के रूप में नहीं किया जा सकता। ये ही तीन प्रमुख स्वर हैं, जिनको सभी सम्प्रदायों ने मान्यता दी है।[1]

(द) चार स्वर

कतिपय आचार्यों ने उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और प्रचय इन चार स्वरों को माना है।[2] तैत्तिरीय संहिता में चार स्वर प्रयुक्त होते हैं।[3] अनन्तदेव के अनुसार तैत्तिरीय चरण की औखेय तथा खाण्डिकेय शाखा में कहीं-कहीं चातुः स्वर्य था।[4] सम्प्रति ये शाखाएँ अनुपलब्ध हैं। यद्यपि प्रचय स्वर का उल्लेख प्रातिशाख्य, शिक्षा एवं व्याकरण ग्रन्थों में किया गया है, परन्तु इसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी गई है।

(य) पाँच स्वर

इस मत का प्रतिनिधित्व किया है नारदीय शिक्षा ने। इसके अनुसार उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचय और निघात—ये पाँच स्वर माने गये हैं।[5]

---

१. (क) गो०ब्रा०, १.१.२५
(ख) उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः। —ऋ०प्रा०, ३.१
(ग) वा०प्रा०, १.१०८.११० (घ) च०अ०, १.१४.१६
(ङ) ऋ०तं०, २६.१,३,४
(च) उदात्ताश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च तथैवयत्। —या०शि०, १
(छ) आपि०शि०, २०.२१.२२ (ज) व०प्र०शि०, ८६
(झ) चा०व०सू०, ८ (ट) पा०सू०, १.२.२९.३१

२. (क) उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितः प्रचयस्तथा। —शौ०शि०, २५
(ख) मा०शि०, ५ (ग) स्वरा०शि०, १
(घ) कौ०शि०, ५०

३. (क) तै०प्रा०, २३.२० (ख) ना०शि०, १

४. अनन्तदेव, भाषिक सूत्र, ३.२६

५. उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितप्रचिते तथा। निघातश्चेति विज्ञेयः स्वरभेदस्तु पञ्चमम्॥ —ना०शि०, १.७.१९

साधारतया निघात शब्द अनुदात्त अर्थ में प्रयुक्त होता है, परन्तु इस शिक्षा में निघात शब्द उस अनुदात्त विशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है; जो उदात्त अथवा स्वरित परे रहने पर एकश्रुति न होकर अनुदात्त ही बना रहता है। इसी को अनुदात्ततर या सन्नतर कहा जाता है।[1]

(र) सात स्वर

महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुस्वार स्वर सात प्रकार के हैं। ये हैं— उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरित का परवर्ती उदात्त एवं एकश्रुति।[2]

ऋक्तन्त्र ने त्रैस्वर्य को ही स्वीकार किया है। इसमें उच्चश्रुति का भी वर्णन समुपलब्ध होता है, परन्तु इसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी गई है। इन स्वरों का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) प्रमुख स्वर—उत्, नीच, स्वरित।
(२) गौण स्वर—उच्चश्रुति

ऋक्तन्त्र के अनुसार इनका विस्तृत विवरण इस प्रकार है—

स्वरूप एवं उच्चारण

उत् (=उदात्त)—ऋक्तन्त्र में उदात्त को सर्वत्र उत् कहा गया है[3] तथा इसके लिए किसी अन्य संज्ञा का प्रयोग नहीं किया गया है। अत्यन्त प्राचीन काल से उदात्त शब्द का प्रयोग मिलता है।[4] स्वरों के उच्चारण

---

१. उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः। —पा०सू०, १.२.४०

२. त एते तन्त्रेतरनिर्देशे सप्तस्वराः भवन्ति। उदात्तः। उदात्ततरः। अनुदात्तः। अनुदात्ततरः। स्वरितः। स्वरिते य उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः। एकश्रुतिः सप्तमः। —म०भा०, १.२.३३

३. (क) उदात्तमुत्। —ऋ०त० २.६.१
(ख) उदात्तमुत् संज्ञं भवति। ऋ०तं० ब्र० २.६.१। तु० सा०तं० ६.८

४. (क) स्वरितोदात्त एकाक्षर ओङ्कार ऋग्वेदे त्रैस्वर्योदात्त एकाक्षर ओङ्कारः यजुर्वेदे दीर्घप्लुतोदात्त एकाक्षर ओङ्कारः सामवेदे इत्यादिना —गो०ब्रा० १.१.२५
(ख) निपातेषु चैनं वैयाकरणा उदात्तं समामनन्ति। —गो०ब्रा० १.१.२६
(ग) अस्या इति चास्येति चोदात्तं प्रथमादेशे। —नि० ४.२५

वैशिष्ट्य-युक्त होने से उदात्त के अधिकांश लक्षण-उच्चारण-गुण को ही द्योतित करते हैं।

उदात्त शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है—'उत् ऊर्ध्वस्थानात् आत्तः गृहीतः' अथवा 'उत् उच्चैरादीयते उच्चार्यते उदात्तः' अर्थात् जो उच्च स्थान से गृहीत हो अथवा उच्च स्थान से उच्चारण किया जाय वह उदात्त है। उदात्त शब्द उत् एवं आपूर्वक दा धातु से क्त प्रत्यय होने पर निष्पन्न होता है। जो स्वर कण्ठ तात्वादि के ऊँचे स्थान से उच्चरित होता है, उसे उदात्त कहते हैं। इसके उच्चारण में शरीरावयवों का उर्ध्वगमन, गात्र-निग्रह, स्वर-रुक्षता, कण्ठ-संकोच आदि प्रयत्न किए जाते हैं। इस अवस्था को 'आयाम' कहते हैं।[1]

(घ) ऋ०प्रा० ३.१। तै०प्रा० १.३८। वा०प्रा० १.१०८

(ङ) समानयमेऽक्षरमुच्चैरुदात्तम् —च०अ० १.१४

(च) आख्यातं नोदात्तम् —अ०प्रा० १.१७

(छ) या०शि० ७६। व०प्र०शि० ८६। मा०शि० ५ इत्यादि

(ज) पा०सू० १.२.२९

(झ) उदात्तानुबन्ध परस्मैपदम् —का०धा०व्या०सू० ९

(ट) उच्चनीचावुदात्तावनुदात्तौ —जै०व्या० ११.१३

१. (क) ऋ०प्रा० ३.१

(ख) आयामो नाम वायुनिमित्तमूर्ध्वगमनंगात्राणां तेन य उच्चते स उदात्तः —ऋ०प्रा० ३.१ पर उ०भा०

(ग) आयामो दारुण्यमुरुतारवस्येति उच्चैः कराणि शब्दस्य। उच्चलक्षणैः यउपलभ्यमानः स्वरः स उदात्तसंज्ञो भवति। —तै०प्रा० १.३८ पर मा०भा०

(घ) समस्थाने मूर्ध्ना आसन्ने उपरिभागे जातेन प्रयत्नेन उच्चार्यमाणः स्वरः उदात्तगुणकत्वात् उदात्तसंज्ञो भवति। —तै०प्रा० १.३८ पर वै०आ०

(ङ) वा०प्रा० १.१०८.११० पर उवट और अनन्त भट्ट भाष्य

(च) उच्चैरूववार्यते यस्तु स उदात्तः उदाहृतः। आयामो दृढता सौक्ष्म्यं गात्रैऽङ्गेषु तथा गले॥ —कौ०शि० २०

(छ) सं०स०शि० १६। (ज) व्या०शि० ११। (झ) पारि०शि० ९९ एवं इसपर भाष्य।

(ट) यदा सर्वाङ्गानुसारी प्रयत्नस्तीव्रो भवति तदा गात्रस्य निग्रहः कण्ठ

नीच (=अनुदात्त)—ऋक्तन्त्र में 'अनुदात्त' शब्द का प्रयोग कहीं भी नहीं किया गया है। इसे 'नीच' अभिधान से अभिहित किया गया है, जो इसके उच्चरण-वैशिष्ट्य को ध्यान में रखते हुए समीचीन ही है।[1] प्राचीनकाल से अनुदात्त संज्ञा ही व्यवहृत होती रही है, 'नीच' अभिधान तो उसके उच्चरण-गुण की दृष्टि से है।[2] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में इसे विक्रम भी कहा गया है। आचार्य कौण्डिन्य के मत में प्रचय पूर्व तथा उदात्त एवं स्वरित बाद में रहने पर अनुदात्त 'विक्रम' कहा जाता है। पौष्करसादि ने विक्रम के प्रयत्न को दृढ़तर कहा है।[3]

वैय्याकरणों ने अनुदात्त को 'निघात' और सन्न तथा अनुदात्ततर के लिये सन्नतर शब्द का व्यवहार किया है। साधारणतया सर्वानुदात्त के लिए निघात शब्द का प्रयोग व्याकरण में मिलता है।[4]

विलस्य चाणुत्वं स्वरस्य च वायोस्तीव्रगतित्वात् रौक्ष्यं भवति।
—आपि०शि० २० भाष्य

(ठ) एकस्मिस्तात्वादिके स्थाने ऊर्ध्वाधरभागयुक्ते उर्ध्वभागेनोच्चार्यमाण उदात्तः।

(ड) उर्ध्वभागावच्छिन्न वायुसंयोगेनेत्यर्थः।
—म०भा० १.२.२६ पर कैयट एवं नागेश

१. (क) उन्नीचो मे। नीचमुच्चात्। —ऋ०त० २.६.४.५
(ख) सा०तं० १.२ (ग) ऋ०प्रा० ३.१.३

२. (क) नीचैरनुदात्त। तै०प्रा० १.३६। वा०प्रा०१.१०६
(ख) च०अ० १.१५
(ग) या०शि० ७६। व०प्र०शि० ८६। मा०शि० ५ इत्यादि

३. (क) स्वरितयोर्मध्ये यत्र नीचस्यानुदात्तेयोर्वान्यितरतो वोदात्तस्वरितयोः सः विक्रमः।
(ख) प्रचयपूर्वस्य कौण्डिन्यः। —तै०प्रा० १९.१, २
(ग) स्वारविक्रमयोर्दृढप्रयत्नतरः पौष्करसादेः। —तै०प्रा० १७-६

४. (क) पा०सू० १.२.३०.४०। (ख) म०भा० २.१.१
(ग) सन्न शब्देन नीचैरर्थ उच्यते। —प्रौ०म० १२.४०
(घ) निघातमनुदात्तः। —पा०सू० ८.१.३३ पर सि०कौ०
(ङ) सर्वानुदात्तो निपात इति वैयाकरणानां व्यवहारः
—पा०सू० ८.१.२८ सु०बो०।

अनुदात्त शब्द का निर्वचन है—'नीचैरादीयते इत्यनुदात्तः'। इसका आशय है कि तालु आदि उच्चारण-स्थान के अधोभाग से अनुदात्त का उच्चारण किया जाता है। इस अवस्था को 'विश्रम्भ' कहते हैं। अनुदात्त के उच्चारण के समय गाँवों में शिथिलता, मृदुता तथा कण्ठ-विवर में विस्तार होता है।[1]

स्वरित—ऋक्तन्त्र में उदात्त तथा अनुदात्त स्वरों के साथ स्वरित का भी एक स्वतन्त्र स्वर के रूप में निर्देश है। इसके स्वरूप के विषय में कहा

---

१. (क) ऋ०प्रा० ३.१

(ख) विश्रम्भो नामाधोगमनं गात्राणां वायुनिमित्तं तेन य उच्यते स अनुदात्तः। —ऋ०प्रा० ३.१ पर उ०भा०

(ग) अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता रवस्येति नीचैः कराणि नीचलक्षणैः यः स्वर उच्चार्यते सोऽनुदात्त संज्ञो भवति। —तै०प्रा० १.३९ पर मा०भा०

(घ) समाने स्थाने हृदयासन्ने अधोभागे जातेन प्रयत्नेन उच्चार्यमाणस्वरो नुदात्तगुणकत्वादनुदात्तसंज्ञो भवति। उदात्तविरुद्धगुणोऽनुदात्तः।
—तै०प्रा० १.३९ पर वै०आ०

(ङ) अन्ववसर्गो गात्राणां विनतता मार्दव रवस्य स्निग्धता रवस्योरुता कण्ठस्य स्थूलतेत्येतानि साधनानि शब्दस्य नीचैः कराणि, शब्दं नीच मनुदात्तं कुर्वन्तीत्यर्थः। —तै०प्रा० २२.१० पर उ०भा०

(च) वा०प्रा० १.१०८.११० पर उवट और अनन्तभट्ट भाष्य।

(छ) उच्चत्वकारकानेतानाहुः प्राज्ञाः विशेषतः।
नीचैरुच्चार्यते यस्तु सोऽनुदात्तो भिधीयते॥ —कौ०शि० २१

(ज) ह्रस्वत्वंयच्च देहस्य त्वङ्गानां मृदुता चया।
कण्ठाकाशमहत्वं च नीचजन्मनि हेतवः॥ —सं०स०शि० १७

(झ) उच्चारणेऽनुदात्तस्य देहस्य ह्रस्वता भवेत्। —व्या०शि० १२

(ट) अधरभाग निष्पन्नोऽनुदात्तः। नीचैरित्यधोभागः।
—म०भा० १.२.२९.३० पर प्रदीप

(ठ) यस्मिन्नुच्चार्यमाणे गात्राणामन्ववसर्गो नाम शिथिलीभवनं भवति स्वरस्य मृदुता कण्ठविवरस्य उरुता च सौऽनुदात्तः।
—पा०सू० १.२.३० पर काशिकावृत्ति

गया है कि 'स्वरित' की आधी मात्रा उदात्त होती है।[1] स्वरित शब्द 'स्वृ' धातु से निष्पन्न होता है। इसका शाब्दिक अर्थ है—ध्वनित या उच्चरित। प्रातिशाख्य, शिक्षा तथा व्याकरण ग्रन्थों में इसे उदात्त तथा अनुदात्त का समाहार कहा गया है।

उदात्त एवं अनुदात्त के समाहार रूप स्वरित में कितना उदात्तांश होता है तथा कितना अनुदात्तांश; इस विषय में प्रातिशाख्य, शिक्षा एवं व्याकरण ग्रन्थों

---

१. आद्यार्ध मात्रा स्वरितम्। --ऋ०तं० २.६.३।

तु० (क) एकाक्षर समावेशे पूर्वयोः स्वरितः स्वरः।

(ख) एकाक्षर समावेशे सति पूर्वयोरुदात्तानुदात्तयोः स्वरितः स्वरो निष्पद्यते। —ऋ०प्रा० ३.३ एवं इसपर उ०भा०

(ग) समाहारः स्वरितः। —तै०प्रा० १.४०

(घ) समाह्रियत इति समाहारः। तयोर्मेलनजन्यः स्वरः स्वरित इत्यर्थः। —तै०प्रा० १.४० पर त्रि०

(ङ) उभयवान्स्वरितः। —वा०प्रा० १.११०

(च) आभ्यां प्रयत्नाभ्यां समाहारीभूताभ्या यः स्वरः उच्चार्यते स स्वरित-संज्ञो भवति। —वा०प्रा० १.११० पर उ०भा०

(छ) द्वयौस्तु स्वरयोः सन्धावेकीभावो यदा भवेत्।
उदात्तोऽथानुदात्तस्य वशं गच्छति सन्धिषु॥ —मा०शि० ६.२

(ज) कौ०शि० २२। (झ) व०प्र०शि० ९० इत्यादि।

(ट) पा०सू० १.२.३१

(ठ) उदात्तानुदात्तस्वरसमाहारो योऽच् स स्वरितसंज्ञो भवति। सामर्थ्या-च्चात्र लोकवेदयोः प्रसिद्धौ गुणावेद वर्णधर्मावुदात्तानुदात्तौ गृह्येते नाचौ। तौ समाह्रियते यस्मिन्नचि स्वरित इत्येषा संज्ञा विधीयते। —पा०सू० १.२.३१ पर काशिका

(ड) उदात्तानुदात्तत्वे च वर्णधर्मौ समाह्रियेते यस्मिन् योऽच् स्वरितसंज्ञः स्यात्। —पा०सू० १.२.३१ पर सि०कौ० ७

(ढ) ततश्च उदात्त अनुदात्तश्च अच् समाह्रियमाणः स्वरित इत्यर्थः प्रतीयते···ततश्च उदात्तानुदात्तयोधर्मयोर्यस्मिन्नचि मेलनं सोऽच् स्वरितसंज्ञक इत्यर्थः। —पा०सू० १.२.३१ पर बा०म० ७

(त) स्वरितानुबन्ध उभयपदम्। —का०धा०व्या०सू० ८८

(थ) व्यामिश्रः स्वरित इति। —जै०व्या १.१.१४

में अत्यन्त विस्तार से विवेचन किया गया है। सभी सम्प्रदायों का इस विषय में ऐकमत्य है कि स्वरित की आदि की आधी मात्रा उदात्त होती है। यदि स्वरित ह्रस्व है तो उसकी आधी मात्रा उदात्त और आधी मात्रा अनुदात्त होगी। यदि दीर्घ है तो एक मात्रा उदात्त और एक मात्रा अनुदात्त। यदि प्लुत है तो डेढ़ मात्रा उदात्त और डेढ़ मात्रा अनुदात्त होगी। अर्थात् स्वरित के अर्ध-भाग को उदात्त और शेष अर्ध-भाग को अनुदात्त माना गया है।[1]

---

१. (क) तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमात्रार्धमेव वा। —ऋ०प्रा० ३.४

(ख) उदात्तात्सकाशादुदात्ततरादावर्धमात्रा वेदितव्या। —अर्धमेव वा द्विमात्रस्य खरस्यायमुदात्तांशः कथितः।
—ऋ०प्रा० ३.४ पर उ०भा०

(ग) तस्यादिस्तावदुच्चैस्तरामुदात्तादनन्तरे यावदर्ध ह्रस्वस्य।
—तै०प्रा० १.४१

(घ) तस्यादिकच्चैस्तरामुदान्ततरो भवति यावद् ह्रस्वस्यार्धम्।
—तै०प्रा० १.४१ पर त्रि०

(ङ) यावदर्ध ह्रस्वस्य तावन्मात्रामर्ध-मात्रासम्मितोऽश इत्यर्थः।
—तै०प्रा० १.४१ पर वै०आ०

(च) तस्यादित उदान्तं स्वरार्धमात्रकम्। —वा०प्रा० १.१२६
स्वरितस्य स्वरस्यादावुदात्तं ज्ञातव्यं तच्च स्वरार्द्धमात्राकालम्। यद्-येकमात्रो यदि द्विमात्रो यदि त्रिमात्रः स्वरस्तथाप्यर्द्धमुदात्तं परमनु-दात्तम्। अयं तु स्वरिते उदात्तानुदात्त प्रविभागो द्रष्टव्यः।
—वा०प्रा० १.१२६ पर उ०भा०

(छ) च०अ० १.१७।

(ज) मात्रिकं वा द्विमात्रिकं वा स्वर्यते यदिहाक्षरम्।
तस्यादितोऽर्द्धमात्रा वै शेषं तु परतो भवेत्॥ —ना०शि० २.३.६

(झ) मात्रिकं वा द्विमात्रं वा स्वरितं यदिहाक्षरम्।
तस्यादितोऽर्धमात्रा वै शेषं च परतो भवेत्॥ —या०शि० १.६१

(ट) तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्। —पा०सू० १.२.३२

(ठ) का०व्या० १.२.३२

(ड) ह्रस्वग्रहणमतन्त्रम्। स्वरितस्यादितोऽर्धमुदात्तं बोध्यं उत्तरार्ध परि-शेषादनुदात्तम्। —पा०सू० १.२.३२ पर सि०कौ० ८

(ढ) पा०सू० १.२.३२ पर वा०म० ८

कतिपय स्थलों पर इस विषय में मतान्तर है। इनके अनुसार स्वरित का परवर्ती अवशिष्ट अनुदात्तांश उदात्ततर या उदात्त के समान सुनाई पड़ता है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के अनुसार यह परवर्ती आधी-मात्रा उदात्तसम अथवा अनुदात्ततर अथवा अनुदात्तसम होती है।[1] काशिकाकार ने इस विषय में एक अलग मत का प्रतिपादन किया है। इनके अनुसार ह्रस्व स्वरित के प्रारम्भ की आधी मात्रा उदात्त और शेष अर्द्धभाग अनुदात्त होगा। स्वरित के दीर्घ होने पर आधीमात्रा उदात्त और शेष डेढ़ मात्रा अनुदात्त तथा प्लुत स्वरित की आधीमात्रा उदात्त और ढाईमात्रा अनुदात्त होती है।[2]

स्वरित में उदात्त और अनुदात्त के धर्मों के समाहार को समझने के लिये उवट ने दो उदाहरण दिये हैं। जैसे त्रपु और ताम्र के सम्मिश्रण से कांस्य की उत्पत्ति होती है और गुड़ दधि के सम्मिश्रण से मार्जिका नामक पदार्थ की उत्पत्ति होती है; उसी प्रकार उदात्त और अनुदात्त के मेल से स्वरित की उत्पत्ति होती है।[3] महाभाष्यकार पतञ्जलि ने एक अन्य दृष्टान्त दिया है। उनका मत है कि जिस प्रकार कृष्ण और शुक्ल के योग से सारंग या कत्माष की उत्पत्ति होती है; उसी प्रकार स्वरित भी उदात्त और अनुदात्त के संयोग से उत्पन्न होता

---

१. (क) ऋ०प्रा० ३.४.५

(ख) अनन्तरो वा नीचैस्तराम्। तै०प्रा० १.४४

(ग) अनुदात्तसमो वा। —तै०प्रा० १.४५

(घ) आदिरस्योदात्तसमः शेषोऽनुदात्तसम इत्याचार्याः।—तै०प्रा० १.४६

२. तस्य स्वरितस्य आदावर्द्धह्रस्वमुदात्तम् परिशिष्टमनुदात्तम्। ह्रस्वग्रहण-मतन्त्रम्। सर्वेषामेव ह्रस्वदीर्घप्लुतानां स्वरितानामेषस्वरविभागः। शिक्ये-मित्येत्रार्द्धमात्रा-दितउदात्ता अपरार्द्धमात्रा अनुदात्ता एकश्रुतिर्वा। कन्या इत्यत्राद्धमात्रा दित उदात्ता अध्यर्द्धमात्रा अनुदात्ता। माणवका माणवक इत्यत्रार्द्धमात्रा दित उदात्ता अर्द्धतृतीयमात्रा अनुदात्ता।

—पा०सू० १.२.३ पर काशिका

३. यथा त्रपुताम्रयोः संयोगे सति कांस्यस्य धात्वन्तरस्योत्पत्तिरेवमिहापि द्रष्टव्या। —ऋ०प्रा० ३.५ पर उ०भा०

तु० यथा त्रपुताम्रयोः संयोगे धात्वन्तरस्य कांस्यस्योत्पत्तिः यथा च गुड़दध्नोरेकीभावे मार्जिकोत्पत्तिः एवमुदात्तानुदात्तसंयोगे स्वरितोत्पत्तिः।

—वा०प्रा० १.१२६ पर उ०भा०

है।[1] भाष्यकार ने उदात्त-अनुदात्त के संयोग को स्वरित में जल और दूध के संयोग के समान भी माना है। जल और दुग्ध के संयोग से जो पदार्थ बनता है उसके सर्वावयव में ही दूध और जल रहता है उनको पृथक् नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार स्वरित में उदात्तत्व और अनुदात्तत्व का विनिश्चय नहीं हो पाता। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उदात्त और अनुदात्त के सम्मिश्रण से उत्पन्न स्वरित स्वर दोनों से भिन्न होता है।[2]

स्वरित के उच्चारण के सम्बन्ध में विशेष विवरण समुपलब्ध नहीं होता। इस विषय में अधिकांश ग्रन्थकार मौन हैं। ऋक्प्रातिशाख्य में स्वरित को आक्षेप से उच्चरित माना गया है। उच्चारणवयवों का तिर्यग्गमन ही आक्षेप है।[3] वायु के कारण उच्चारण-यंत्रों के पार्श्व-उत्क्षेप से स्वरित स्वर निष्पन्न होता है।[4] और गात्रों में प्रसृता, मृदुता और स्थौल्य इसके उच्चारण का कारण होता है।[5]

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में विभिन्न स्वरितों के उच्चरण-प्रकार का विवेचन है। क्षैप्र, जात्य तथा अभिनिहित-इन स्वरितों के उच्चारण में दृढ़तर प्रयत्न होता है। प्रश्लिष्ट तथा प्रतिहत स्वरितों में मृदुतर प्रयत्न होता है तथा तैरो-व्यञ्जन एवं पादवृत्त स्वरितों में अल्पतर प्रयत्न होता है।[6] पौष्करसादि

---

१. तद्यथा शुक्लगुणः शुक्लः कृष्णगुणः कृष्णः। य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्या लभते कल्पाष इति वा सारङ्ग इति वा। एवमिहापि···य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्या लभते स्वरित इति। —म०भा० १.२.३१

२. आमिश्रीभूतमिवेदं भवति। तद्यथा क्षीरोदके सम्पृक्ते आमिश्रीभूतत्वान्न ज्ञायते कियत् क्षीरम् कियदुदकम्, कस्मिन्नवकाशे क्षीरम् कस्मिन्वोदकमिति। एवमिहाप्यामिश्रीभूतत्वान्न ज्ञायते कियदुदात्त, कियदनुदात्त कस्मिन्नवकाशे उदात्तं कस्मिन्ननुदात्तमिति।
—पा०सू० १.२.३२ पर म०भा०

३. (क) आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्ते। —ऋ०प्रा० ३.१
(ख) आक्षेपोनाम तिर्यग्गमनं गात्राणां वायुनिमित्तं।
—ऋ०प्रा० ३.१ पर उ०भा०

४. स्वर्यते पार्श्वत उत्क्षिप्यत इति स्वरितः। —तै०प्रा० १.४० पर वै०आ०

५. प्रसृता मृदुता स्थौल्यं गात्रादेः कारकं विदुः।
नीचत्वे स्वरितः प्रोक्तस्तयोः सन्धान उच्चते। —कौ०शि० ८

६. (क) क्षैप्रनित्ययोर्दृढतरः। —तै०प्रा० २०.९
(ख) अभिनिहिते च। तै०प्रा० २०.१०
(ग) प्रश्लिष्टप्रातिहतयोर्मृदुतरः। तै०प्रा० २०.११
(घ) तैरोव्यञ्जनपादवृत्तयोरत्पतरो त्पतरः। तै०प्रा० २०.१२

नामक आचार्य के मत में स्वरित का दृढ़ प्रयत्नतर उच्चारण होना है।[1] विभिन्न स्वरितों के उच्चारण में कैसा प्रयत्न होना चाहिए इस बात का उल्लेख वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में भी किया गया है। इसके अनुसार अभिनिहित स्वरित का तीक्ष्ण प्रयत्न से उच्चारण करना चाहिए, क्षैप्र का अभिनिहित की अपेक्षा कुछ मृदु प्रयत्न से, प्रश्लिष्ट का क्षैप्र की अपेक्षा कुछ मृदु प्रयत्न से, तैरोव्यञ्जन का प्रश्लिष्ट की अपेक्षा मृदुतर प्रयत्न से, तैरोविराम का तैरोव्यञ्जन की अपेक्षा मृदुतर प्रयत्न से तथा पादवृत्त का तैरोविराम की अपेक्षा मृदुतर प्रयत्न से उच्चरण करना चाहिए।[2]

उच्च श्रुति (=प्रचय)—अधिकांश मनीषियों ने 'उच्चश्रुति' को स्वतंत्र नहीं माना है, इसकी गणना पराश्रित स्वरों के अन्तर्गत की गई है। ऋक्तन्त्र में कहा गया है कि स्वरित के परे अनुदात्तों का 'उच्चश्रुति' स्वर होता है।[3]

१ २

उदाहरणार्थ व्यदातये (१-१) पद को लिया जा सकता है। इसमें त और ये के स्वरों को 'उच्चश्रुति' कहा गया है। 'उच्चश्रुति' के पर्याय के रूप में 'उदात्त-श्रुति' उदात्तमय, एकश्रुति, एकस्वर, तानस्वर, प्रचय, प्रचित, प्रच, निचित आदि उपलब्ध होते हैं।[4] पाणिनि ने यज्ञ में जप, न्युंख और सामगान को

---

१. स्वरविक्रमयोर्द्धढप्रयत्नतरः पौष्करसादेः। —तै०प्रा० १७.६

२. (क) तीक्ष्णो भिनिहितः परम्परम्मृदुस्त्वन्यः। —वा०प्रा० १.१२५

(ख) तीक्ष्णउच्चरणतो हस्तेन चाभिनिहितः स्वरो भवति ततो न्यो मृदु-प्रयत्नो भवति। किमविशेषेणेत्याह। परस्परं शब्दो व्ययम्। पूर्वम-पेक्ष्य परमपेक्ष्य पर इत्येवम्। यथा अभिनिहितमपेक्ष्य क्षैप्र क्षैप्रमपेक्ष्य प्रश्लिष्टः। क्षैप्रे जात्यश्यान्तर्भावो द्रष्टव्यः। तथा चोक्तम्—

सर्वतीक्ष्णो भिनिहितः प्रश्लिष्टस्तदनन्तरम्।
ततो मृदुतरौ स्वारौ जात्यक्षैप्रावुभौ स्मृतौ॥
ततो मृदुतरः स्वारस्तैरोव्यञ्जन उच्यते।
पादवृत्तौ मृदुतमस्त्वेतत् स्वार बलाबलम्॥

—तै०प्रा० १ १२५ पर उ०भा०

३. तस्मादुच्चश्रुतीनि। —ऋ०तं० ३.१.१

४. (क) आ०श्रौ० २.२।

(ख) ऋ०प्रा० ३.१६, २१, २२ एवं इनपर उ०भा०

(ग) तै०प्रा० २१.१०। (घ) वा०प्रा० ४.४१ (ङ) च०अ० ३.७१

(च) उदात्तान्निहितः स्वरः स्वरितात्प्रचयो भवेत् —या०शि० ८६

छोड़कर तीनों स्वरों की एकश्रुति का विधान किया है।[1] सामान्यतया यह एकश्रुति विकल्प से होती है[2]। इसे व्यवस्थित विभाषा मानकर मन्त्र में त्रैस्वर्य तथा ब्राह्मण में एकश्रुति का विधान किया गया है।

उच्चश्रुति का स्वरूप

उच्चश्रुति की प्रकृति के विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। जिनका ब्यौरा इस प्रकार है—

(अ) **आश्वलायन**—आश्वलायन ने उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित के अत्यन्त सामीप्य को उच्चश्रुति स्वर माना है। यह मत एकश्रुति के स्वरूप को सुस्पष्ट नहीं कर पाता।[3]

(ब) **शौनक**—शौनक के मत में उच्चश्रुति का उच्चारण उदात्त के समान होता है। नारदीय शिक्षा में भी उच्चश्रुति को उदात्त स्वरूपा कहा गया है।[4]

(स) **गार्ग्य गोपालयज्वा**—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में प्रचय स्वर को उदात्त और अनुदात्त के धर्मों से रहित माना गया है। दोनों के धर्मों का सद्भाव एवं

(छ) मा०शि० ५। शै०शि० २२। कौ०शि० ५५।

(ज) प्रचयश्च बुधैः प्रोक्त उदात्तश्रुतिरपि। —व्या०शि० १०

(झ) उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितप्रचिते तथा। —ना०शि० ७.१.१९

(ट) स्वरितात्परमनुदात्तमेकमनेक वाक्षरमुदात्तवत् एकश्रुत्या उच्चारणीयं स्यात्। अयमेव प्रचयः प्रचितः प्रचो निचित उदात्तमय इति वैदिकैर्व्यवह्रियते।

—गोडशे, शङ्कर बालकृष्ण प्रा०प्र०शि०शि०सं० पृ० २.१६

(ठ) म०भा० १.२.३३

(ड) ऐकश्रुत्यं प्रचयनामकं भवति। —ऋ० १.१.१ पर सायण भाष्य

१. पा०सू० १.२.३ , ३६

२. तेन स्वाध्यायकालेऽपि पाक्षिक ऐकश्रुत्यविधिर्भवति। —व्यवस्था च वेदे मन्त्रदले नित्यं त्रैस्वर्यं ब्राह्मणदले नित्यमैक श्रुत्यमिति।

—पा०सु० १.२.३६ पर काशिका

३. उदात्तानुदात्तस्वरितानां परः सन्निकर्ष ऐकश्रुत्यम्। —आ०श्रौ १.२

४. (क) स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचयः स्वरः।
उदात्तश्रुतितां यान्ति एकं द्वेवा बहूनि वा॥ —ऋ०प्रा० ३.१९

(ख) य एवोदात्त इत्युक्तः स एव स्वरितात् परः। प्रचयः प्रोच्यते तज्ज्ञैः
—ना०शि० १.८.२

अभाव ही, गोपालयज्वा के मत से, प्रचय और स्वरित के विभेद को सुस्पष्ट करता है।[1]

(द) **याज्ञवल्क्य**—इनके अनुसार स्वरित में उदात्त और अनुदात्त का संयोग होता है। उसके आदि भाग में उदात्त और अपरभाग में अनुदात्त रहता है। उदात्त और अनुदात्त के एकीभाव को प्रचय कहा जाता है और यह एकीभाव अविभाज्य हुआ करता है।[2]

(य) **वैय्याकरणों का मत**—पाणिनि और उनके अनुयायियों ने भी एकश्रुति का विवेचन किया है। सूत्रों में पाणिनि का मत है एवं विभाषा से उन्होंने दूसरे सिद्धान्त की ओर भी संकेत किया है। महाभाष्यकार के अनुसार कहीं यह उदात्तश्रुति है, कहीं अनुदात्तश्रुति और कहीं उदात्त-अनुदात्त की मध्यवर्ती-श्रुति।[3] एकश्रुति के विषय में काशिकाकार और कैयट का मत सुस्पष्ट है। इनके अनुसार मुदात्तादि स्वरों का अविभाग अथवा अभेद अथवा भेद का तिरोधान हो जाना एकश्रुति कहा जाता है, क्योंकि इसमें नीर तथा क्षीर के सम्मिश्रण के समान उदात्त-अनुदात्त के भेद का तिरोधान हो जाता है।[4]

ऋक्तन्त्रकार ने इस विषय में शौनक का अनुसरण किया है और उच्चश्रुति को उदात्तस्वरूप माना है।[5]

---

१. (क) उभयकरणरहितः प्रचयः। —तै०प्रा० २३-१९

(ख) उभयकरणसमावेशजन्यः स्वरित इति। —तै०प्रा० २३.१९ पर वै०आ०

२. उदात्तानुदात्तयोर्योगे स्वरितः स्वार उच्यते।
ऐक्यं तत्प्रचयः प्रोक्तः सन्धिरेष मिथोऽद्भुतः॥ —या०शि० २२८

३. उदात्ता (एकश्रुतिः) कथं ज्ञायते? यदयमुच्चैस्तरां वा वषट्कार इत्याह ··उच्चैर्दृष्ट्वा उच्चैस्तरामित्येतद् भवति। अनुदात्ता च (एकश्रुतिः) कथं ज्ञायते? यदयमुदात्तंस्वरितपरस्य सन्नतर इत्याह।···सन्नं दृष्ट्वा सन्नतर इत्येतद् भवति। —म०भा० १.२.३३

४. (क) स्वराणामुदात्तादीनामविभागो भेदभेदतिरोधानमेकश्रुतिः। —म०भा० १.२.३३ पर काशिका

(ख) क्षीरोदकवदुदात्तानुदात्तयोर्भेदतिरोधानमेकश्रुतिरित्यर्थः। स्वरिते तु विभागेन तयोरुपलब्धिः। —म०भा० १.२.३३ पर प्रदीप

५. तस्मात् स्वरितात् पराणि उदात्तश्रुतीनि भवन्ति। —ऋ०तं०वृ० ३.१.१। तु० ऋ०प्रा० ३.१९

एक पद में उदात्त की संख्या के विषय में ऋक्तन्त्र में केवल दो ही नियम प्राप्त होते हैं—

२ ३
१. एक पद में एक ही उदात्त होता है। यथा; अग्ने (१-१) यहाँ अकार उदात्त है।[1]

१ २
२. समास में (भी) एक अक्षर उदात्त होता है। यथा; व्यदातये (१-१) इस पद में 'व्य' उदात्त है।[2]

संहिता एवं पदपाठ में भी उदात्तादि स्वर एक दूसरे को नियत स्थिति से प्रभावित करते हैं। ऋक्तन्त्र में इस सम्बन्ध में अधोलिखित नियम प्राप्त होते हैं।

१. यदि स्वरित के बाद अनुदात्त या विराम हो तो स्वरित उदात्त हो जाता है।[3] यथा; पदपाठ संहितापाठ

३ २ ३ ३ २ २
(क) अभि। त्वा। शूर। = अभि त्वा शूर।

२ ३ २ १ २ ३ २ उ
(ख) यत्। इन्द्र। चित्र। मे। इह। न। = यदिन्द्र चित्र म इह न।

यहाँ प्रथम और द्वितीय उदाहरण में भि स्वरित के बाद 'त्वा' अनुदात्त एवं य स्वरित के बाद इ अनुदात्त होने से दोनों उदात्त हो गये हैं। तीसरे उदाहरण में अवसान में स्थित स्वरित ह पदपाठ में उदात्त हो गया है।

२. उदात्त का परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है।[4] यथा;

---

१. पदमेकोच्चम्। —ऋ०तं० ३.१.२ तु०पा०सू० ६.१.१५८

२. समासे। —ऋ०तं० ३.१५। तु०पा०सू० ६.१.२२३

३. उन्नीचे मे। —ऋ०तं० २.६.४

(क) सा०वे० १.२३३

(ख) सा०वे० १.३४५

४. नीचमुच्चात्। —ऋ०तं०, २.६.५

तु० (क) ऋ०प्रा०, ३.१७ (ख) तै०प्रा०, २०.३

(ग) वा०प्रा०, १.११७ एवं ११६ (घ) च०अ०, ३.६२.६३

(ङ) या०शि०, १.८२.८३ (च) मा०शि०, ७.८.६

(छ) स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्। —पा०सू०, ६.१.२२३

(ज) हत्स्वरप्राप्तौ वा व्यञ्जनमविद्यमानवत्।

—का०वा०, ६.१.२२३

(१) सा०वे०, १. १७ (२) सा०वे०, २.१५३

पदपाठ		संहितापाठ
३		१ २
(१) आ । याहि ।	=	आ याहि ।
३ २ १ २ र		३ १ २ र
(२) अग्ने । स्तोमम् ।	=	अग्ने स्तोमम्

उपर्युक्त उदाहरणों में उदात्त के बाद आये हुये अनुदात्त व्यञ्जन और विराम का व्यवधान होने पर भी स्वरित हो गये हैं ।

स्वरों की सन्धि

जब पदान्त और पदादि अक्षरों के मेल से एक अक्षर सम्पन्न होता है तो इन अक्षरों के स्वरों की संहिता के परिणाम-स्वरूप स्वर भी एक ही स्वर हो जाता है । ऋक्तन्त्र में जिन स्वर-संहिता-विषयक नियम का प्रतिपादन किया गया है; वे साधारणतया अन्य प्रातिशाख्यों के एतद्विषयक नियमों के समान हैं ।

१. पूर्ववर्ती या उत्तरवर्ती किसी भी स्वर के उदात्त होने पर सन्ध्यक्षर उदात्त ही होता है । ओदव्रजि का भी यही मत है ।[1] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
२ ३ ३		१ २ ३
(१) आ । इन्द्र । याहि ।	=	एन्द्र याहि ।
२ ३ ३		२ ३
(२) आ । इत । उ ।	=	एतो ।
१ २२ १ २र		२उ ३
(३) अत्र । आह ।	=	अत्राह ।

---

१. वान्तसन्धिः । न्यायेनौदव्रजिः । —ऋ०तं०, २.६.२, १०

तु० (क) उदात्तवत्येकीभावं उदात्तं सन्ध्यक्षरम् । —ऋ०प्रा०, ३.११

(ख) तै०प्रा०, १०.१०

(ग) एकादेश उदात्तेनोदात्तः । —च०अ०, ३.६६

(घ) पा०सू०, ८.२.५

(१) सा०वे०, १.३.४८   (२) सा०वे०, १.३८७

(३) सा०वे०, १.१४७

२. पूर्ववर्ती उदात्त एवं परवर्ती अनुदात्त की संधि के फलस्वरूप प्राप्त स्वर स्वरित होता है।[1] यथा;

	पदपाठ		संहितापाठ
(१)	३ २ ३ श्रुष्टि । अग्ने ।	=	३क २ र श्रुष्ट्यग्ने ।
(२)	३ २ ३ अभि । एति ।	=	३क २र अभ्येति ।
(३)	३ २ ३ अभि । अर्च्चाम ।	=	३क २र अभ्यर्च्चाम ।
(४)	१२र ३ २ ३ पिब । तु । अस्य । गिर्वणः	=	२ ३ २ १ २ पिबा । त्व३स्य गिर्वणः ।
(५)	३ २ ३ २ शग्धि । उ । सु ।	=	३ २ १ शग्ध्यू ३ षु ।

उपर्युक्त उदाहरणों में ऋक्तन्त्र के 'अन्तस्थाम्'[2] सूत्र से संधि हुई है। पहला स्वर उदात्त तथा दूसरा अनुदात्त है। अतः सन्धिज य, ये, य, त्व और यू में स्वर स्वरित हो गया है।

३. इसी प्रसङ्ग में ऋक्तन्त्र में एक सूत्र का निर्देश है। 'क्व+इयथ' 'हि+इन्द्र' और 'नि+इव'—इन तीन उदाहरणों में सन्धिज स्वर के स्वरितत्त्व का विधान है। पूर्ववर्ती उदात्त तथा परवर्ती अनुदात्त सन्धि के फलस्वरूप प्राप्त स्वर स्वरित होता है।[3] यथा;

---

१. संयोगात् । —ऋ०तं०, २.६.६.

तु० (क) ऋ०प्रा०, ३.१३ (ख) तै०प्रा०, १०.१६

(ग) च०अ०, ३.५८ (घ) या०शि०, १.८०

(ङ) कौ०शि०, १२ (च) ना०शि०, २.१.२

(छ) मा०शि०, ७.६

(ज) उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोनुदात्तस्य । —पा०सू०, ८.२.४

(१) सा०वे०, १.१६ (२) सा०वे०, १.५२४

(३) सा०वे०, १.५३५ (४) सा०वे०, २.७४१

(५) सा०वे०, १.२५३

२. ऋ०तं० ३.५.६ ।

३. 'क्वेयहीन्द्रनी-वेति' । —ऋ०तं० २.६.७.

तु०-(क) ऋ०प्रा० ३.११ (ख) वा०प्रा० ४.१.११६ एवं ४.१३३

(ग) च०अ० ३.५६ (घ) या०शि० १.८१

(१) सा०वे० १.२७१ (२) सा०वे० १.४०६ (३) सा०वे० २.१००२

पदपाठ		संहितापाठ
१२ ३		१२र
(१) क्व । इयथ ।	=	क्वेयथ
१ ३क		२ ३ क
(२) अधा । हि । इन्द्र ।	=	अधा हीन्द्र
२ ३		१२र
(३) नि । इव ।	=	नीव

उपर्युक्त पदों की सन्धि में उदात्त के बाद अनुदात्त रहने के कारण 'क्वे' 'ही' 'नी' इन सन्धिज अक्षरों का स्वर स्वरित हो गया है।

४. पूर्वपदान्त उदात्त-धर्मवान् 'तो' 'धे' और 'ते' के साथ उत्तरपदादि अनुदात्त अ की सन्धि होने पर अनुदात्त अ पुर्वरूप हो जाता है, तथा सन्धिज स्वर ए, ओ स्वरित हो जाते हैं। नैगि के अनुसार यह उदात्त और स्वरित दोनों हो सकता है।[1] यथा;

२ ३ 2 ३
(१) ···तोऽस्णप्सु

2 ३ १
(२) वृधेऽस्मान्

(३) ते मन्वन्त

यहाँ तो, धे, और ते स्वरित हो गये हैं।

अन्य प्रातिशाख्यों में सन्धि के फलस्वरूप निष्पन्न स्वरों को प्रश्लिष्ट, जात्य, क्षैप्र, अभिनिहित आदि संज्ञाओं से सम्बोधित किया गया है। ऋक्तन्त्र में इस प्रकार की संज्ञाओं का प्रयोग न करके केवल सूत्रों को ही उल्लिखित किया गया है।

---

१. तोर्धे स्तेम् । नैगिनोभयथोक्तम् । —ऋ०तं० २.६.८, ९
तु० (क) ऋ०प्रा० ३.१३ (ख) तै०प्रा० २०.४ (ग) वा०प्रा० १.११४
(घ) या०शि० १.७९ (ङ) कौ०शि० १४ (च) ना०शि० २.१.३
(छ) मा०शि० ७.३
(१) सा०वे० १.२१९ (२) सा०वे० १.२३९ (३) आ०सं० २२

६

संहिता

सार्थक पदों के समुच्चयात्मक वाक्य में पदान्त एवं पदादि वर्णों का सन्निकर्ष रहता है, जिससे कभी-कभी उच्चारण आदि में कुछ कठिनता हो जाती है। संभवतः इस काठिन्य को दूर करने के लिए संधि का विधान किया गया है जो संहिता में ही होती है।[1]

'सम' उपसर्गपूर्वक 'धा' धातु से 'क्त' प्रत्यय होने के अनन्तर स्त्रीलिङ की द्योतक 'टाप' प्रत्यय होने पर संहिता शब्द निष्पन्न हुआ है। संहिता शब्द का निर्वचन के अनुसार अर्थ है—एकत्र रखा हुआ अर्थात् पदों या वर्णों का अतिशय सन्निकर्ष या मेल।

संहिता का लक्षण

ऋक्तन्त्र में पदों के अतिशय-सन्निकर्ष या आनन्तर्य को 'संहिता' कहा गया है।[2] जब पदान्त और पदादि का मेल होता है, तो वहाँ संहिता सम्पादित होती है। ऐतरेय आरण्यक में कहा गया है कि जब दो अक्षरों को न तो अत्यधिक मिलाकर और न अत्यधिक पृथक् करके उच्चरण किया जाता है, तो दोनों पदों के मध्य अवकाश को 'संहिता' कहा जाता है।[3] ऋक्प्रातिशाख्य

---

१. संहितायामेव सन्ध्यः स्युः। —का०प० १.६५ पर श्रीपति दत्त

२. (क) सन्निकर्षः संहिता। —ऋ०तं० ३.१.७

(ख) सन्निकर्षः संहिता भवति। पदस्येत्यधिकारः। आनन्तर्यं संहिता। —ऋ०तं०वृ० ३.१.७

तु० (क) परः सन्निकर्षः संहिता। नि० १.६ (ख) पा०सू० १.४.१०९

(ग) पदनैरन्तर्ये संहिताव्यवहारस्तथैकपद्येऽपि वर्णनैरन्तर्ये।

म०भा० १.४.१०९ पर कैयट

३. पूर्वमक्षरं पूर्वरूपमुत्तररूपं योऽवकाशः। पूर्वरूपोत्तररूपे अन्तरेण सा संहितेति। —ऐ०आ० ३.१.५

के अनुसार काल के व्यवधान के बिना पदान्त और पदादि का मेल संहिता है।[1] संहिता में पदों के अतिशय सन्निकर्ष होने से दोनों पदों के मध्य अर्धमात्रा-काल का भी व्यवधान नहीं होता।[2] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का मत है कि दोनों पदों का उच्चारण एक ही श्वास में करना संहिता है।[3]

ऋक्तन्त्र में 'सन्धि' का लक्षण अथवा परिभाषा नहीं दी गई है, परन्तु उदात्तादि स्वरों के मेल के सन्दर्भ में 'सन्धि' पद का व्यवहार किया गया है।[4] परन्तु सन्धि का लक्षण करते हुए कहा गया है कि पदान्त तथा पदादि वर्णों का मेल सन्धि है।[5] यह वाजसनेयी प्रातिशाख्य का मत है। ऋक प्रातिशाख्य में इसी अर्थ में 'सन्धि' पद का प्रयोग किया गया है, परन्तु इसके लक्षण आदि का कथन नहीं है।[6] अन्य प्रातिशाख्यों में 'सन्धि' शब्द का व्यवहार प्राप्त नहीं होता।

संहिता और सन्धि—इन दोनों पदों में प्रयोगगत भेद है। वर्णों का अतिशय सन्निकर्ष संहिता है और संहिता के फलस्वरूप प्राप्त कार्य, विकार अथवा फल को संधि कहा जाता है।[7] अतः संहिता पूर्वावस्था है और सन्धि

---

१. पदान्तान्पदादिभिः संदधेति यत्सा कालाव्यवायेन। —ऋ०प्रा० २.२

२. वर्णान्तराव्यवहितयोर्द्वयोर्वर्णयोः सुसन्निकर्षो भवति। स हि निरतिशयमानन्तर्यम्। अर्धमात्राकालेनाव्यवायः संहितोच्ये।
—का०प० १.६५ पर श्रीपति दत्त

३. अथ संहितायामेकप्राणभावे। —तै०प्रा० ५.१
तु० वर्णानामेकप्राणयोगः संहिता। —वा०प्रा० १.१५८

४. (क) वान्तसंधिः। —ऋ०तं० २.६.२
(ख) शास्त्रे प्राप्ते लोपे च सन्धि ग्राह्यः। —ऋ०तं०वृ० २.६.२

५. पदान्तपदाद्योः संधिः। —वा०प्रा० ३.३

६. ऋ०प्रा० २.३४; ४.४१; ४.७८; ७.१ इत्यादि।

७. (क) सर्वप्रकरणव्यापी वर्णमात्रानिमित्तकः।
वर्णो विकारः सन्धिः स्याद् विषयाक्षेपकः क्वचित्॥
—हरिना० १.४५
(ख) सन्धिविधेयकार्यं सन्धिरित्युपचारात्।
अनेन संहिता न विकल्प्यते। कि तर्हि? सत्यमपि संहितायां तदाश्रितं संधिकार्यमेव। —का०व्या १.२.१८ एवं १.१.१३ पर कविराज।
(ग) प्रकृतेः प्रत्ययस्यापि सम्बन्ध-नियमं बिना।
वर्णसंज्ञानुबन्धी यः कार्यः स-सन्धिरुच्चते॥ —प्रयो०व्या० १.१.६५

परवर्ती विकृत अवस्था। विकार के लिए सन्निकर्ष अत्यन्त आवश्यक है।[1] क्योंकि संहिता में ही संधि का अस्तित्व निहित है।[2] सन्धि के पर्यायवाची के रूप में 'सन्धान'[3] और 'संस्कार'[4] पदों का भी प्रयोग मिलता है। शाकटायन-प्रक्रिया-संग्रह में सन्धान, संधि और संहिता को समानार्थक माना गया है।[5]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि संहिता अर्थात् वर्णों के अतिशय सामीप्य के फलस्वरूप होने वाले यणादि कार्य के लिए 'सन्धि' शब्द का व्यवहार किया जाता है।

संहिता-विकार

संहिता के परिणामस्वरूप ऋक्तन्त्र में विकार को लोप, आगम, प्रकृति भाव एवं विकार ये चार विभाग किए गए हैं।[6] जिनका विवरण ऋक्तन्त्र में इस प्रकार प्राप्त होता है—

लोप—परिस्थिति विशेष में किसी वर्ण की अप्राप्ति को लोप कहा जाता

---

१. यः परः सन्निकर्षो नान्तरेण विकारम्। —ऋ०तं०वृ० ३.१.७

२. का०प० १.६५ पर श्रीपति दत्त।

३. इति पूर्वेषु संधानंपूर्वैः स्वः स्यादसंहितम्। तदवग्रहवदं ब्रूयात्।
—ऋ०प्रा० १०.१७

तु० (क) वायुशरीरसमीरणात् संधाने। —तै०प्रा० २.२

(ख) सन्धानं सन्धिः। उत्कृष्टो वर्णानां सन्निकर्ष उच्यते।
—का०व्या० १.२.१८ पर दुर्ग

४. (क) स्वरसंस्कारयोश्छन्दसि नियमः। —वा०प्रा० १.१

(ख) संस्कारो लोपागमवर्णविकारप्रकृतिभावलक्षणः।
—वा०प्रा० १.१ पर उ०भा०

५. पूर्वोत्तरवर्णानामविरामेणोच्चारणं सन्धानं सन्धिः संहितेति यावत्।
—शाकटायन-प्रक्रिया-संग्रह-पृ० १०

६. ...लोपागमप्रकृतिभावश्चविकारः। —ऋ०तं०वृ० ३.४.१

तु० (क) संस्कारो लोपागमवर्णविकारप्रकृतिभावश्च लक्षणः।
—वा०प्रा०, १.१ पर उ०भा०

(ख) सन्धिश्चतुर्विधो भवति लोपाऽऽगमविकाराः प्रकृतिभावश्चेति।
—या०शि० २.२.१

(ग) लोपागमौ विकारश्च प्रकृत्या भवनं तथा।
ज्ञातव्यो निपुणैरेवं संस्कारो सौ चतुर्विधिः॥ —व०प्र०शि० २०

है। लोप शब्द अदर्शन, अनुपलब्धि, विनाश आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है।[1] इस अर्थ में लोप के अतिरिक्त लुप्र[2] श्लु,[3] ल,[4] हर और महाहर[5] इत्यादि शब्दों का भी प्रयोग किया गया है।

लोप शब्द लुप या लुञ्च धातु से क्विप् प्रत्यय होने पर निष्पन्न होता है।[6] ऋक्तन्त्र में विसर्जनीय आदि जिन वर्णों के लोप का परिस्थिति विशेष में विधान किया गया है उनका विवरण इस प्रकार है—

विसर्जनीय लोप

(१) उदात्त एषः, सः स्यः पद के विसर्जनीय का, व्यञ्जन परे रहते लोप होता है।[7] यथा—

---

१. विनाशो लोपः। —तै०प्रा०, १.५७
 तु० (क) वर्णस्यादर्शनं लोपः। वा०प्रा० १.१४१
 (ख) दृशिधातुरूपलब्धिवचनः। अनुपलब्धिदर्शनं वर्णस्य लोप इत्युच्यते। —वा०प्रा० १.१४१ पर उ०भा०
 (ग) लोपः स्यादप्यदर्शनम्। —व्या०शि० १०
 (घ) अदर्शनं लोपः। —पा०सू०, १.१.६०
 (ङ) अदर्शनमश्रवणमनुच्चारणमनुपलब्धिरभावो वर्णविनाश इत्यनर्थान्तरमेतैः शब्दैर्योर्थोभिधीयते तस्य लोप इतीयं संज्ञा भवति। —पा०सू०, १.१.६० पर काशिका

२. लुबन्यः। —ऋ०तं०, ३.३.३
 तु० (क) नि० २.१ (ख) ऋ०प्रा, ४.८०; १४.१२ इत्यादि
 (ग) तै०प्रा०, ८.१६; ९.१; १९.२२ इत्यादि।
 (घ) वा०प्रा०, १.५७; २.१४ (ङ) च०अ०, १.६७.२.१८, ३२, ५५
 (च) पा०सू०, १.१.६०, ६१

३. प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः। —पा०सू० १.१.६१ एवं २.४.७५

४. सर्वादि ···प्रत्ययस्य लो भवति लुग् भवति इत्यर्थ। —हरदत्त, पदमञ्जरी पृ० २५०

५. हरो यथा नाशहेतुर्भवति तथा यो विधिः प्रवर्तते स लो हरश्चोच्यते।··· आत्यन्तिकलयहेतुर्महाहरः। लुगित्यन्ये। —हरिना०, १.८५ पर वृत्ति

६. लुञ्चनं लुक्। लुञ्च अपनयने। —का०वृत्ति ३.४.९२ पर दुर्ग

७. बुदेष स स्य व्यञ्जने। —ऋ०तं०, ४.२.६
 तु० (क) व्यञ्जने च। स्य एष च। —वा०प्रा० ३.१६, १७

वकार लोप

(१) कतिपय आचार्यों का मत है कि साम-गान में दो स्वरों के मध्य स्थित वकार का भी लोप हो जाता है।[1] यथा;

(१) हावात्र

इन आचार्यों के अनुसार उपर्युक्त पद के वकार का लोप भी हो जाता है।

(२) नैगिशाखा के अनुयायियों का मत है कि यदि वकार के बाद उ हो तो वकार का लोप हो जाता है।[2] यथा;

(१) अष्टौ उपरि = अष्टाव् उपरि = अष्टा उपरि।

(२) कौ उपरि = काव् उपरि = का उपरि।

(३) तौ उपरि = ताव् उपरि = ता उपरि।

यहाँ 'सन्ध्यमयवायावा' सूत्र (ऋ०तं० ३.६.१) से वकार हुआ। उसका प्रस्तुत सूत्र से लोप हो गया।

अपवाद

'तु' पद बाद में हो तो 'वो' के वकार का साम-गान में लोप नहीं होता।[3] यथा;

हा वो तुः।

यकार एवं वकार लोप

(१) अर्ध यकार एवं वकार का लोप हो जाता है।[4]*

---

१. वमेके। —ऋ०तं०, ४.२.१०

(१) सामगान, १.१४७

२. व नैगिरुस्थे। —ऋ०तं०, ४.३.२

तु० (क) तै०प्रा०, ६.१६-२३

(ख) यवयोः पदान्तयोः स्वरमध्ये लोपः। —वा०प्रा०, ४.१२५

(ग) स्वराद्यवयोः पदान्तयोः। —च०अ०, २.२१

(घ) लोपः शाकल्यस्य। —पा०सू०, ८.३.१९

३. नो तौ। —ऋ०तं०, ४.३.३

सामगान, १.४९७

४. अर्द्धं वा। —ऋ०तं०, ४.३.१

तु० (क) तै०प्रा०, ८.१६.२३

(ख) लेशवृत्तिरधिस्पर्शशाकटायनस्य। —च०अ०, २.२४

(ग) व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य। —पा०सू०, ८.३.१८

*उदाहरण अप्राप्त है।

अत् लोप

'इति' पद बाद में हो तो पटत् आदि पदों के अत् अंश का लोप हो जाता है ।[1] यथा;

(१) पटत् इति = पटिति । (२) म्रसत् इति = म्रसिति ।
(३) द्रसत् इति = द्रसिति ।*

उपर्युक्त सभी उदाहरणों में अत् अंश का लोप हो गया है ।

अभ्यस्त दकार लोप

'इति' पद बाद में हो तो पटत् आदि पदों के अभ्यस्त दकार का लोप हो जाता है ।[2] यथा;

(१) पटत्पटद् इति = पटत्पटेति ।
(२) द्रसद्द्रसद् इति = द्रसद्द्रसेति ।
(३) म्रसन्म्रसद् इति = म्रसन्म्रसेति ।**

उपर्युक्त स्थलों पर अभ्यस्त पद के दकार का लोप हो गया है और तदनन्तर 'अस्थनामिनी सन्ध्यम्' (ऋ०तं० ३.४४) सूत्र से सन्ध्यक्षर ए हो गया है ।

दकार लोप

'पृषोदर' आदि पदों के दकार का लोप हो जाता है[3] । यथा;

(१) पृषद् उदरे=पृषोदरे । (२) पृषद् आदानम्=पृषादानम् ।***

यहाँ प्रस्तुत सूत्र से दकार का लोप और 'अस्थनामिनी सन्ध्यम्' (ऋ० तं०, ३.४.४) सूत्र से सन्ध्यक्षर ओ और दूसरे उदाहरण में 'रौघम् (ऋ० तं०, ३.४.३) सूत्र से दीर्घ होकर उपर्युक्त रूप निष्पन्न हुए हैं ।

---

१. अत् पदादीनामितौ । —ऋ०तं०, ४.३.४
तु० अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ । —पा०सू०, ६.१.९८
* उदाहरण लौकिक है ।

२. दोऽभ्यासे । —ऋ०तं०, ४.३.५
तु० नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तुवा । —पा०सू०, ६.१.९९
** उदाहरण लौकिक है ।

३. पृषोदरादीनाम् । —ऋ० तं०, ४.३.६.१
तु० 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् । —पा० सू०, ६.३.१०९
*** उदाहरण लौकिक है ।

सकार लोप

'उत्' पहले हो तो 'स्था, स्तम्भ' आदि पदों का आदि अक्षर लुप्त हो जाता है[1]। यथा;

(१) उत् स्थाता = उत्थाता। (२) उत् स्थास्यति = उत्थास्यति।
(३) उत् स्थानिकाम् उत् स्थम्भयति = उत्थानिकामुत्थम्भयति।
(४) शकटम् उत् स्तम्भिता = शकटमुत्तम्भिता।*

उपर्युक्त सभी पदों में उत् पूर्व में रहने के कारण स् का लोप हो गया है।

इतिकरण लोप

पद-पाठ में प्रयुक्त 'इति' का संहिता में लोप हो जाता है[2]। यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) मही इति। यज्ञस्य।	=	मही यज्ञस्य।
(२) घृतवती इति।	=	घृतवती।

यहाँ इतिकरण का प्रस्तुत सूत्र से लोप हो गया है।

उच्चारण-गत-लोप

(१) उच्चारण-प्राप्त समान स्थानीय वर्ण के प्रथम वर्ण का लोप हो जाता है।[3] यथा;

(१) आथर्वणे। (२) इमास्त इन्द्र।

उच्चारण-काल में आथर्वणे, इन्द्र में क्रमशः थकार और नकार की प्राप्ति होती है, जिसका प्रस्तुत सूत्र से लोप होने पर उपर्युक्त रूप निष्पन्न हुए हैं।

---

१. उत् स्थास्तम्भोः। —ऋ० तं०, ४.३.७
तु० (क) अश्वात् स्थे तकारं संज्ञायाम्। —वा० प्रा०, ४.९८
(ख) उत्पूर्वः सकारो व्यञ्जन परः। —तै० प्रा०, ५.१४
(ग) लोप उदः स्थास्तम्भोः सकारस्य, —च० अ०, २.१८
(घ) उदः स्था स्तम्भोः पूर्वस्य। —पा० सू०, ८.४.६१
* उदाहरण लौकिक है।
२. पूर्णइतिकरणाभ्यस्ते। —ऋ० तं०, ३.३.४
(१) सा० वे०, १.११७ (२) सा० वे०, १.३७८
३. तुल्ये। —ऋ० तं०, ४.३.८
(१) आरण्यक गान, १.२०९ (२) सा० वे०, १.१८७

(२) स्वर से परे संयुक्त अन्तःस्थ वर्ण के समान स्थानीय वर्ण का उच्चारण-काल में लोप हो जाता है।[1] यथा;

(१) न वेद्यम्। (२) अबोध्यग्निः।

उच्चारण के समय 'वेद्द्यम्' 'अबोध्ध्यग्निः' सुनाई देते हैं। अतः द्वित्व प्राप्त संयुक्त अन्तःस्थ दकार और धकार का लोप हो गया है।

(३) उच्चारण-काल में प्राप्त सोष्म वर्ण के प्रथम समानस्थानीय वर्ण का लोप हो जाता है।[2] यथा;

(१) सख्यं ते। (२) अछा नप्त्रे। (३) दूद्यम्।

उपर्युक्त तीनों पदों में क्रमशः क, च और ड ध्वनि उच्चारण में प्राप्त होती है। प्रस्तुत नियम से इनका लोप होकर ये रूप निष्पन्न हुए हैं।

व्यवधान (आगम)

व्यवधान का शाब्दिक अर्थ है—अवरोध। जब दो वर्णों के मध्य एक अतिरिक्त वर्ण आकर अवरोध उत्पन्न करता है, तो उसे 'व्यवधान' कहा जाता है, क्योंकि दो पदों या वर्णों के मध्य आया हुआ यह वर्ण पूर्ववर्ती और परवर्ती शब्दों के बीच व्यवधान का कार्य करता है।[3] इसे 'उपजन' और 'आगम' भी कहा गया है।[4] ऋक्तन्त्र में वर्णों के व्यवधान का विधान जिन परिस्थितियों में किया गया है, उनका विवरण इस प्रकार है—

---

१. रात् स्थाजपरे। —ऋ० तं०, ४.३.९
(१) सा० वे०, १.५ (२) सा० वे० १.७३

२. सोष्मण उष्मा। —ऋ० तं०, ४.४.१
तु० (क) सोष्मा तु पूर्वेण सहोच्यते सक्रुत्स्वेन। —ऋ० प्रा०, ६.७
(ख) प्रथमैर्द्वितीयैस्तृतीयैश्चतुर्थाः। —वा० प्रा०, ४.१०८
(ग) सोष्मणि पूर्वस्यानुष्मा। —च० अ०, १.९४
(१) सा० वे०, १.२३४ (२) सा० वे०, १.२१ (३) सा० वे०, १.११३

३. टं पूर्वरूपं करौतौ प्रत्यये सकारो व्यवधीयते। —ऋ० तं० वृ०, ४.५.४
तु० वा० प्रा०, ४.१४ पर उ० भा०

४. अथापि वर्णोपजनः। आस्थद् द्वारो भरुजेति। —नि०, २.१
तु० (क) पुरुपृथुविधिपूर्वेषु शकार उपजायते। —ऋ० प्रा०, ४.८४
(ख) ओष्ठ्योन्योर्भुग्नमनोष्ठ्ये वकारोऽत्रान्तरागमः। —ऋ० प्रा०, २.३१
(ग) ऋ० प्रा०, वि० व०,५ (ध) तै० प्रा०, १.२३ (ङ) ऋ० तं० ३.४.१
(च) या० शि०, २.८१ (छ) पा०सू०, ६.३.६७,६८ एवं इस पर काशिका।

ककार-व्यवधान

वर्ग के अन्तिम वर्ण के पश्चात् अघोष वर्ण आने पर वर्ग के प्रथम वर्ण का व्यवधान हो जाता है[1]। यथा;

(१) प्रत्यङ् शेते = प्रत्यङ् क्शेते। (२) प्रत्यङ् षण्डे = प्रत्यङ्क्षण्डे।
(३) प्रत्यङ् सारे = प्रत्यङ् क्सारे।*

इन उदाहरणों में ङ् (अन्तिम वर्ण) के बाद श, ष, स (अघोष) होने के कारण क् (प्रथम वर्ण) का व्यवधान हो गया है।

तकार-व्यवधान

(१) नकार के परे सकार होने पर तकार का व्यवधान हो जाता है[2]। यथा;

(१) तिलान् सायी = तिलान्त्सायी। (२) भवान् सायी = भवान्त्सायी।
(३) महान् सायी = महान्त्सायी।

पदपाठ		संहितापाठ
(क) महान्। समुद्रः।	=	महान्त्समुद्रः।
(ख) हरिवान्। सुतानाम।	=	हरिवान्त्सुतानाम्।
(ग) केतून। सम्।	=	केतून्त्सम्।

---

१. अन्त्यात्प्रथमो घोषे। —ऋ० तं०, ४.५.२
तु० (क) ङपूर्वः ककारः सषकारपरः। —तै० प्रा०, ५.३२
(ख) ङनौ ताभ्यां सकारे। —वा० प्रा०, ४.१४
(ग) ङणनेभ्यः कटतैः शषसेषु। —च० अ०, २.६
(घ) ङकारे घोषोष्मपरे न्तरैके ककारम्। —ऋ० पा०, ४.१६
(ङ) ङ्णोः कुक्कुट शरि। —पा० सू०, ८.३.२८
* उदाहरण लौकिक है।

२. नात् सि। —ऋ० तं०, ४.५.३
तु० (क) टकारनकारयोस्तु। आहुः सकारोदययोस्तकारम्।
—ऋ० प्रा०, ४.१७
(ख) टनकारपूर्वश्च तकारः। —तै० प्रा०, ४.३३
(ग) नश्च। —पा० सू० ८.३.३०
(१) (२), (३) सभी उदाहरण लौकिक हैं। (क) —सा० वे०, १.४२६
(ख) सा० वे०, १.२२६ (ग) आ० सं०, २४

उपर्युक्त सभी उदाहरणों में न के उपरान्त सकार होने से तकार का व्यवधान हो गया है।

(२) ट के बाद सकार होने पर भी कुछ आचार्यों के अनुसार तकार का व्यवधान हो जाता है[1]। यथा;

(१) षट् सा भोजयति = षट्त्सा भोजयति।

(२) षट् स्वितम् = षट्त्स्वितम्।

(३) षट् स्विति कायिनः = षट्त्स्विति कायिन्।*

इन सभी उदाहरणों में ट के बाद स होने के कारण त का व्यवधान हो गया है।

सकार-व्यवधान

(१) सं के बाद कृ धातुज रूप होने पर सकार का व्यवधान हो जाता है[2]। यथा;

(१) सं करोति = संस्करोति। (२) सं कर्ता = संस्कर्ता।

(३) सं करिष्ये = संस्करिष्ये।**

उपर्युक्त उदाहरणों में सं के बाद करोति, कर्ता और करिष्ये इन रूपों के कृ धातुज रूप से निष्पन्न होने के कारण सर्वत्र सकार का व्यवधान हो गया है।

(२) सम् के बाद व्यवाय होने पर भी कृ धातु के ककार से पूर्व सकार का व्यवधान होता है[3]। यथा;

---

१. टान्तमेके। —ऋ० तं०, ४.५.४ तु० (क) ऋ० पा०, ४.१७
(ख) तै० प्रा०, ५.३३ (ग) टकारात्सकारे तकारेण। —च० अ०, २.८
* उदाहरण लौकिक है।

२. स सं करोतौ। —ऋ० तं०, ४.५.५
तु० (क) सं पूर्वः सकारः कुरुपरः। —तै० प्रा०, ५.६
(ख) संस्कृतं संस्कृतिर्मास्पचन्याः पूँश्चलूमित्यनुनासिकोपधत्वात्। —वा० प्रा०, ५.४३
(ग) संपरिभ्यां सकारादौ करोतौ। —च० अ०; ४.५८
(घ) संपुंकानां सो वक्तव्यः। —पा० सू०, ८.३.३४ पर वार्त्तिक।
** उदाहरण लौकिक है।

३. अङ्गव्यवाये चाङ्गपरः। —ऋ० तं०, ४.५.६
तु० (क) अकुर्वं च प्रत्यायात्परः। —तै० प्रा०, ५.७
(ख) सट्कात् पूर्वः। —पा० सू०, ६.१.१३१
इस अधिकार सूत्र से पाणिनि ने यह व्यवस्था कर दी है कि सकार का आगम क से पहले ही होता है।

(१) सम् अकरोत् = समस्करोत् (२) सम् अकुरुताम् = समस्कुरुताम् ।

(३) सम् अकार्षीत् = समस्कार्षीत् (४) सम् चिकीर्षति = सञ्चिस्कीर्षति ।*

उपर्युक्त तीन उदाहरणों में सम् से परे आकार तथा चौथे उदाहरण में 'चि' का व्यवधान है, तथापि कृ धातु से पूर्व सकार का आगम हो गया है ।

(३) कृ धातु जब स्वयं दृष्टिगोचर न हो तो वह चकार को प्राप्त हो जाती है। सम् के बाद कृ के स चकार का व्यवधान होने पर भी पूर्वोल्लिखित नियम से कृ के ककार से पूर्व सकार का व्यवधान हो जाता है[1] । यथा;

(१) सम् चकार = संचस्कार । (२) सम् चक्रतुः = संचस्क्रतुः

(३) सम् चक्रे = संचस्क्रे ।**

यहाँ कृ के अभ्यास ककार चकार में परिवर्तित हो गया है। तदनन्तर ऋक्तन्त्र (४.५.६) सूत्र से सकार का व्यवधान होकर उपर्युक्त सभी रूप सिद्ध हुए हैं ।

(४) परि एवं उप के पश्चात् कृ धातु के रूप के ककार को सकार का व्यवधान हो जाता है, यदि वाक्य से अलंकृत तथा आधिक्य का तात्पर्य व्यक्त हो ।[2] यथा;

(१) परिकृतम्	=	परिष्कृतम् ।
(२) परिकृतः रथः	=	परिष्कृतो रथः ।
(३) गोभिः र्भगं परि कृतम्	=	गोभिर्भगं परिष्कृतम् ।
(४) ब्राह्मणम्-उपकारं जल्पति	=	ब्राह्मणमुपस्कारं जल्पति ।***

इन वाक्यों में पूर्वोक्त अर्थों के व्यक्त होने के कारण सकार का व्यवधान

* उदाहरण लौकिक है ।

१. कृ चकारमस्वयं दृष्टे । —ऋ० तं०, ४.५.७

** उदाहरण लौकिक है ।

२. पर्युपभूषणप्राचुर्य वाक्येषु । —ऋ०तं०, ४.५.८

तु० (क) परीति पद्ये कृपरे पकारः । परिष्कृण्वन्ति वेधसः ।
—ऋ०प्रा०, ४.८५, ८७

(ख) परिकृते पकारेण । —वा०प्रा०, ३.५३

(ग) संपर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे। समवाये च। उपात् प्रतियत्नवैकृत-वाक्याध्याहारेषु च । —पा०सू०, ६.१.१३७-१३९

*** उदाहरण लौकिक है ।

हो गया है। भूषण अथवा प्राचुर्य अर्थ यदि विवक्षित न हों तो सकार का व्यवधान नहीं होगा। वहाँ परिकृतम् आदि ही रूप होंगे।

(५) मर्यादा और वर्चस्क (अन्न का कचरा) अर्थ में अव के पश्चात् कृ धातु के ककार को सकार का व्यवधान होता है।[1] यथा;

"अवस्कारमयं ब्राह्मणः अस्मत्तो मर्यादां बध्नीते"।*

यहाँ मर्यादा अर्थ में अव के पश्चात् कृ धातु के क को सकार का आगम हुआ है। उपर्युक्त अर्थ द्योतित न होने पर सकार का व्यवधान नहीं होगा।

(६) पर्वत अर्थ अपेक्षित हो तो पार शब्द के पश्चात् कृ धातुज रूप रहने पर सकार का व्यवधान होता है।[2] यथा;

पारस्करः पर्वतः।**

यहाँ पर्वत अर्थवाची होने के कारण पूर्ववर्ती पार के पश्चात् कृ धातुज रूप होने से सकार का व्यवधान हो गया है।

(७) रथ अर्थ अपेक्षित होने पर पूर्ववर्ती अपशब्द के पश्चात् कृ धातुज रूप हो तो सकार का व्यवधान होता है।[3] यथा;

"अपस्करो नाम रथः"।***

यहाँ रथ अर्थ अपेक्षित है। अतएव अप के पश्चात् कृ धातुज रूप के होने के कारण ककार को सकार का व्यवधान हो गया है।

(८) अध्यात्म (अपना) अर्थ अपेक्षित होने पर पूर्ववर्ती अप के पश्चात् कृ धातुज रूप हो तो सकार का व्यवधान हो जाता है।[4] यथा;

---

१. अवमर्यादावर्चस्कयोः। —ऋ०तं०, ४.५.९
तु० वर्चस्के वस्करः। —पा०सू०, ६.१.१४८
* उदाहरण लौकिक है।

२. पार पर्वते। —ऋ०तं०, ४.५.१०
तु० पारस्कर प्रभृतीनि च संज्ञायाम्। —पा०सू०, ६.१.१५७
** उदाहरण लौकिक है।

३. अपरथे। —ऋ०तं०, ४.६.१
तु० अपस्करो रथाङ्गम्। —पा०सू०, ६.१.१४९
*** उदाहरण लौकिक है।

४. किरतावध्यात्मम्। —ऋ०.तं०, ४.६.२
तु० अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने। —पा०सू०, ६.१.१४२

"अपस्किरते अविमजश्चर्षमश्च" ।*

यहाँ अध्यात्म अर्थ अपेक्षित है । अतएव अप के पश्चात् लवनार्थक किरत रूप होने के कारण सकार का व्यवधान हो गया है । अध्यात्मक की विवक्षा न होने पर अयकरः रूप ही सिद्ध होता है ।

(६) 'उप', 'प्रति' के पश्चात् कृ धातु का कोई भी रूप होने पर यदि हिंसा सूचित हो तो सकार का व्यवधान होता है ।[1] यथा;

(१) उपकिरस्व पांशू मुष्टिना ।

(२) प्रति किरस्व भस्म मुष्टिना ।**

उप, प्रति के पश्चात् हिंसा अर्थ में कृ धातु का रूप किरस्व होने के कारण सकार का व्यवधान हो गया है ।

(१०) वि के पश्चात् कृ धातुज रूप रहने पर सकार का व्यवधान होता है, यदि वह शब्द पक्षी का वाचक हो ।[2] यथा;

विष्किरा नाम शकुनाः ।***

उपर्युक्त उदाहरण में शकुनार्थक शब्द में वि पूर्ववर्ती है एवं उसके पश्चात् कृ धातु का रूप है । अतएव सकार का व्यवधान हो गया है ।

(११) यदि जाति-संज्ञक हो तो कुतुम्बुरु पद में कु के बाद सकार का व्यवधान होता है ।[3] यथा;

(१) कुस्तुम्बुरु ।****

यहाँ 'कुस्तुम्बुरु' शब्द जाति का सूचक है, अतएव सकार का व्यवधान हो गया है । जाति की अपेक्षा न होने पर कुतुम्बुरु रूप ही होगा ।

---

* उदाहरण लौकिक है ।

१. उपप्रतीर्हिसायाम् । —ऋ०तं०, ४.६.३

तु० (क) किरतौ लवने । —पा०सू०, ६.१.१४०

(ख) हिसायां प्रतेश्च । —पा०सू०, ६.१.१४१

** उदाहरण लौकिक है ।

२. विशकुनौ । —ऋ०तं०, ४.६.४

तु० विष्किरः शकुनिर्विकिरोवा । —पा०सू०, ६.१.१५०

*** उदाहरण लौकिक है ।

३. कुस्तुम्बुरु जातिः । —ऋ०तं०, ४.६.५

तु० कुस्तुम्बुरुणि जातिः । —पा०सू०. ६.१.१४३

**** उदाहरण लौकिक है ।

(१२) यदि आपद शब्द आस्था सूचक हो तो आ के बाद सकार का व्यवधान होता है।[1] यथा;

(१) आस्पदं लब्ध्वा गावो ब्राह्मणाश्च ।*

यहाँ आस्था अर्थ में आस्पद शब्द है अतः सकार का व्यवधान हुआ है। अन्यथा आपदम् रूप होगा ।

(१३) नैरन्तर्य द्योतित होने पर अपर पर शब्द में सकार का व्यवधान होता है ।[2] यथा;

(१) अपरस्परं धावन्ति भुञ्जते शेरते च ।**

उपर्युक्त उदाहरण में तीनों क्रियाओं में नैरन्तर्य है। अतएव 'अपरस्पर' शब्द में सकार का व्यवधान हुआ है। नैरन्तर्य सूचित न होने पर सकार का व्यवधान नहीं होगा। यथा अपरपरं ब्रूहि ।

(१४) प्र के बाद ऋषि-संज्ञक कण्व शब्द होने पर दोनों के मध्य सकार का व्यवधान होता है ।[3] यथा;

(१) प्रस्कण्वः ऋषि ।***

यहाँ पर प्र के पश्चात् ऋषि संज्ञक कण्व शब्द होने के कारण सकार का व्यवधान हो गया है।

(१५) उदक के परिमाण के सूचक 'गोष्पद' शब्द में गो के अनन्तर सकार का व्यवधान होता है ।[4] यथा;

---

१. आस्पदमास्थायाम् । —ऋ०तं, ४.५.६
तु० आस्पदं प्रतिष्ठायाम् । —पा०सू०, ६.१.१४६
* उदाहरण लौकिक है।

२. अपरस्परं सातत्ये । —ऋ०तं०, ४.६.७
तु० अपरस्पराः क्रियासातत्ये । —पा०सू०, ६.१.१४४
** उदाहरण लौकिक है।

३. प्रस्कण्वः ऋषिः । ऋ०तं०, ४.६.८
तु० सुट् कात् पूर्वः । —पा०सू०, ६.१.१३५
*** उदाहरण लौकिक है।

४. गोष्पदमुदकमाने । —ऋ०तं०, ४.६.९
तु० गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणेषु । —पा०सू०, ६.१.१४५

(१) गोष्पदोदकः केदारः ।*

उपर्युक्त वाक्य में उदक के मानक के अर्थ में प्रयुक्त 'गोष्पद' शब्द में सकार का व्यवधान हुआ है।

(१६) अनाचरित अर्थ के द्योतक 'अगोष्पद' शब्द में भी सकार का व्यवधान होता है।[1] यथा;

(१) अगोष्पदमयं ब्राह्मणः पानागारं सेवते ।**

अनाचरित अर्थ का सूचक होने के कारण 'अगोष्पद' शब्द में सकार का व्यवधान हो गया है।

(१७) आचर्य शब्द यदि अनित्य का सूचक हो तो आकार के बाद सकार का व्यवधान होता है।[2] यथा;

(१) आश्चर्यं यदयं दद्यात् ।***

यहाँ आश्चर्य उसके दान देने में है। अतः अनित्य सूचक अर्थात् अद्भुतत्व होने के कारण सकार का व्यवधान होने पर आश्चर्य शब्द सिद्ध हुआ है, अन्यथा आश्चर्य ही होगा।

(१८) आस्क्र, आस्क्रम एवं विस्फलिङ्ग शब्द सकार का व्यवधान होने पर सिद्ध होते हैं।[3]

(१) आस्क्राः (२) आस्क्रभः (३) विस्फुलिङ्गाः ।****

उपर्युक्त सभी उदाहरणों में सकार का व्यवधान हो गया है।

(१९) ऋचाओं में यदि चन्द्र शब्द समास में उत्तर पद हो तो सकार का व्यवधान हो जाता है।[4] यथा ;

---

* उदाहरण लौकिक है।

१. अगोष्पदमनाचरिते । —ऋ०तं०, ४.५.१०

तु० गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणेषु । —पा०सू०, ६.१.१४५

** उदाहरण लौकिक है।

२. आश्चर्यमनित्ये । —ऋ०तं०, ४.७.२

तु० पा०सू०, ६.१.१४७

*** उदाहरण लौकिक है।

३. आस्क्रा आस्क्रभो विस्फुलिङ्गाः । —ऋ०तं०, ४.७.२

**** उदाहरण लौकिक है।

४. समास ऋक्षु चन्द्रे । —ऋ०तं०, ४.७.३

तु० (क) पुरु पृष्वधि पूर्वेषु शकार उपजायते ।
ह्रस्वे च पूर्वपद्यान्ते चन्द्रशब्दे परेऽन्तरा । ऋ०प्रा०, ४.८४

पदपाठ		संहितापाठ
(१) सु । चन्द्रः ।	=	सुश्चन्द्रः ।
(२) पुरु । चन्द्रः ।	=	पुरुश्चन्द्रः ।
(३) हरि । चन्द्रः ।	=	हरिश्चन्द्रः ।

उपर्युक्त सभी समस्त पदों में चन्द्र शब्द बाद में होने के कारण सकार का व्यवधान हो गया है ।

(२०) नगर संज्ञक 'कास्तीर' और 'अजस्तुन्द' शब्द सकार का व्यवधान होने पर निष्पन्न होते हैं ।[1] यथा;

(१) कास्तीरः । (२) अजस्तुन्दः ।*

नगर संज्ञक उपर्युक्त दोनों शब्दों में सकार का व्यवधान हो गया है। नगर संज्ञक न होने पर सकार का व्यवधान नहीं होता, यथा—कातीरग्रामिन्य-जतुन्दिनी ।

(२१) यदि नदी संज्ञा हो तो रथ के बाद सकार का व्यवधान होता है ।[2] यथा ;

(१) नदी रथस्या नाम । **

उपर्युक्त उदाहरण में रथ पद के नदी संज्ञक होने के कारण सकार का व्यवधान हो गया है। नदी संज्ञक न होने पर सकार का व्यवधान नहीं होता।

(२२) मकर शब्द यदि वेणु संज्ञक हो तो कर से पहले सकार का व्यवधान होता है ।[3] यथा ;

(ख) चन्द्रे सु शकारेण । —वा०प्रा०, ३.५४

(ग) ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मंत्रे । —पा०सू०, ६.१.१५१

(१) सा०वे०, २.३७३ (२) सा०वे०, २.१०१०

(३) सा०वे०, २.६५६

१. कास्तीराजस्तुन्देनगरे । —ऋ०तं०, ४.७.४

तु०पा०सू०, ६.१.१५५

* उदाहरण लौकिक है ।

२. नदी रथस्या । —ऋ०तं०, ४.७.५

तु० पारस्कर प्रभृतीनि च संज्ञायाम् । —पा०सू०, ६.१.१५७

** उदाहरण लौकिक है ।

३. मस्करो वेणुः । —ऋ०तं०, ४.७.६

तु० मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः । —पा०सू०, ६.१.१५४

(१) मस्करो वेणुः ।*

इस उदाहरण में वेणु संज्ञक मस्कर शब्द में सकार का व्यवधान हो गया है। अन्यत्र व्यवधान नहीं होता। यथा; मकरोऽन्यः।

(२३) तकर शब्द यदि चौर्यार्थिक हो तो सकार का व्यवधान होता है।[1] यथा;

(१) तस्करः स्तेनः।**

स्तेन अर्थ होने के कारण तस्कर पद में सकार का व्यवधान हुआ है, अन्यथा तकर शब्द ही सिद्ध होगा।

प्रकृतिभाव

पदों की मूलतः अवस्थिति को प्रकृतिभाव कहते हैं। इसका मौलिक आशय सन्धिगत विकार का अभाव, सन्निकर्ष-राहित्य आदि से है।[2] परन्तु विकार का अभाव रहने पर भी संहिता के फलस्वरूप पदों का मेल होता ही है। प्रकृति-भाव को प्रकृति प्रकृत्या आदि अभिधानों से भी अभिहित किया जाता है।[3] ऋक्तन्त्र में प्रकृति भाव संवंधी नियमों का विधान इस प्रकार किया गया है—

(१) स्वर परे हो तो वृद्ध स्वर प्रकृतिभाव से रहता है।[4] यथा;

---

* उदाहरण लौकिक है।

१. तस्करस्तेनः। ऋ०तं०, ४.७.११

तु० (क) तस्करः तस्करो भवति। —नि०, ३.३

(ख) तद् वृहतौ करपत्योस्तलोपश्च। —वा०प्रा०, ३.५२

** उदाहरण लौकिक है।

२. संनिकर्षो न भवति। —ऋ०तं० ३.१.८ पर वृत्ति

तु० प्रकृत्या संधिरूपं विकारं न याति इत्यर्थः।

—पा०सू० ६.१.११५ पर त०बो०

३. नैव वृत्तेनापि प्राक् लोपागमप्रकृतिभावश्च विकारः।

—ऋ०तं० ३.४.१ वृत्ति।

तु० (क) ऋ०प्रा०वि०व० ५ (ख) ऋ०प्रा० २.५१ (ग) तै०प्रा० ९.१६

(घ) वा०प्रा० ४.८०; ३.११, १३० (ङ) च०अ० ३.३३

(च) या०शि०, पृ० ८१

४. न वृद्धं रे। ऋ०तं० ३.१.८ तु० प्लुत प्रगृह्या अचि। पा०सू० ६.१.१२५

(क) सा०वे० १.५७२ (ख) सा०वे० १.३०९

(ग) सा०वे० १.५११

पदपाठ		संहितापाठ
(१) उर्मिणा । अव्यम् । वारम् ।	=	उर्मिणा अव्यं वारम् ।
(२) भर । इन्द्र । ज्यायः ।	=	भरा इन्द्र ज्यायः ।
(३) सोम । धारया । आपः ।	=	सोम धारया आपः ।

यहाँ पूर्ववर्ती आ के पश्चात् अ, इ, आ होने के कारण संहिता निष्पन्न नहीं हुई है ।

(२) पद भूत उकार प्रकृतिभाव से रहता है ।[1] यथा;

पद पाठ		संहिता पाठ
(१) तम् । ऊँ इति । अभि ।	=	तमु अभि ।
(२) इत्थम् । ऊँ इति । आ···	=	इत्थमु आ··· ।
(३) तस्मा । ऊँ इति । अद्य	=	तस्मा उ अद्य ।

यहाँ उ स्वतंत्र पद है । अतएव प्रस्तुत नियम से उसकी संहिता निष्पन्न नहीं हुई है ।

(३) ओकार प्राप्त उ पद की परवर्ती स्वरों के साथ प्रकृतिभाव से रहता है ।[2] यथा;

---

१. दमु । —ऋ०तं० ३.१.६

तु० (क) आष्यमिव सन्ध्ययकारपूर्वो विवृत्तेश्च प्रत्ययः सन्नुकारः । —ऋ०प्रा० २.५६

(ख) उकारोऽपृक्तः प्रकृत्या वकारे वकारे । न तत्तस्मात्संहितः । —तै०प्रा० ६.१६, १७

(ग) उकारोऽपृक्तो स्पर्शात् । —वा०प्रा० ४.८६

(घ) केवल उकार स्वरपूर्वः । —च०अ० ३.३६

(ङ) निपात एकाजनाङ् । —पा०सू० १.१.१४

(१) सा०वे० १.३८२ (२) सा०वे० १.३०५

(३) सा०वे० १.२७२

२. ओभूतं च । —ऋ०तं० ३.१.१०

तु० (क) अपूर्व पदान्तश्च । —ऋ०प्रा० १.७०

(ख) ओकारश्च पदान्तेऽनवग्रहः । —वा०प्रा० १.९४

(ग) ओकारान्तश्च । च०अ० १.८ (घ) ओत् । पा०सू० १.१.१५

(१) सा०वे० १.१७७ (२) सा०वे० १.१७८

(३) सा०वे० १.५५७

पदपाठ		संहितापाठ
(१) दोषा । उ । अगात् ।	=	दोषो आगात् ।
(२) एषा । उ । उषाः ।	=	एषो उषाः ।
(३) प्र । उ । अयासीत् ।	=	प्रो अयासीत् ।

यहाँ अस्थनामिनीसन्ध्यम् (ऋ०तं० ३.४.४) सूत्र से ओकार प्राप्त उ पद की परवर्ती स्वरों के साथ संहिता निष्पन्न नहीं हुई है।

(४) पादादि आकार परवर्ती स्वरों के साथ प्रकृतिभाव से रहता है।[1] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) नाहुषीषु । आ । इन्द्रम् ।	=	नाहुषीष्वा इन्द्रम् ।
(२) हर्यते । आ । अवः ।	=	हर्यत आ अवः ।
(३) नाहुषीषु । आ । ओजः ।	=	नाहुषीष्वा ओजः ।

यहाँ आकार के पादादि में होने के कारण इ, अ, ओ के स्वरों के साथ संहिता निष्पन्न नहीं हुई है।

(५) द्व्यर्थक पदान्त स्वर परवर्ती स्वरों के साथ प्रकृतिभाव से रहते हैं।[2] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) इन्द्राग्नी इति । अपात् ।	=	इन्द्राग्नी अपात् ।
(२) रोदसी इति । आ पप्रथा ।	=	रोदसी आपप्राथ ।

यहाँ इन्द्राग्नी पद से इन्द्र और अग्नि का तथा रोदसी पद से द्यावा-पृथिवी अर्थ की अभिव्यक्ति होने से ये पद द्व्यर्थक हैं। अतएव इन पदों की परवर्ती स्वर के साथ संहिता निष्पन्न नहीं हुई है।

---

१. आणि । —ऋ०तं० ३.२.१

तु० प्लुत प्रगृह्या अचि। —पा०सू० ६.१.१२५

(१) सा०वे० १.१६० (२) सा०वे० १.२२८ (३) सा०वे० १.२६२

२. द्व्यर्थे । ऋ०तं० ३.२.४

तु० (क) षष्ठादयश्च द्विवयोऽन्तभाजस्त्रयो दीर्घाः । —ऋ०प्रा०ब्रा० १.७१

(ख) तै०प्रा० ४.११, १५

(ग) एकारेणोकारा द्विवचनान्ताः । —वा०प्रा० १.९३

(घ) द्विवचनान्तो । च०अ० १.७६

(ङ) इदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् । —पा०सू० १.१.११

(१) सा०वे० १.२८१ (२) सा०वे० १.३७९

(६) संयुक्त ईकार, परवर्ती पद में वकार न रहने पर ही प्रकृतिभाव से रहता है ।[1] यथा;

(१) इन्द्राग्नी ।

(७) पाद मध्य में एकार और ओकार परवर्ती अकार के साथ प्रकृतिभाव से रहते हैं ।[2] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) नमः । ते । अग्ने ।	=	नमस्ते अग्ने ।
(२) वार्योः । अनीके । अस्थिरन्	=	वायोरनीके अस्थिरन् ।
(३) न । तत् । ते । अग्ने ।	=	न तत्ते अग्ने ।
(४) प्रेष्ठम् । वः । अतिथिम् ।	=	प्रेष्ठं वो अतिथिम् ।

यहाँ पाद के मध्य में अवस्थित होने के कारण ए और ओ की परवर्ती अकार के साथ संहिता निष्पन्न नहीं हुई है ।

(८) 'त्रो' शब्द परवर्ती पादादि स्वर के साथ प्रकृतिभाव से रहता है ।[3] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) चित्रो । अग्निः ।	=	चित्रो अग्निः ।

यहाँ त्रो पद की परवर्ती पादादि अ के साथ संहिता निष्पन्न नहीं हुई ।

(९) 'गो' शब्द परवर्ती अकार के साथ प्रकृतिभाव से रहता है ।[4] यथा;

(१) गो अग्रम्=गो अग्रम् । (२) गो अश्वम्=गो अश्वम् ।*

---

१. ई न वपरे । —ऋ०तं० ३.२.५ (क) सा०वे० १.२८१

२. अवयावे न्यूगे । —ऋ०तं० ३.७.६

तु० (क) क्वचित् प्रकृतया । —च०अ० ३.५४

(ख) पा०सू० ६.१.११४-१२१

(१) सा०वे० १.११ (२) सा०वे० १.१३ (३) सा०वे० १.५३

(४) सा०वे० १.५

३. त्रो णि । —ऋ०तं० ३.२.७ (१) सा०वे० १.४५०

४. गो । ऋ०तं० ३.२.९ तु० सर्वत्र विभाषा गोः । —पा०सू० ६.१.१२२

* उदाहरण लौकिक है ।

अपवाद

(१) 'गो' शब्द कहीं प्रकृतिभाव से रहता है और कहीं संहिता को प्राप्त हो जाता है।[1] यथा;

(१) गो अश्वम्=गोअश्वम्। (२) गो अजिनम्=गोऽजिनम्।*

यहाँ प्रथम उदाहरण प्रकृतिभाव का और द्वितीय संहिता का है।

(२) 'गो' शब्द परवर्ती अकार के साथ संहिता को प्राप्त होकर 'अव' हो जाता है।[2] यथा;

(१) गो अग्रम्=गवग्रम्। (२) गो अश्वम्=गवश्वम्।
(३) गो अजिनम्=गवजिनम्।**

(१०) 'त्वे' पद परवर्ती अकार के साथ प्रकृतिभाव से रहता है।[3] यथा;

पदपाठ	संहितापाठ
(१) त्वे। अग्ने। सु आहुत। =	त्वे अग्ने स्वाहुत।

यहाँ 'त्वे' पद की अग्ने के अकार के साथ संहिता निष्पन्न नहीं हुई है।

(११) 'ऋति' पद की पूर्ववर्ती स्वर के साथ संहिता निष्पन्न नहीं होती।[4] यथा;

पदपाठ	संहितापाठ
(१) गायत। ऋताग्ने। =	गायत ऋताग्ने।

(१२) 'ओज' पद पूर्ववर्ती स्वर के साथ प्रकृतिभाव से रहता है।[5] यथा;

---

१. न वा। ऋ०तं० ३.२.१० तु० सर्वत्र विभाषा गोः। पा०सू० ६.१.१२२

* उदाहरण लौकिक है।

२. अवं वा। ऋ०तं० ३.३.१ तु० एचोऽयवायावः। —पा०सू० ६.१.७८

** उदाहरण लौकिक है।

३. त्वे। —ऋ०तं० ३.३.२

तु० (क) अस्मे युस्मे त्वे अमी च प्रगृह्या। —ऋ०प्रा० १.७३
(ख) त्वे इत्यनिग्यान्तः। —तै०प्रा० ४.१०
(ग) चम् अस्मे त्वे। —वा०प्रा० १.९६
(घ) शे। —पा०सू० १.१.१३ (१) सा०वे० १.३८

४. ऋति। —ऋ०तं० ३.३.५ (१) सा०वे० १.१०७

५. ओजि। —ऋ०तं० ३.३.६

तु० ऐकारौकारपरौ च कण्ठ्यो लुशादर्वाक्। —ऋ०प्रा० २.६२
(क) सा०वे० १.४५

पदपाठ संहितापाठ

(१) त्वम् । नः । इन्द्र । आ । भर । ओजः = त्वं न इन्द्रा भर ओजः ।

(१३) 'शकन्धुक' आदि पद प्रकृतिभाव से रहते हैं ।[1] यथा;

(१) शक अग्धुक ईश । (२) अक्षपा असि ।*

(१४) 'कि-इन्' एवं 'वी-उत' प्रकृतिभाव से रहते हैं ।[2] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) नकि । इन्द्र । त्वत् । उत् तरम्	=	नकि इन्द्र त्वदुत्तरम् ।
(२) पृथिवी । उत् । द्यौः ।	=	पृथिवी उत द्यौः ।

(१५) 'स्मिन्-व्र' 'अन्-यम्' प्रकृति भाव से रहते हैं ।[3] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) यस्मिन् । व्रतानि । आ । दधुः ।	=	यस्मिन् व्रतान्यादधुः ।
(२) उप अन् । यम् । विप्रासः ।	=	उपअन् यं विप्रासः ।

(१६) साम-गान में हिंकार युक्त मकार प्रकृतिभाव से रहता है ।[4] यथा;

(१) विशो विशो हिम् वो । (२) अपा३म् हिम् वा ।

प्रकृतिभाव के अपवाद

(१) 'वन्' 'वा' संहिता को प्राप्त करते हैं ।[5] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) आन्दन् । यथा ।	=	आन्दन्यथा ।
(२) किं वा वयनम् ।	=	किं वावयनम् ।**

---

१. शकन्धु-कादीनाम् । —ऋ०तं० ३.३.७ तु० (क) ऋ०प्रा० २.६४, ६५
(ख) एङि पररूपम् । —पा०सू० ६.१.६४
(ग) शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम् । —पा०सू० ६.१.६४ पर वार्तिक
* उदाहरण लौकिक है ।

२. कि इन वी उत । ऋ०तं० ३.३.८
तु० …पृथिवी उत द्यौः । —ऋ०प्रा० २.७४
(१) सा०वे० १.२०३ (२) आ०सं० ५

३ स्मिन्-व्र-अन्-यम् । —ऋ०तं० ३.३.६
(१) सा०वे० १.६७ (२) सा०वे० १.३३७

४. महुं युक् । —ऋ०तं० ३.३.१० (१) सा०वे० १.८७ (२) सा०वे० १.५८४

५. नवन्वा च । —ऋ०तं० ३.२.२
तु० मय उञो वो वा । —पा०सू० ८.३.३३
(१) सा०वे० १.३०५ ** सन्दर्भ निर्दिष्ट नहीं है ।

यहाँ 'वन्' और 'वा' संहिताभाव को प्राप्त हो गये हैं।

(२) औकार संहिता को प्राप्त होता है।[1] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) मातरौ। अनुऽएति।	=	मातरावन्वेति।
(२) यौ। आहुः।	=	यावाहुः।

यहाँ औकार की परवर्ती स्वरों के साथ 'सन्ध्यमयवायावम्' (ऋ०तं० ३.६.१) सूत्र से आव् होकर संहिता निष्पन्न हुई है।

(३) 'नृतो-अप' 'वो-अङ्गि' पदों की संहिता निष्पन्न होती है।[2] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) त्यत्। नर्यम्। नृतः। अपः	=	त्यन्नयं नृतोऽपः।
(२) अभवः। अङ्गिरःऽतम्।	=	अभवोऽङ्गिरस्तम्।

विकार

संहिता के फलस्वरूप स्वर, व्यञ्जन और विसर्जनीय में होने वाले विकारों को नियम-बद्ध करके क्रमशः इन्हीं तीन शीर्षकों के अन्तर्गत रखा गया है।

स्वर-विकार

पदान्त तथा पदादि में अवस्थित स्वर वर्णों के मेल जन्य विकार को स्वर-संधि कहते हैं। ऋक्तन्त्र में स्वरों के विकार विषयक नियम एकीभाव, रेफभाव, सन्ध्यक्षरभाव, अन्तःस्थीभाव, अयादि भाव, दीर्घभाव से सम्वन्ध रखते हैं।

एकी भाव

विकार के फलस्वरूप जब दो स्वर एक हो जाते हैं, तो उसे एकी भाव कहते हैं। स्वरों के एकी भाव का परिमाण दीर्घ तथा ह्रस्व होता है। दीर्घ भी सवर्ण तथा असवर्ण स्वरों के मेल से होता है। ऋक्तन्त्र में असवर्ण दीर्घ एकीभाव के

---

१. औ। —ऋ०तं० २.२.३ (क) ऋ०प्रा० २.२५, २८, ३१
(ख) एकारो यम्। औकार आवम्। —तै०प्रा० ९.११, १५
(ग) सन्ध्यक्षरमयवायावम्। —वा०प्रा० ४.४६
(घ) सन्ध्यक्षराणामयवायावः। —च०अ० ३.४०
(ङ) एचोऽयवायावः। —पा०सू० ६.१.७८
(१) सा०वे० १.६४ (२) सा०वे० १.३६१

२. नृतोपवोङ्गि। —ऋ०तं० ३.२.८
(१) सा०वे० १.४६६ (२) सा०वे० १.५१९

जो उदाहरण दिये गये हैं, उन सबको पाणिनि ने वृद्धि के अन्तर्गत रखा है। असवर्ण ह्रस्व को गुण के अन्तर्गत माना गया है।

सवर्ण-दीर्घ एकीभाव

समानस्थानीय दो समान स्वर मिलकर दीर्घ हो जाते हैं[1]। यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) ईडिष्व। अवसे।	=	ईडिष्वावसे।
(२) अथ। आदित्य। व्रते।	=	अथादित्य व्रते।
(३) अध। हि। इन्द्र।	=	अधाहीन्द्र।
(४) सु उक्तेभिः।	=	सूक्तेभिः।
(५) सु। उयस्य।	=	सूर्यस्य।

असवर्ण-दीर्घ-एकीभाव

(१) समस्त पदों में ह्रस्व अकार के बाद 'ऋत' शब्द हो तो दोनों दीर्घ हो जाते हैं[2]। यथा;

(१) मशकेन ऋतः=मशकार्त्तः। (२) शीतेन ऋतः=शीतार्त्तः।
(३) भयेन ऋतः=भयार्त्तः। (४) दण्डेन ऋतः=दण्डार्त्तः।*

---

१. रौ घम्। —ऋ० तं०, ३.४.३
तु० (क) समानाक्षरे सस्थाने दीर्घमेकमुभे स्वरम् —ऋ०प्रा०, २.१५
(ख) दीर्घं समानाक्षरे सवर्ण परे। —तै० प्रा०, १०.२
(ग) सि सवर्णे दीर्घम्। —वा० प्रा०, ४.५०
(घ) समानाक्षरस्य सवर्णे दीर्घः। —च० अ०, ३.४२
(ङ) अकः सवर्णे दीर्घः। —पा० सू०, ६.१.१०१
(१) सा० वे०, १.४६ (२) आ० सं०,४ (३) सा० वे०, १.४०६
(४) सा० वे०, १.५६ (५) सा० वे०, १.५३८

२. मासे घमृति। —ऋ० तं०, ३.५.३
तु० (क) आरभृकारोऽपृक्तात्। —वा० प्रा०, ४.५८
(ख) एत्येध्यूठ्सु। —पा०सू०, ६.१.८६
(ग) ऋते च तृतीयासमासे वर्णाद् वृद्धिर्वक्तव्या।
—पा० सू०, ६.१.८६ पर वार्त्तिक।
(घ) उरण् रपरः। —पा० सू०, १.१.५१

* उदाहरण लौकिक है।

उपर्युक्त समस्त पदों में 'ऋत' शब्द अकार के परे होने के कारण दोनों मिलकर दीर्घ हो गये हैं। ऋकार का विकार रपर होता है। अतः दीर्घ आकार रेफयुक्त है।

(२) मा शब्द के बाद धातु सम्बन्धी ऋ हो तो दोनों दीर्घ हो जाते हैं[1]। यथा;

(१) मा ऋचन्तम् = मार्चन्तम्।
(२) मा ऋषभम् = मार्षभम्।
(३) मा ऋभन्तम् = मार्भ्वन्तम्।
(४) मा ऋतीयमानम् = मातीयमानम्।*

उपर्युक्त सभी स्थलों पर मा के परे धातु का ऋ है। अतएव दोनों मिलकर दीर्घ हो गये हैं।

(३) सामर्थ्यसूचक पद में उपसर्ग के बाद क्रिया सम्बन्धी ऋ हो तो दोनों मिलकर दीर्घ हो जाते हैं[2]। यथा;

(१) प्र ऋचतिः = प्रार्च्चति। (२) उप ऋचति = उपार्च्चति।**

उपर्युक्त पदों में प्र और उप उपसर्ग के बाद ऋ होने के कारण दोनों मिलकर दीर्घ हो गये हैं।

(४) वत्सतर आदि पदों के बाद ऋण शब्द हो तो दोनों मिलकर दीर्घ हो जाते हैं[3]। यथा;

---

१. म क्रियायाम्। —ऋ० तं०, ३.५.४
* उदाहरण लौकिक है।

२. उपसर्गः सामर्थ्ये। —ऋ० तं०, ३.५.५
तु० (क) उपसर्गपूर्व आरभ्। —तै० प्रा०, ९.१०
(ख) आरभृकारोऽपृक्तात्। —वा० प्रा०, ४.५८
(ग) उपसर्गः धात्वादावारभ्। —च० अ०, ३.४८
(घ) उपसर्गादृति धातौ। —पा० सू०, ६.१.१९१
** उदाहरण लौकिक है।

३. वत्सतरादीनामृणि। —ऋ० तं०, ३.५.६
तु० (क) एत्येधत्यूठ्सु। —पा०सू०, ६.१.८९
(ख) प्र वत्सतरकम्बलवसनामृणे वृद्धिर्वक्तव्या। ऋणदशास्यां।
वृद्धिःर्वक्तव्य —पा० सू०, ६.१.८९ पर वार्त्तिक।

(१) प्र ऋणम् = प्रार्णम् ।
(२) वत्सतर ऋणम् = वत्सतरार्णम् ।
(३) कम्बल ऋणम् = कम्बलार्णम् ।
(४) वसन ऋणम् = वसनार्णम् ।*

उपर्युक्त स्थलों पर प्र आदि से परे ऋण होने के कारण दोनों मिलकर दीर्घ (रपर) हो गये हैं ।

असवर्ण ह्रस्व एकीभाव

(१) ह्रस्व अकार के बाद ऋच् शब्द हो तो दोनों मिलकर ह्रस्व हो जाते हैं[1] । यथा;

(१) अष्ट ऋचम् = अष्टर्च्चम् ।
(२) नव ऋचम् = नवर्च्चम् ।
(३) दश ऋचम् = दशर्च्चम् ।
(४) शाकल ऋचम् = शाकलर्च्चम् ।**

उपर्युक्त सभी स्थलों पर अकार से ऋच् परे होने के कारण ह्रस्व अ हो गया है ।

(२) ऋक्तन्त्र में कतिपय आचार्यों का मत निर्दिष्ट है जिसमें ऋ शब्द बाद में होने पर दोनों के ह्रस्व हो जाने का विधान है । सम्भवतः सर्वमान्य न होने के कारण इसका कोई उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया गया है[2] ।

रेफ भाव

ऋक्तन्त्र में इसके अन्तर्गत ऋकार के रूप में रेफ को स्वीकार किया गया है । जिसका विवरण आगे प्रस्तुत किया जा रहा है ।

रेफभाव—ऋक्तन्त्र में इसके ऋकार के रेफ भाव का विधान है । पाणिनि के अनुसार यह यण् सन्धि के अन्तर्गत है । यथा;

---

* उदाहरण लौकिक है ।

१. ह्रस्वमृचि । —ऋ० तं०, ३.५.७
तु० (क) ऋकार उदये कण्ठ्यावकारं तदुद्ग्राहवत् । —ऋ० प्रा०, २.२१
(ख) कण्ठय ऋकारे ह्रस्वम् । —वा० प्रा० ४.४८
(ग) अरभृकारपरे । —तै० प्रा०, १०.८
(घ) अरमृवर्णे । —च० अ०, ३.४६
(ङ) आद्गुणः । —पा० सू०, ६.१.८७

** उदाहरण अलौकिक है ।

२. ऋमप्येके । —ऋ० तं०, ३.५.२

ऋकार के बाद असमानस्थानीय स्वर होने पर उसका रेफ हो जाता है[1]। यथा;

(१) होतृ अत्र = होत्रत्र (२) पितृ अत्र = पित्रत्र (३) मातृ अत्र = मात्रत्र।*
उपर्युक्त सभी उदाहरणों में ऋ के बाद अ होने के कारण ऋ का रेफ हो गया है।

अपवाद—उर्युपक्त नियम के अपवादस्वरूप ऋक्तन्त्रकार ने कतिपय आचार्यों का मत दिया है कि उपरि-लिखित परिस्थिति में ऋकार ह्रस्व ही रह जाता है। अर्थात् उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है[2]। यथा;

(१) होतृ अत्र = होतृअत्र।**

सन्ध्यक्षरभाव

एकार-ओकार भाव

(१) अकार के परे यदि असमानस्थानीय स्वर हो तो यह दोनों मिलकर सन्ध्यक्षर हो जाते हैं। यथा अ + इ = ए और अ + उ = ओ हो जाते हैं[3]। यथा;

पद पाठ		संहिता पाठ
(१) आ। इन्द्र।	=	एन्द्र।

---

१. रमृस्थमस्वे। —ऋ० तं०, ३.५.७
तु० इकोयणचि। —पा० सू०, ६.१.७७
* उदाहरण लौकिक है।

२. ह्रस्वमेके। —ऋ० तं०, ३.५.८
तु० इको सवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च। —पा० सू०, ६.१.१२७
** उदाहरण लौकिक है।

३. अस्थनामिनी सन्ध्यम्। —ऋ० तं०, ३.४.४
तु० (क) इकारोदय एकारमकारः सादयः तथा। उकारोदय ओकारम्।
—ऋ० प्रा०, २.१६,१७
(ख) कण्ठ्यादि वर्ण एकारम्। उवर्ण ओकारम्। —वा०प्रा०, ४.५२,५३
(ग) इवर्ण पर एकारम्। उवर्ण पर ओकारम्। —तै०प्रा०, १०.४,५
(घ) अवर्णस्येवर्ण एकारः। उवर्ण ओकारम्। —च०अ०, ३.४४,४५
(ङ) आद्गुणः। —पा० सू०, ६.१.८७
(१) सा० वे०, १.२९ (२) सा० वे०, २.१०२१ (३) सा०वे०, १.३७९

(२) तव । इ । || तवे ।
(३) आऽपप्राथ । उषाः । || अपप्राथोषाः ।

(२) अकारान्त उपसर्ग के बाद यदि सामर्थ्य-सूचक पद का सन्ध्यक्षर हो तो दोनों परवर्ती सन्ध्यक्षर को प्राप्त हो जाते हैं[1]। यथा;

(१) प्र ओढीयति = प्रोढीयति । (२) प्र ओजयति = प्रोजयति ।
(३) प्र एषयति = प्रेषयति । (३) प्र ओषितः = प्रोषितः ।*

प्र और ओढीयति में परवर्ती पद के सामर्थ्य सूचक होने के कारण प्रा और ओ का ओ हो गया है। इसी प्रकार अन्य पदों में सन्धि-स्वरूप परवर्ती सन्ध्यक्षर की प्राप्ति हुई है।

(३) समास में ह्रस्व अकार के बाद सन्ध्यक्षर हो तो दोनों मिलकर पर वर्ण को प्राप्त हो जाते हैं[2]। यथा;

(१) सम ओष्ठी = समोष्ठी ।
(२) विषम ओष्ठी = विषमोष्ठी ।
(३) दुःख ओकः = दुःखोकः ।
(४) सम ओलः = समोलः ।**

उपर्युक्त समस्त पदों में पूर्ववर्ती अ और परवर्ती सन्ध्यक्षर ओ मिलकर ओ हो गये है।

इस नियम का अपवाद भी है जिसका ऋक्तन्त्र में विवरण दिया गया है। कहीं-कहीं सन्ध्यक्षर द्विवर्ण को प्राप्त नहीं करता और कहीं दोनों द्विवर्ण को अर्थात् वृद्धि को प्राप्त होते हैं[3]।

१. सन्ध्ये परं सामर्थ्ये। —ऋ०तं०, ३.४.८
तु० (क) एजत्योजोरेकेषाम् । —वा०प्रा०, ४.५५
(ख) शकल्येष्यादिषु परनृपम् । —च०अ०, ३.५२
(ग) एङि पररूपम् । —पा०सू०, ६.१.९४
* उदाहरण लौकिक है।

२. समासे। —ऋ०तं०, ३.४.९
तु० (क) ओमाङोश्च । —पा०सू०, ६.१.९५
(ख) ओत्वोष्ठ्योः समासेवा । —पा०सू०, ६.१.९४ पर वार्त्तिक
** उदाहरण लौकिक है।

३. न वा । —ऋ०तं०, ३.४.१०

ऐकार औकार भाव

(१) ह्रस्व स्वर के परे सन्ध्यक्षर हो तो दोनों मिलकर द्विवर्ण को प्राप्त हो जाते हैं ।[1] यथा;

पद पाठ		संहिता पाठ
(१) प्र । एतु ।	=	प्रैतु ।
(२) कृणुत । एकस्मिन् ।	=	कृणुतैकस्मिन् ।
(३) प्र । ऐरयत् ।	=	प्रैरयत् ।
(४) अमितऽऔजाः ।	=	अमितौजाः ।

उपर्युक्त उदाहरणों में ह्रस्वस्वरों के बाद सन्ध्यक्षर (ए, औ) होने के कारण दोनों मिलकर ऐ, औ को प्राप्त हो गये हैं ।

(२) भाषा में अकारान्त पद के बाद णी परक ई, ऊ हो तो दोनों मिलकर द्विवर्णत्व को प्राप्त हो जाते हैं ।[2] यथा;

(१) स्व ईरिणी = स्वैरिणी । (२) अक्ष ऊहणी = अक्षौहिणी ।*

यहाँ अकार के बाद णी परक ई और ऊ होने के कारण दोनों मिलकर द्विवर्ण (ऐ, औ) को प्राप्त हो गये हैं ।

---

१. सन्ध्यं द्विवर्णम् । —ऋ०तं०, ३.4.५
तु० (क) परेष्वैकारभोजयोः । —ऋ०प्रा०, २.१८
(ख) औकार युग्मयोः —ऋ०प्रा०, २.१९
(ग) एकारैकार पर ऐकारम् । ओकारौकारपरऔकारम् । —तै०प्रा०, १.६.७
(घ) सन्ध्यक्षर ऐकारौकारयोः । —वा०प्रा०, ४.५६
(ङ) एकारैकारयोरैकारः । ओकारौकारयोरौकारः । —च०अ०, ३.५०.५१
(च) वृद्धि रेचि । —पा०सू०, ६.१.८८
(१) सा०वे०, १.५६ (२) आ०सं०, ६
(३) सा०वे०, १.३३९ (४) सा०वे०, १.३५९

२. भाषायाणीपरयोः । —ऋ०तं०, ३.४.६
तु० (क) वाहौचस्वरभृतेवा । —वा०प्रा०, ४.५७
(ख) स्वादीरेरिण्योवृद्धिर्वक्तव्या । अक्षाद्वहिन्या वृद्धिर्वक्तव्या । —पा०सू०, ६.१.८९ पर वार्तिक

* उदाहरण लौकिक है ।

(३) उपसर्ग के परे प्रेरणार्थक उह तथा ईष्य पद होने पर दोनों मिलकर द्विवर्ण को प्राप्त हो जाते हैं।[1] यथा;

(१) प्र ऊहः = प्रौहः। (२) उप ऊहः = उपौहः।

(३) प्र ईष्यः = प्रैष्यः। (४) उप ईष्यः = उपैष्यः।*

प्र उपसर्ग के बाद ऊहः और ईष्यः प्रेरणार्थक पद अवस्थित है। अतः दोनों द्विवर्ण को प्राप्त हो गये हैं। यह दोनों पद अध्वर्यु और यजमान को प्रेरणा देने के लिए प्रयुक्त होते हैं।

अन्तःस्थीभाव

(१) असमान स्वर परे रहते पूर्ववर्ती स्वर हो तो दोनों मिलकर अन्तःस्था हो जाते हैं।[2] यथा;

पद पाठ		संहिता पाठ
(१) अबोधि। अग्निः।	=	अबोध्यग्निः।
(२) अक्नुषु। आ। यमत्।	=	अक्नुष्वायमत्।
(३) परि। ऊँ इति। सु।	=	पर्यूषु।

यहाँ इ+अ; उ+आ; इ+उ—ये असमान स्वर क्रमशः य, व को प्राप्त हो गये हैं जो अन्तस्थ वर्ण है।

(२) ऋक्तन्त्र में विधान है कि गति अन्तःस्था को प्राप्त हो जाती है।

---

१. उपसर्गादूहेष्यौ प्रेष्यार्थे। —ऋ०तं०, ३.४.७

तु० (क) ऋ०प्रा०, २.७२

(ख) प्राद्ढोढ्ये प्रेष्यष वृद्धिर्वक्तव्या। —पा०सू०, ६.१.८९ पर वार्त्तिक

* उदाहरण लौकिक है।

२. अन्तस्थाम्। —ऋ०तं०, ३.५.९

तु० (क) समानाक्षरमन्तस्था स्वामकण्ठ्यं स्वरोदयम्।

—ऋ०प्रा०, २.२१

(ख) स्वरे भाव्यन्तःस्थाम्। —वा०प्रा०, ४.४६

(ग) स्वरेनामिनोऽन्तःस्था। —च०अ०, ३.३९

(घ) इको यणचि। —पा०सू०, ६.१.७७

(१) सा०वे०, १.७३ (२) सा०वे०, १.१२८

(३) सा०वे०, १.१२८

सामगान के समय गानों में आ के बाद इ या उ जोड़ना अथवा इ के अनन्तर ओ जोड़ना 'गति' कहलाता है।[1] यथा;

(१) हा आत्रा = हा उ आत्रा = हा व आत्रा = हा वात्रा ।
(२) हा आज्ज = हा उ आज्ज = हा व आज्ज = हावाज्ज ।
(३) इना इनीमासा३इ = इनाइ इनीमासा३इ = इनायि इनीमासा३इ
= इनाइ इनीमासा३इ ।
(४) स्याग्ना इहा = स्याग्ना इ इहा = स्याग्ना यि इहाः = स्यग्ना इ इहा ।

प्रथम और द्वितीय उदाहरण में आकार के बाद उ (गति) जोड़े गये है जो प्रस्तुत सूत्र से अन्तःस्थ वर्ण वकार को प्राप्त हो जाते हैं। तृतीय और चतुर्थ उदाहरणों में गतिस्वर[2] इ आया है जो प्रस्तुत सूत्र से यकार को प्राप्त हो जाता है, जिसका ऋक्तन्त्र सूत्र-४.२.९ से लोप होने पर उपर्युक्त रूपों की सिद्धी हुई है।

अयादिभाव

(१) सन्ध्यक्षरों (ए, ओ, ऐ, औ) के बाद स्वर हो तो सन्ध्यक्षर क्रमशः अय्, अव्, आय् और आव् हो जाते हैं।[3] यथा;

---

१. तिः । —ऋ०तं०, ४.२.९
तु० (क) तयोर्य्वावचि संहितायाम् । —पा०सू०, ८.२.१०८
(ख) तयोः इदुतोः यकारवकारादेशौ भवतोऽचि ... अग्नाइ३याशा । पटा३वाशा । अग्ना३यिन्द्रम् । पटा३वुदकम् । ...।
—पा०सू०, ८.२.१०८ पर काशिका
(१) सा०वे०, १.१४७ (२) सा०वे०, १.५६४
(३) सा०वे०, १.१७६ (४) सा०वे०, १.९०

२. (क) र मध्ये । —ऋ०तं०, ४.२.९
(ख) स्वरमध्ये नैगिर्यकारं लुम्पति । —ऋ०तं०वृ०, ४.२.९

३. सन्ध्यमयवायावम् । —ऋ०तं०, ६.१.१
तु० (क) उत्तमौच वठौ स्वरौ । —ऋ०प्रा०, २.२५
(ख) पूर्वौ चापोत्तमात्स्वरौ । ओष्ठ्ययोन्योर्भुग्नमनोष्ठ्येवकारो त्रान्तरागमः ।
—ऋ०प्रा०, २.२८.३१
(ग) एकारोऽयम् । ओकारोऽवम् । ऐकार आयाम् । औकार आवम् ।
—तै०प्रा०, ९.११.१४
(घ) सन्ध्यक्षरमयवायावाम् । —वा०प्रा०, ५.४६

पदपाठ		संहितापाठ
(१) अग्ने । आ । याहि ।	=	अग्नया याहि ।
(२) अग्ने । इत्थ्ये ।	=	अग्नयित्थे ।
(३) धृष्णो इति । आ । गहि ।	=	धृष्णवा गहि ।
(४) तस्मै । उँ इति । अद्य ।	=	तस्मा उ अद्य ।
(५) मातरौ । अनुऽएति ।	=	मातरावन्वेति ।

उपर्युक्त उदाहरणों में ए, ए, ओ, ऐ, और औ स्वर परे होने के कारण क्रमशः अय्, अव्, आय् और आव् हो गये हैं।

दीर्घभाव

ऋक्तन्त्र में दीर्घभाव के विधान का विश्लेषण विस्तार से किया गया है, जिनके अनुसार पद के मध्य या अन्त को संहिता पाठ में दीर्घभाव को प्राप्त हो जाते हैं। ऋक्तन्त्रकार ने भाषा में भी स्थिति विशेष में दीर्घभाव के विधान के नियम विस्तार से दिए हैं।

(१) भाषा में संवरणार्थक वृ धातु के रूप के परे रहते प्र और अप उपसर्ग का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है।[1] यथा;

(१) प्र वृणुते=प्रावृणुते (ऋत्विजम्) (२) अप वृणुते=अपावृणुते (ऋत्विजम्)*

इन उदाहरणों में ऋत्विज् के वरण का प्रसङ्ग है अतः प्र और अप दीर्घ हो गये हैं।

(२) वद् धातुज रूप बाद में होने पर अच्छ शब्द का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है।[2] यथा;

(ङ) एचोऽयवायावः। —पा०सू०, ६.१७८

(१) सा०वे०, १.१ (२) सा०वे०, १.७

(३) सा०वे०; १.१४७ (४) सा०वे०, १.२७२

(५) सा०वे०, १.१६४

१. दीर्घं भाषायां प्रापवृणोतौ संवरणे। —ऋ०तं०, ४.७.८

तु० (क) पर्यभ्यपापीति वृतावृवर्णे। —ऋ०प्रा०, ६.६

* उदाहरण लौकिक है।

२. अच्छ वदतौ। —ऋ०तं०, ४.७.६

तु० (क) सुता याहीत्यतोऽन्येषु पदेष्वच्छेति विग्रहे। —ऋ०प्रा०, ७.६

(ख) एवाच्छ चक्रमाथ। —वा०प्रा०, ३.१२५

(१) अच्छ वदते=अच्छा वदते। (२)अच्छ वदिष्यति=अच्छा वदिष्यति।*

उपर्युक्त उदाहरणों में वद् धातुज रूप परे रहते अच्छ का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो गया है।

(३) समास में गिरि शब्द उत्तर पद हो तो पेषुण, गोप, वत्सक, यव, अञ्जन तथा भञ्जन शब्दों का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है।[1] यथा;

(१) पेषुण-गिरिः=पेषुणागिरिः। (२) गोप-गिरिः=गोपागिरिः।

(३) वत्सक-गिरिः=वत्सकागिरिः। (४) अञ्जन-गिरिः=अञ्जनागिरिः।

(५) भञ्जन-गिरिः=भञ्जनागिरिः।**

उपर्युक्त सभी शब्दों का अन्तिम अक्षर, गिरि शब्द बाद में होने के कारण, दीर्घ हो गया है।

(४) समास में 'शृङ्ग' शब्द बाद में हो तो 'कर्ण' शब्द का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है।[3] यथा;

कर्ण शृङ्गे=कर्णाशृङ्गे।***

यहाँ शृङ्ग शब्द के परवर्ती होने से कर्ण शब्द का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो गया है।

(५) समास में 'कपि', 'मोदनी', 'दर्भ' और 'रव' शब्द के उत्तर पद होने पर वृष शब्द का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है।[1] यथा;

पद पाठ		संहिता पाठ
(१) वृष-मोदनी=वृषामोदनी।		(२) वृष-दर्भः=वृषादर्भः।
(३) वृषऽरवाय।	=	वृषारवाय।
(४) वृष। कपिः।	=	वृषाकपिः।

उपर्युक्त शब्दों के परे रहते वृष-शब्द्र का अन्तिम अक्षर सर्वत्र वृषा हो गया है।

---

* उदाहरण लौकिक है।

१. समासे गिरौ पेषुणवत्सकयवाज्जनभज्जनानाम्। —ऋ०तं०, ४.७.१०

तु० वनगिर्योः संज्ञायां कोटरकिंशुलकादीनाम्। —पा०सू०, ६.३.११७

** उदाहरण लौकिक है।

२. कर्णस्यशृङ्गे। --ऋ०तं, ५.१.१

*** उदाहरण लौकिक है।

३. वृषस्य कपिमोदनीदभरवेषु। —ऋ०तं० ५.१.२

(१)(२) उदाहरण लौकिक है। (३)(४) ऋ० १०-१४६.२; १०-६१.१

(६) समास में कर्णशब्द उत्तरपद होने पर 'प्लीह', 'अङ्कुश', 'कुण्डल', 'उपरिष्ट' 'अधि', 'अक्षत' तथा 'वाण' शब्दों का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है।[1] यथा;

(१) प्लीह-कर्णी = प्लीहाकर्णी। (२) अङ्कुश-कर्णी। = अङ्कुशाकर्णी
(३) कुण्डल-कर्णी = कुण्डलाकर्णी। (४) उपरिष्ट-कर्णी = उपरिष्टाकर्णी।
(५) अधि-कर्णी = अधीकर्णी। (६) अक्षत-कर्णी = अक्षताकर्णी।
(७) बाण-कर्णी = बाणाकर्णी।*

कर्ण शब्द बाद में होने के कारण उपर्युक्त सभी शब्दों का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो गया है।

(७) समास में नर, वसु और राट शब्दों के बाद में रहने पर विश्व शब्द का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है।[2] यथा;

(१) विश्व-राट = विश्वाराट्।

पद पाठ		संहिता पाठ
विश्वऽनरः।	=	विश्वानरः
विश्वऽवसुः।	=	विश्वावसुः।

उपर्युक्त उदाहरणों में नर, वसु और राट् शब्दों के बाद में विद्यमान रहने पर विश्व शब्द का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो गया है।

(८) समास में 'मित्र' शब्द परे हो तो ऋषि अर्थ वाले विश्व शब्द का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है।[3] यथाः

---

१. कर्णे प्लीहाङ्कुशकुण्डलोपरिष्टाध्यक्षतबाणानाम्। —ऋ०तं० ५.१.३
तु० ···प्लीहकर्णशुणकर्णो···। —वा०प्रा० ३.१३०

* उदाहरण लौकिक है।

२. विश्वस्य नरवसुराट्सु। —ऋ०तं० ५.१.४
तु० (क) सर्वत्र पूर्वपदान्ताः प्लवन्ते वसुमद्योःपरयोः। —ऋ०प्रा० ६.१
(ख) विश्वसहभुवपुषवसुषु। —वा०प्रा० ३.१०३
(ग) विश्वस्य नरवसुमित्रेषु। —च०अ० ३.६
(घ) विश्वस्य वसुराटोः। नरे संज्ञायाम्। —पा०सू० ६.३.१२८, १२६
(१) उदाहरण लौकिक है। (२) सा०वे० १.३६४
(३) ऋ० १०-१३५ ५

३. मित्र ऋषौ। —ऋ०तं० ५.१.५
तु० (क) नरहामित्रेषु च। —वा०प्रा० ३.१०३
(ख) मित्रे चर्षौ। पा०सू० ६.३.१३०

पद पाठ		संहिता पाठ
विश्वऽमित्रः	=	विश्वामित्रः ।

यहाँ ऋषि का अभिधान होने से विश्वामित्र शब्द में विश्व का अन्तिम स्वर दीर्घ हो गया है ।

(९) समास में यदि 'स्व' शब्द के बाद 'वित्', 'पद', 'वराह', 'कर्ण', 'दन्त' और 'दंष्ट्र' शब्द हो तो श्व का स्वर दीर्घ हो जाता है ।[1] यथा;

(१) श्ववित् = श्ववित् । (२) श्व-वराहः = श्वावाराहः ।
(३) श्व-कर्णः = श्वाकर्णः । (४) श्व-दन्तः = श्वादन्तः ।
(५) श्व-दंष्ट्रः = श्वादंष्टः । *(६) श्वऽपदः (प०पा०) = श्वापदः (संपा०)

इन उदाहरणों में पूर्व निर्दिष्ट शब्दों के बाद में होने के कारण श्व को दीर्घ हो गया है।

(१०) दृशी परे रहते सर्वनाम का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है ।[2] यथा;

(१) कि-दृशी = कीदृशी । (२) य-दृशी = यादृशी ।
(३) अस्म-दृशी = अस्मादृशी । (४) युष्म-दृशी = युष्मादृशी । **

उपर्युक्त स्थलों पर दृशी शब्द बाद में होने के कारण उसके पूर्ववर्ती सभी सर्वनामों का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो गया है ।

(११) उक्ष पद का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है यदि वेहती शब्द बाद में हो ।[3] यथा;

(१) उक्ष-वेहती = उक्षावेहती ।***

वेहती के परे रहते उक्ष का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो गया है ।

---

१. श्ववित्पदवराहकर्णदन्तदंष्टेववसंप्रति चेत् । —ऋ०तं०५.१.६
तु० (क) शुनः पदे । —च०अ० ३.१०
(ख) अन्येषामपि दृश्यते । —पा०सू० ६.३.१३७
* उदाहरण लौकिक है। (१) ऋ० १०.१८६
२. सर्वनाम्नो दृशि । —ऋ०तं० ५.१.७
तु० इदङ्किमोरीश्की । —पा०सू० ६.३.९०
** उदाहरण लौकिक है ।
३. उक्ष वेहती । —ऋ०तं० ५.१.८
*** उदाहरण लौकिक है ।

(१२) 'उप' का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है, यदि उसके बाद नख शब्द आए।[1] यथा;

(१) उप-नखः = उपानखः ।*

उप के बाद नख शब्द होने के कारण उपा हो गया है।

(१३) अङ्गों के योग के फलस्वरूप सम्पादित क्रिया वाले समस्त सरुप पद में पूर्व पद का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है।[2] यथा;

(१) हस्त हस्ति = हस्ताहस्ति । (२) मुख मुखि = मुखामुखि ।
(३) केश केशि = केशाकेशि । (४) दण्ड दण्डि = दण्डादण्डि ।**

उपर्युक्त उदाहरणों में क्रिया के सम्पादन में हस्तादि का शारीरिक अङ्गों से संयोग है। अतः इन सरूप शब्दों वाले समस्त पदों में पूर्ववर्ती शब्द का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो गया है।

(१४) 'अष्ट' पद का अन्तिम अक्षर दीर्घ होता है।[3] यथा;

(१) अष्टापदी । (२) अष्टाकपालम् । (३) अष्टाशफाः पशवः ।
(४) अष्टाभ्यो हिङ्करोति ।

(१५) 'शत' संख्या से कम संख्या का वाचक शब्द परे रहते 'अष्ट' का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है।[4] यथा;

(१) अष्ट—दश = अष्टादश । (२) अष्ट—विंशतिः = अष्टाविंशतिः ।***

इन उदाहरणों में अष्ट के बाद १०० से कम संख्या के वाचक होने के कारण अष्ट का अन्तिम अक्षर दीर्घ होकर 'अष्टा' हो गया है।

---

१. उप नखे । —ऋ०तं० ५.१.९ * उदाहरण लौकिक है।

२. साङ्गेन च समागमे । —ऋ०तं ५.१.१० तु० अन्येषामपि दृश्यते । पा०सू० ६.३.१३७ द्रष्टव्य—पा०सू० २.२.२७; ५.४.१२७

** उदाहरण लौकिक है।

३. अष्ट । —ऋ०तं० ५.२.१
तु० अष्टनः संज्ञायाम् । छन्दसि च । —पा०सू० ६.३.१२५, १२६
(१) ऋ० १.१६४.४१ (२) ऐ०ब्रा० १.१ (३) तलवकारोपनिषद् १.११
(४) ता०ब्रा० २.१.१

४. प्राक् शताच्च । —ऋ०तं० ५.२ तु० द्वयष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः । विभाषा चत्वारिंशत्प्रभृतौ सर्वेषाम् । —पा०सू० ५.३.४७, ४९

*** उदाहरण लौकिक है।

(१६) पद, गोयुक्त, दन्त तथा तीर्थ अर्थ में शालीय शब्द परे रहने पर अष्ट का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है।[1] यथा;

(१) अष्ट-पदम् = अष्टापदम्। (२) अष्ट गोयुक्तम् = अष्टागोयुक्तम्।
(३) अष्ट-दन्तम् = अष्टादन्तम्। (४) अष्ट-शालीयम् = अष्टाशालीयम्।*

(१७) 'षाट्' के पूर्ववर्ती नाम का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है।[2] यथा;

(१) यव-षाट् = यवाषाट्। (२) जल-षाट् = जलाषाट्।**

इन उदाहरणों में षाट् के पूर्ववर्ती शब्दों का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो गया है।

(१८) वन शब्द परे रहते प्राच्यभरत संज्ञक तीन अक्षर वाले पदों का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है।[3] यथा;

(१) औलुपवनम् = औलुपावनम्। (२) मिश्रकवनम् = मिश्रकावनम्।
(३) रेहकवनम् = रेहकावनम्। (४) सुन्दरवनम् = सुन्दरावनम।
(५) कश्यपवनम् = कश्यपावनम्।***

इन उदाहरणों में वन के पूर्ववर्ती शब्द के प्राच्यभरत संज्ञक होने के कारण उनके अन्तिम अक्षर दीर्घ हो गए हैं।

(१९) नामभूत पद में एक अक्षरीय धातु से निष्पन्न शब्द बाद में हो तो उपसर्ग का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है।[4] यथा;

---

१. पदगोयुक्तदन्तशालीये तीर्थे। —ऋ०तं० ५.२.३
तु० अष्ट पदयोगपक्षवर्णदंष्ट्रचक्रेषु। च०अ० ३.२
* उदाहरण लौकिक है।

२. नाम्नां षाडि। —ऋ०तं० ५.२.४
तु० (क) सहावाडन्ते दीर्घः। च०अ० ६.१
(ख) अन्येषामपि दृश्यते। —पा०सू० ६.३.१३७
** उदाहरण लौकिक है।

३. वनेत्र्यक्षरप्रभृतीनां प्राच्यभरतसंज्ञा चेत्। —ऋ०तं ५.२.५ प्राच्यभरत-शब्द गोत्रवाची है।
तु० वनगिर्योः संज्ञायां कोटरकिंशुलकादीनाम्। —पा०सू० ६.३.११७
*** उदाहरण लौकिक है।

४. उपसर्गस्य धातावेकाक्षरे नामभूते। —ऋ०तं० ५.२.६
तु० नहिवृत्तिवृषिव्यधिरुचि सहितनिषु कौ। —पा०सू० ६.३.११६

(१) उप नत्=उपानत् । (२) उप वृत=उपावृत ।

(३) प्र वृट्=प्रावृट् । (४) नि वृत=निवृत् ।*

उपर्युक्त नामभूत पद में एक अक्षरीय धातु से निष्पन्न शब्द बाद में होने के कारण सभी उपसर्गों का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो गया है।

(२०) आदि में दीर्घ अकाराङ्ग वाली द्वयक्षरात्मक धातुज पद बाद में हो तो उपसर्ग का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है।[१] यथा;

(१) नि वर्त्तः=नीवर्त्त । (२) अभि वर्त्तः=अभीवर्त्तः ।

(३) परि वर्त्तः=परीवर्त्तः । (४) परि वापः=परीवापः ।

(५) परि वारः=परीवारः । (६) प्र कार=प्राकाराः ।

उपर्युक्त उदाहरणों में सभी धातुएँ प्रारम्भ में दीर्घ अकाराङ्ग वाली तथा पद दो अक्षरात्मक है। अतएव उनके पूर्ववर्ती उपसर्गों के अन्तिम अक्षर दीर्घ हो गये हैं।

(२१) 'साद', 'सूद', 'सङ्ग', 'सेन' आदि दन्त्यादि शब्दों के बाद में रहने पर उपसर्ग दीर्घ हो जाता है।[३] यथा;

(१) प्रसादः=प्रासादः । (२) प्र सूदः=प्रासूदः ।

(३) प्र सङ्ग=प्रासङ्गः । (४) प्र सेनः=प्रासेनः ।***

अपवाद—द्रव्यवाची षष्ठ्यन्त पद परे होने पर प्र दीर्घ नहीं होता।[४] यथा;

(१) प्रसादः सुरायाः । (२) प्रसादो मृत्तिकायाः ।****

द्रव्यवाची सुरा और मृत्तिका पदों के षष्ठ्यन्त रूप वाद में होने से प्र दीर्घ नहीं हुआ है।

---

* उदाहरण लौकिक है।

१. द्वर्यक्षरे गुर्वादावकाराङे । —ऋ०तं० ५.२.७

तु० (क) अभीवर्तः सूयवसो रथीतमः पुरुतमोऽनन्तरर्धर्चे उत्तमः । —ऋ०प्रा० ६.६

(ख) उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् ।

** उदाहरण लौकिक है। —पा०सू० ६.३.१२२

२. प्रदन्त्यादो सादसूदसङ्गसेनेषु । —ऋ०तं० ५.२.८

*** उदाहरण लौकिक है।

३. न सत्त्वभावे लुडिते च । —ऋ०तं० ५.२९

**** उदाहरण लौकिक है।

(२२) उपसर्ग का इकार निष्ठा प्रत्ययान्त पद में दीर्घ हो जाता है, यदि तकारादादि धातु परे हो ।[1] यथा;

(१) नि त्ता=नीत्ता। (२) वि त्ता=वीत्ता। (३) परि त्ता=परीत्ता*

उपरोक्त उदाहरणों में उपसर्ग के बाद निष्ठा प्रत्ययान्त धातु-क्त है। अतः नि, वि एवं परि उपसर्गों का इकार दीर्घ हो गया है।

(२३) दर्शनार्थक काश् धातु बाद में रहने पर पूर्ववर्ती इकार तथा उकार दीर्घ हो जाते हैं ।[2] यथा;

(१) अवनुकाशते=अवनूकाशते ।

(२) प्रतिकाशते=प्रतीकाशते रात्र्यामेतत्**

(२४) पाठ के द्वयक्षरात्मक पद का अन्तिम लघु अक्षर दीर्घ हो जाता है।[3] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) एव। हि। असि।	=	एवा ह्यसि।
(२) अर्च। देवाय।	=	अर्चादेवाय।
(३) योज। नु। इन्द्र।	=	योजा न्विन्द्र।
(४) रक्ष। नः।	=	रक्षाणः।
(५) तेन। पवस्व। अन्धसा	=	तेना पवस्वान्धसा।

१. निष्ठायामित् तादौ। —ऋ०तं० ५.२.१०
तु० (क) उपसर्गस्य नामिनो दस्ति। —च०अ० ३.११
(ख) दस्ति। —पा०सू० ६.३.१२४

* उदाहरण लौकिक है।

२. उच्च काशे दर्शने। —ऋ०तं० ५.२.११
तु० (क) ...नीकाशाअनूकाशेन। —वा०प्रा० ३.१३०
(ख) इकः काशे। —पा०सू० ६.३.१२३ ** उदाहरण लौकिक है।

३. युग्मं घु। —ऋ०तं० ५.३.१
तु० (क) ऋ०प्र० ७.१३, १५, २१, २४, २७, २९, ३०, ३३, ३५-४० ९.३५
(ख) वा०प्रा० ३.१३० (ग) विद्मादीनां शरादिषु। च०अ० ३.१६
(घ) द्वयचोऽतस्तिङ। —पा०सू० ६.१.१३५
(१) सा०वे० १.२३२ (२) सा०वे० १.८८ (३) सा०वे० १.४१५
(४) सा०वे० १.२४ (५) सा०वे० १.४७०

इन उदाहरणों में एव, अर्च, योज, रक्ष तथा तेन के अन्तिम अक्षर दीर्घ हो गए हैं।

(२५) घोष वर्ण से संयुक्त एवं लघु उकार दीर्घ हो जाता है, यदि उससे पहले तथा बाद में लघु अक्षर हो।[1] यथा ;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) पुरु। चित्। अर्णऽवान्।	=	पुरु चिदर्णवान्।
(२) पुरु। नृऽसूतः।	=	पुरु नृषूतः।

यहाँ घोष रेफ से संयुक्त लघु उकार के पहले और बाद में ह्रस्व वर्ण होने के कारण यह दीर्घ हो गया है।

(२६) घोष वर्ण से संयुक्त लघु इकार के पूर्व और परे ह्रस्व वर्ण हो तो इकार दीर्घ हो जाता है।[2] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) श्रुधि। हवम्।	=	श्रुधी हवम्।
(२) वि। अश्नुहि। मदम्।	=	व्यश्नुही मदम्।
(३) यदि। वहन्ति।	=	यदी वहन्ति।
(४) श्रृणुहि। गिरः।	=	श्रृणुही गिरः।

इन उदाहरणों में क्रमशः घोष वर्ण ध, ह द, से संयुक्त इकार के पूर्व और परे ह्रस्व वर्ण हैं, अतः वह दीर्घ हो गये हैं।

(२७) सोष्मन् इकार के बाद एकाक्षर दन्त्य पद हो तो इकार दीर्घ हो जाता है।[3] यथा;

---

१. उ घोर्घुनि घोषादिः। —ऋ०तं०, ५.३.२
तु० (क) ऋ०प्रा०, ८.१
(ख) ऋषि तुनुधमक्षुतङ्गोरुष्याणाम्। —पा०सू०, ६.३.१३३
(१) सा०वे०, १.३४० (२) सा०वे०, १.२७९

२. इ। —ऋ०तं०, ५.३.३
(१) सा०वे०, १.३४६ (२) सा०वे०, १.१६१
(३) सा०वे०, १.३५६ (४) सा०वे०, २.५९४

३. सोष्मि दन्त्ये क्षे। —ऋ०तं०, ५.३.४
तु० (क) विद्धिपिबित्विति। —ऋ०प्रा०, ७.१३
(ख) इकः सुजि। —पा०सू०, ६.३.१३४
(१) सा०वे०, १.१३२ (२) सा०वे०, २.३४
(३) सा०वे०, १.५४९

पदपाठ		संहितापाठ
(१) विद्धि । तु अस्य ।	=	विद्धी त्वाऽस्य ।
(२) अभि । सु । नः ।	=	अभी षु णः ।
(३) अभि । नः । वा···।	=	अभी नो वा··· ।

यहाँ सोष्म नृ और इकार के बाद एकाक्षरीय दन्त्य पद तु, सु एवं नः होने के कारण इकार दीर्घ हो गया है।

(२८) सोष्मन् इकार के पूर्व यदि कण्ठय वर्ण हो और उसके परे दन्त्य वर्ण होने पर इकार दीर्घ हो जाता है।[1] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) अभि । सतः ।	=	अभीषतः ।
(२) अभिऽस्याम ।	=	अभीष्याम ।
(३) अभि । नवम् ।	=	अभी नवम् ।

यहाँ सोष्मन् वर्ण भ से संयुक्त इकार के पूर्व अ कण्ठ्य है तथा बाद में स और न दन्त्य हैं। अतः सोष्मीकार दीर्घ हो गया है।

(२९) तालव्य वर्ण दीर्घ हो जाता है, यदि उसके बाद एकाक्षर पद का अथवा संयुक्तपद का दन्त्य वर्ण हो।[2] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) अच्छ । नप्त्रे ।	=	अच्छा नप्त्रे ।
(२) योज । नु । इन्द्र ।	=	योजा न्विन्द्र ।

यहाँ छ और ज तालव्य वर्णों के बाद संयुक्त पदात्मक न तथा एक पदात्मक नु के दन्त्य वर्ण होने के कारण छ और ज दोनों दीर्घ हो गये हैं।

(३०) एकाक्षरात्मक पद अथवा संयुक्त अक्षर दीर्घ हो जाते हैं, यदि उनके बाद वकार न हो।[3] यथा;

---

१. कण्ठ्ये । —ऋ०तं०, ५.३.५

(१) सा०वे०, १.३०९ (२) सा०वे०, १.३३६

(३) सा०वे०, १.५५०

२. व्यादेः । —ऋ०तं०, ५.३.६

(१) सा०वे०, १.२१ (२) सा०वे०, १.४१५

३. क्षर्माव । —ऋ०तं०, ५.३.७

(१) सा०वे०, १.३९७ (२) सा०वे०, १.६५ (३) सा०वे०, १.४०

(४) सा०वे०, १.२०६ (५) सा०वे०, १.४२४

पदपाठ		संहितापाठ
(१) युयोतन । नः ।	=	युयोतना नः ।
(२) पर । उँ इति । ते । एकम्	=	पर ऊ त एकम् ।
(३) अद्य । देवान ।	=	अद्या देवान् ।
(४) सुऽनीथः । घ ।	=	सुनीथो घा ।
(५) घ । तम् ।	=	घा तम् ।

उपर्युक्त उदाहरणों में पदभूत उ और सभी संयुक्त अ के बाद में वकार न होने के कारण दीर्घ हो गये हैं ।

(३१) तीन अक्षर के पद के परे एकाक्षरात्मक पद हो तो उनका अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है ।[1] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) ईडिष्व । हि ।	=	ईडिष्वा हि ।
(२) ऊर्ध्वः । ऊँइति । सु ।	=	ऊर्ध्व ऊ षु ।
(३) वयम् । घ । ते ।	=	वयं घा ते ।

यहाँ तीन अक्षरों के बाद एकाक्षरात्मक पद होने के कारण उनका अन्तिम अक्षर दीर्घ हो गया है ।

(३२) यक्षर पद के अन्त में आने वाले य और त दीर्घ हो जाते है ।[2] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) यावय ।	=	यावया ।
(२) च्यावय ।	=	च्यावया ।

(३३) दो ऊष्म अक्षरों के बाद संयुक्त लघु य और त दीर्घ हो जाते हैं ।[3] यथा;

---

१. तृतीयम् । —ऋ०तं०, ५.३.८

(१) सा०वे०, १.१०३ (२) सा०वे०, १.५७

(३) सा०वे०, १.२३०

२. य तौ । —ऋ० तं०, ५.३.९

(१) सा०वे०, १.२६६ (२) सा०वे०, १.२६७

३. ष्मिणोर्द्विवतः । —ऋ०तं०, ५.३.१०

तु० ऋ०पा०, ८.१३

(१) सा०वे०, १.१०६ (२) सा०वे०, १.९८

पदपाठ		संहितापाठ
(१) गूर्धय ।	=	गूर्धया ।
(२) भरत ।	=	भरता ।

उपर्युक्त स्थलों पर दो ऊष्म अक्षरों के बाद आने वाला संयुक्त य और त दीर्घ हो गये हैं ।

(३४) जिस पाद में णकार परे हो तो पूर्ववर्ती पद का त दीर्घ हो जाता है ।[1] यथा;

पदपाठ	संहितापाठ
(१) इन्द्रम् । इत । स्तोत । वृषणम् —	इन्द्रमित स्तोतावृषणम् ।

(३५) सर्वानुदात्त द्व्यक्षर पद के अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाते हैं, यदि उनके बाद वर्ग के प्रथम अक्षर हो ।[2] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) वह । त्वम् ।	=	वहा त्वम् ।
(२) भज । त्वम् ।	=	भजा त्वम् ।

यहाँ वह और भज क्रिया पद होने के कारण सर्वानुदात्त है और उसके बाद वर्ग का प्रथम वर्ण त है । अतएव वह और भज का अन्तिम वर्ण दीर्घ हो गया है ।

(३६) दो लघु अक्षरों का मध्यवर्ती म दीर्घ हो जाता है ।[3] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) सिम । पुरु ।	=	सिमा पुरु ।
(२) जनिम । विवक्ति	=	जनिमा विवक्ति ।

---

१. णि । —ऋ०तं०, ५.४.१
(१) सा०वे०, १.२४२

२. नीचस्य चु प्रथमे । —ऋ०तं०, ५.४.२
(१) सा०वे०, १.४०
(२) सा०वे०, १.४२४

३. म । —ऋ०तं०, ५.४.३
(१) सा०वे०, १.२७९
(२) सा०वे०, १.५२४

(३७) तद् का कोई रूप परे हो तो पूर्ववर्ती म दीर्घ हो जाता है।[1] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) ररिम। ते।	=	ररिमा ते।
(२) जगृह्म। ते।	=	जगृह्मा ते।
(३) विद्म। ते।	=	विद्मा ते।

उपर्युक्त स्थलों पर तद् का रूप ते परे होने के कारण म दीर्घ हो गया है।

(३८) ऋचा के पाद में 'इमम्' पद हो तो म दीर्घ हो जाता है।[2] यथा;

(१) द्विरिम स्तोमायाम्।

(३९) ते से परे तथा वर्ग के प्रथम अक्षर से पूर्व जो ह्रस्व अक्षर होता है वह दीर्घ हो जाता है।[3] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) तेन। पवस्व।	=	तेना पवस्व।

यहाँ ते और अकार का पूर्ववर्ती प्रथम वर्ण पकार होने के कारण नकार दीर्घ हो गया।

(४०) पादान्त संयुक्त स्त्य पद का ही अन्तिम अक्षर दीर्घ होता है।[4] यथा;

(१) मृज्यमानः सुहस्त्या।

(४१) 'पिबा' और 'वर्तनीः' शब्द में अन्तिम अक्षर दीर्घ होता है।[5] यथा;

(१) पिबा इमम्। (२) तं वर्तनीः।

---

१. तम्। —ऋ०तं०, ५.४.४

तु०···ररिमा ते।···। —ऋ०पा०, ८.३५

(१) सा०वे०, १२४ (२) सा०वे०, १.३१७ (३) सा०वे०, १.३१७

२. इमम्। —ऋ०तं०, ५.४.५

(१) सा०वे०, १.६६

३. तेः। —ऋ०तं०, ५.४.६

(१) सा०वे०, १.४७०

४. अयुंस्त्य। —ऋ०तं०, ५.४.७

(१) सा०वे०, १.५१७

५. बा इ वर्तनीः। —ऋ०तं०, ५.४.८

(१) सा०वे०, १.१९१ (२) सा०वे०, १.३७२

(४२) पद के मध्य में अवस्थित लघु य के बाद पद का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है ।[1] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) तार्क्ष्यम् । इह ।	=	तार्क्ष्यमिहा ।

(४३) ऋचा में प्र आदि के बाद अवस्थित तथा पाद के अन्त में न रहने वाला सोष्म वर्ण दीर्घ हो जाता है ।[2] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) प्र । देवम् । अच्छ ।	=	प्र देवमच्छा ।
(२) प्र । धन्व	=	प्र धन्वा ।
(३) च । न ।	=	चना ।

यहाँ प्र और च के बाद अवस्थित अपदान्त सोष्मवर्ण छ, व और न दीर्घ हो गये हैं ।

(४४) 'अनुषक्' का आदि अक्षर दीर्घ होता है ।[3] यथा;

(१) हव्यम् आनुषक् ।

(४५) संहिता में अवः क्रियापद का आदिवर्ण दीर्घ होता है ।[4] यथा;

(१) वेन आवः ।

(४६) ह्रस्व स्वर के बाद विद्यमान पुरुष पद का आदि अक्षर दीर्घ हो जाता है ।[5] यथा;

---

१. यमः । —ऋ०तं०, ५.४.८

(१) सा०वे०, १.३३२

२. प्राचु सोष्मणि । —ऋ०तं०, ५.४.१०

(१) सा०वे०, १.५६३ (२) सा०वे०, १.५६७ (३) सा०वे० २.१०७७

३. अनुषगादिः । —ऋ०तं०, ५.५.६

(१) सा०वे०, १.८२

४. अवः । —ऋ०तं०, ५.५.७

(१) सा०वे०, १.३२१

५. ह्रस्वात् पुरुषः । —ऋ०तं०, ५.५.८

तु० (क) अर्धर्चान्ते च पुरुषः । —ऋ०प्रा०, ९.४०

(ख) पुरुषोऽवसाने । —वा०प्रा०, ३.१२०

(ग) अन्येषामपि दृश्यते । —पा०सू०, ६.३.१३७

(१) आ०सं०, ३६

पदपाठ संहितापाठ

(१) ततः । ज्यायान् । च । पुरुषः = ततो ज्यायांश्च पूरुषः ।

यहाँ चकार के बाद अवस्थित पुरुष का पु दीर्घ हो गया है।

दीर्घीकरण का अपवाद

(१) अकार का प्रतिषेध होने पर संयुक्त व्यञ्जन का अन्तिम अक्षर दीर्घ नहीं होता।[1] यथा;

(१) इन्द्र सुतेषु । (२) तव पूषा । (३) कस्य नूनम् ।

(२) स्वर सन्धि प्राप्त पद का अन्तिम अक्षर दीर्घ नहीं होता।[2] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) आ । उत । रथया ।	=	ओत रथया
(२) सन् । यदि । वा । इह ।	=	सन यदि वेह ।

यहाँ ओत का तकार, वेह का हकार सन्धि-प्राप्त पद होने के कारण दीर्घ नहीं हुये।

(३) उपसर्ग दीर्घ नहीं होते। प्र, उप, अप, अव, आ, पर, वि, नि, सु, उत्, अभि, प्रति, परि, अपि, अति, अधि, अनु, निः, दुः, सम्, ये उपसर्ग हैं। इसके साथ ही साथ निपातों के बीच दीर्घ होने का निषेध किया गया है। ये निपात हैं—चित्, स्वित्, कित्, इत्, वाक्, ह, हे, हि, हुम्, ।

जिन उपसर्गों के अन्त में इकार है, उसके लिये विशेष नियम है—यह व्याख्याकार का मत है, क्योंकि अभीषत (सा०वे०-१.३०६) आदि उदाहरण प्राप्त होते हैं।[3]

(४) द्य दीर्घ नहीं होता।[4] यथा;

(१) यदद्य । (२) अद्य मो देव ।

---

१. अरस्य । —ऋ०तं०, ५.५१

(१) सा०वे०, १.३८१ (२) सा०वे०, १.४० (३) सा०वे०, १.२४

२. रसन्धिः । —ऋ०तं०, ५.५.२

(१) सा०वे०, १.१८६ (२) सा०वे७, १.४५०

३. उपसर्गः । —ऋ०तं०, ५.५.३

४. द्य । —ऋ०तं, ५.५.४

(१) सा०वे०, २.६९९ (2) सा०वे०, १.१४१

(५) मकार बाद में हो तो वर्ग का तृतीय अक्षर दीर्घ नहीं होता।[1] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) मृड। महान्।	=	मृड महाँ।
(२) अङ्ग। महत्।	=	अङ्ग महत्।

यहाँ मकार परे होने के कारण ड और ग दीर्घ नहीं हुए।

व्यञ्जन-विकार

ऋक्तन्त्र में स्वरों के विकार के विवेचन के उपरान्त व्यञ्जन के विकार के सम्बन्ध में विचार किया गया है। जब दो व्यञ्जन संधि के फलस्वरूप विकृत हो जाते हैं, तो उसको व्यञ्जन-विकार कहा जाता है। इसके अन्तर्गत वर्ग के तृतीय वर्ण का अघोषभाव तथा वर्ग के प्रथम वर्ण का परभाव, दन्त्य-वर्ण का छकारभाव, हकार का चतुर्थ वर्णभाव, मकार के विकार, नकार के विकार, मुर्धन्यभाव तथा द्वित्त्व का विवेचन ऋक्तन्त्र में इस प्रकार किया गया है।

तृतीय वर्ण का अघोषभाव

(१) वर्ग के तृतीय वर्ण के बाद अघोष (वर्ग के प्रथम, द्वितीय वर्ण एवं श, ष, स) हो तो वर्ग का तृतीय वर्ण अघोष हो जाता हैं।[2] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) अस्तु। श्रौषट्। पुरः।	=	अस्तु श्रौषड् पुरः।
(२) यत्। सोमम्।	=	यद् सोमम्।

यहाँ सर्वप्रथम ट् और त् क्रमशः ड और द् में परिवर्तित हुए हैं। तदनन्तर प्रस्तुत सूत्र से प और स अघोप वर्णों के परे होने के कारण वे पुनः अघोष अर्थात् प्रथम वर्ण को प्राप्त हो गये हैं।

---

१. मि तृतीयो। —ऋ०तं०, ५.५.५
(१) सा०वे०, १.२३ (२) सा०वे० १.२००

२. तृतीयः परगुणम्। —ऋ०तं०, ४.४.२
तु० (क) जिति प्रथमम्। —वा०प्रा०, ४.११६
(ख) अघोषेपु च। —च०अ०, २.४
(१) सा०वे०, १.४६१ (२) सा०वे०, १.३८४

प्रथम वर्ण का परभाव

वर्ग का अन्तिम वर्ण बाद में हो तो पूर्ववर्ती प्रथम वर्ण अपने वर्ग का अन्तिम वर्ण हो जाता है । इसी को परभाव कहते है ।[1] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) वट् । महान् ।	=	वण्महान् ।
(२) हव्यवाट् । न । समुद्रथः ।	=	हव्यवाण् न समुद्रथः ।
(३) व्यख्यत् । महिषः । दिवम् ।	=	व्यख्यन् महिषोदिवम् ।

उपर्युक्त उदाहरणों में वर्ग के प्रथम वर्ण ट् त् वर्ग के अन्तिम वर्ण म, न, म के परे रहते अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण हो गये हैं ।

दन्त्य वर्ण का छकारभाव

दन्त्य वर्ण के बाद शकार हो तो वह छकार हो जाता है ।[2] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) ···वत् । शुचिम् ।···	=	···वच्छुचिम् ।···।
(२) चित्र । इत् । शिशोः ।	=	चित्र इच्छिशोः ।
(३) यत् । शक्रासि ।	=	यच्छक्रासि ।
(४) यत् । शिक्षसि ।	=	यच्छिक्षसि ।
(५) यस्य । त्यत् । शम् ।	=	यस्य त्यक्षछम् ।

---

१. अन्त्ये । —ऋ०तं०, ४.४.३

तु० (क) उत्तमानुत्तमेषुदयेषु । —ऋ०प्रा०, ४.३

(ख) उत्तमपर उत्तमं सवर्गीयम् । —तै०प्रा०, ८.२

(ग) पञ्चमेपञ्चमम् । —वा०प्र०, ४.१२१

(घ) यरोऽनुनासिकेऽनुनासिकोवा । —पा०सू०. ८.४.४५

(१) सा०वे०, १.९७६ (२) सा०वे०, १.४४७

(३) सा०वे०, १.४४७

२. दन्त्याच्छशकम् । —ऋ०तं०, ४.४.४

तु० (क) तालव्ये घोष उदये यकारम् । —ऋ०प्रा०, ४.११

(ख) छकारं तयोरुदयः शकारः । —ऋ०प्रा०, ४.१२

(ग) शकारे च । —वा०प्रा०, ४.९५

(घ) तकारश्चकारं शचछपरः । नकार एतेषु जकारम् । —तै०प्रा०, ५.२२,२४

(ङ) तवर्गीययाच्छकारः शकारस्य । —च०अ०, २.१७

उपर्युक्त सभी स्थलों पर दन्त्य वर्णों के बाद शकार को छकार हो गया है। तदनन्तर 'श्लो' सूत्र से (ऋ०तं० ४.५.६) से दन्त्यवर्ण पर भाव को प्राप्त हुए हैं।

अपवाद

कतिपय आचार्यों का मत है कि दन्त्य का परवर्ती शकार छकार में परिवर्तित नहीं होता।[1] इसका उदाहरण नहीं दिया गया है।

हकार का चतुर्थवर्णभाव

वर्ग के तृतीय वर्ण के बाद हकार हो तो वह उस वर्ग के चतुर्थ वर्ण में परिवर्तित हो जाता है।[2] यथा;

(१) वणिक् हरति—वणिग्घरति। (२) षट् हरति—षड्ढरति।
(३) त्रिष्टुप् हरति।=त्रिष्टुब्भरति। *

उपर्युक्त उदाहरणों में सर्वप्रथम पूर्ववर्ती प्रथम वर्ण तृतीय वर्ण में तदनन्तर हकार चतुर्थ वर्ण में परिवर्तित हुआ है।

दन्त्य वर्ण का परभाव

(१) दन्त्य वर्ण के बाद मध्यम वर्गीय वर्ण हो तो दन्त्य वर्ण परभाव को प्राप्त हो जाता है।[3] यथा;

(च) शश्छोऽटि। —पा०सू०, ८.४.६३
(१) सा०वे०, १.१८ (२) सा०वे०, १.६४
(३) सा०वे०, १.२६४ (४) सा०वे०, १.३६६
(५) सा०वे०, १.३६२

१. चलोद्यमेके। —ऋ०तं०, ४.४.५

२. तृतीयाद्धश्चतुर्थम्। —ऋ०तं०, ४.४.६
तु० (क) पदान्तैस्तैरेव तृतीय भूतैस्तेषां चतुर्थानुद्यो हकारः। —ऋ०प्रा०, ४.५
(ख) हश्च तस्मात् पूर्वचतुर्थम्। —वा०प्रा०, ४.१२२
(ग) तेभ्यः पूर्वचतुर्थो हकारस्य। —च०अ०, २.७
(घ) झयो होऽन्यतरस्याम्। —पा०सू०, ८.४.६

* उदाहरण लौकिक है।

३. दन्त्यं मध्यमवर्गे। —ऋ०तं०, ४.४.८
तु० (क) ऋ०प्रा०, ४.६.११ (ख) तै०प्रा०, ५.२२.२४

पदपाठ		संहितापाठ
(१) यत् । जायथाः	=	यज्जायथाः ।
(२) तत् । जयति ।	=	तज्जयति ।

यहाँ तकार के बाद मध्यवर्गीय वर्ण ज होने के कारण वह परभाव को प्राप्त हो गया है ।

(२) दन्त्य वर्ण के बाद शकार अथवा लकार हो तो दन्त्य वर्ण परभाव को प्राप्त होता है । अर्थात् समान स्थानीय वर्ण में परिवर्तित हो जाता है ।[1] यथा;

(१) तत् श्लोकः = तच्छ्लोकः । (२) पर्षत् श्लोकः = पर्षच्छ्लोकः ।
(३) भवान् लुनाति = भवांल्लुनाति ।*

प्रथम दो उदाहरणों में सर्वप्रथम, दन्त्याच्छश्छम् (ऋ०तं० ४.४.४) सूत्र से शकार को छकार, तदनन्तर प्रस्तुत सूत्र से तकार को चकार हुआ है। अन्तिम उदाहरण में इसी सूत्र से विकार हुआ है ।

मकार-विकार

मकार का परभाव

(१) सन्ध्य मकार अपने परवर्ती वर्ण के समान स्थानीय वर्ण को प्राप्त हो जाता है ।[2] यथा;

(ग) तकारवर्गश्चकारवर्गे । चकारवर्गम् —वा०प्रा०, ४.६४
(घ) चवर्गीये घोषवति । —च०अ०, २.११
(१) सा०वे०, २.७७७ (२) उदाहरण लौकिक है।

१. श्लो : । —ऋ०तं०, ४.४.६
तु० (क) तकारो जकारलकारयोस्तौ । —ऋ०प्रा०, ४.१०
(ख) छकारं तयोरुदयः शकारः । —ऋ०प्रा०, ४.१२
(ग) तकारश्चकारं शचछपरः । लपरौलकारम् । —तै०प्रा०, ५.२२, २५
(घ) तकारो ले लम् । स्वरश्छकारे चकारेण सर्वत्र । —वा०प्रा०, ४.१२, २४
(ङ) तकारस्य शकारलकारयोः परसस्थानः । —च०अ०, २.१३

*उदाहरण लौकिक है ।

२. मो सन्ध्यः । —ऋ०तं०, ४.४.१०
तु० (क) विस्थाने स्पर्श उदये मकारः सर्वेषामेवोदयस्योत्तम् स्वम् । —ऋ०प्रा०, ४.६

पदपाठ		संहितापाठ
(१) त्वाम् । काष्ठा ।	=	त्वाङ्काष्ठा ।
(२) वम् । गो ऋजीकम् ।	=	वङ् गोऋजीकम् ।
(३) तम् । ते । मदम् ।	=	तन्ते मदम् ।

उपर्युक्त उदाहरणों में सन्ध्य मकार परवर्ती वर्ण के वर्ग के अन्तिम अक्षर में परिवर्तित हो गया है ।

(२) जिस हकार के बाद न अथवा म हो उस हकार के परे रहते सन्ध्य मकार हकार के परवर्ती वर्ण को प्राप्त हो जाता है ।[1] यथा;

(१) तृणम् हनुते = तृणन्ह्नुते । (२) तृणम् ह्मलयति = तृणम्ह्मलयति ।

(३) किम् हनुते = किन्ह्नुते । (४) किम् ह्मलयति = किम्ह्मलयति ।*

उपर्युक्त स्थलों पर हकार के बाद न, म होने के कारण मकार हकार के परवर्ती वर्णों में परिवर्तित हो गया है ।

मकार का पूर्वभाव

सन्ध्य मकार के बाद अन्तःस्थ वर्ण हो तो सन्ध्य मकार अपने पूर्ववर्ती वर्ण को प्राप्त हो जाता है ।[2] यथा;

(ख) मकारस्पर्शपरस्तस्य सस्थानमनुनासिकम् । —तै०प्रा०, ५.२७

(ग) स्पर्शे परपञ्चमम् । —वा०प्रा०, ४.१२

(घ) मकारस्य स्पर्शे परसस्थानः । —च०अ०, २.३१

(ङ) अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः । तोर्लि शश्छोटि ।
—पा०सू०, ८.४.५८, ६०, ६३

(१) सा०वे०, १.२३४ (२) सा०वे० १.३१२

(३) सा०वे०, १.३८३

१. हिनमपरे च तत्परम् । —ऋ०तं०, ४.४.१०

तु० (क) हे मपरे वा । —पा०सू०, ८.३.२६

(ख) नपरे न । —पा०सू०, ८.३.२७

* उदाहरण लौकिक है ।

२. रणमपि स्थायाम् । —ऋ०तं०, ४.१.११

तु० (क) रेफोष्मपरः । —तै०प्रा०, १३.२

(ख) यवकारपरैश्चैकेषामाचार्याणाम् । —तै०प्रा०, १३.३

(१) सा०वे०, १.२१४ (२) आ०सं०, २८

पदपाठ		संहितापाठ
(१) क्रविम् । यथा ।	=	क्रविं यथा ।
(२) प्र । वोचम् । यानि ।	=	प्र वोचं यानि ।

उपर्युक्त उदाहरणों में सन्ध्य मकार के बाद अन्तःस्था वर्ण य होने के कारण सन्ध्य मकार अपने पूर्ववर्ती वर्ण का अङ्ग हो गया है ।

मकार का अनुस्वारभाव

(१) कतिपय आचार्यों का मत है कि सन्ध्य मकार अन्तःस्था वर्ण बाद में होने पर अनुस्वार हो जाता है ।[1] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) प्रेष्ठम् । वः ।	=	प्रेष्ठं वः ।

इस उदाहरण में सन्ध्य अकार के बाद व होने के कारण सन्ध्य मकार अनुस्वार हो गया है।

(२) रेफ और उष्म वर्ण बाद में हो तो सन्ध्य मकार अनुस्वार हो जाता हैं ।[2] यथा;

पदपाठ		संहिताषाठ
(१) सोमम् । रा···।	=	सोमं रा···।
(२) विष्णुम् । सूर्यम् ।	=	विष्णुं सूर्यम् ।
(३) जेतारम् । हो ।	=	जेतारं हो ।

उपर्युक्त स्थलों पर रकार और ऊष्मवर्ण बाद में होने के कारण मकार अनुस्वार हो गया है।

---

१. अनुस्वारमेके । —ऋ०तं०, ४.४.१२

(१) सा०वे०, १.५

२. रेफोष्मसु । —ऋ०तं०, ४.४.१३

तु० (क) रेफोष्मणोरुदययोर्मकारोनुस्वारं तत्परिपन्नमाहुः ।
—ऋ०प्रा०, ४.१५

(ख) अनुस्वार रोष्मसु मकारः । —वा०प्रा०, ४.१

(ग) मो नुस्वारः । —पा०सू०, ८.३.२३

(१) सा०वे०, १.९१ (२) सा०वे०, १.१९१

(३) सा०वे०, १.२८३

(३) रेफ और ऊष्मन् सम्बन्धी अन्त्य विकार परे रहते अनुस्वार का व्यवधान होता हैं ।[1] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) ऋतूः । अनु ।	=	ऋतूंरनु ।
(२) चरन् । चरन् ।	=	चरंश्चरन् ।

इन उदाहरणों में 'अस्थात् यम् । (ऋ०तं०-३.६.७) सूत्र से तथा 'ऋक् चे' (ऋ०तं०, ४.२.४) एव 'कान्त स्वे' (ऋ०तं०, ४.२.५) से क्रमशः य, स का व्यवधान हुआ है तदनन्तर प्रस्तुत सूत्र रेफ, उष्मन बाद में होने से वे अनुस्वार हो गये हैं ।

(4) एक पद में अवस्थित नकार का पूर्ववर्ती अकार रक्त (अनुनासिक) हो जाता है ।[2] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) वट् । महान् ।	=	वण्महां ।

नकार-विकार

नकार का विसर्जनीय भाव

(१) य, वो, अ, ह, इ, स परे हो तो दीर्घ स्वर का परवर्ती नकार विसर्जनीय हो जाता है ।[3] यथा;

---

१. व्यवधानोऽन्त्यविकारे । —ऋ०तं०, ४.५.१

तु० (क) नकारस्य लोपरेपोष्मभावे पूर्वस्ततस्थानादनुनासिकः —ऋ०प्रा०, ४.८०

(ख) नकारस्य रेफोष्मयकारभावाल्लुप्ते मलोपाच्च पूर्वस्वरोऽनुनासिकः । —तै०प्रा०, १५.१

(ग) अनुनासिकमुपपधाप्रागन्तःस्थायाः । —वा०प्रा०, ३.१३१

(घ) नकारमकारयोर्लोपे पूर्वस्यानुनासिकः । —च०अ०, १.६७

(ङ) अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः । —पा०सू०, ८.३.४

(१) सा०वे०, १.२२६ (२) सा०वे०, १.६४ (सामगान)

२. आ रक्तः । —ऋ०तं०, ३.६.४

(१) सा०वे०, १.२७६

३. घान्नो हि विसर्जनीयं यवोहिषु । —ऋ०तं०, ३.६.२

तु० (क) हतं योनौ वचोभिर्यान् न्युवन्यूंर्वनिषीष्टेति । ईकारोकारोपहितो रेफमेषु ॥ स्वरेषु च । दस्यूं रेकोनृं रभि । —ऋ०प्रा०, ४.६९.७०.७१

पदपाठ		संहितापाठ
(१) ऋतून् । अनु ।	=	ऋतूंरनु ।
(२) पणीन् । हतम् ।	=	पर्णीर्हतम् ।
(३) वस्यान् । इन्द्र । असि ।	=	वस्यां इन्द्रासि ।
(४) महान् । हि । सः ।	=	महां हि षः ।
(५) दशिवान् । वोचे ।	=	दशिवां वोचे ।
(६) दधन्वान् । यः ।	=	दधन्वां यः ।

उपर्युक्त स्थलों पर नकार को सर्वत्र विसर्जनीय हो गया है । इन पदों में प्रस्तुत सूत्र से विसर्जनीय होने के अनन्तर 'रं विसर्जनीयो घोषे' (ऋ०तं०, ३.६.५) सूत्र से विसर्जनीय को रेफ 'अस्थात् यम्' (ऋ०तं०, ३.६.७) से विसर्जनीय को यकार 'यः' (ऋ०तं०. ४.२८) सूत्र से यकार-लोप और 'व्यवधानों न्त्यविकारे' (ऋ०तं०, ४.५.१) एव् 'आ रक्तः' (ऋ०त०, ३.६.४) सूत्र से अनुस्वार होने पर ये रूप निष्पन्न हुए हैं ।

(२) दीर्घ स्वर के बाद अवस्थित संयुक्त नकार ही विसर्जनीय को प्राप्त होता है ।[1] यथा;

(१) दैवान् उषः = देवां उषः ।

यहाँ प्रस्तुत सूत्र से नकार को विसर्जनीय, तदनन्तर 'अस्थाद्र यम् (ऋ० तं०, ३.६.७) सूत्र से विसर्जनीय का यकार और 'यः' (ऋ०तं०, ४.१.९) सूत्र

(ख) नकारस्य लोपो रेफोष्मभावे पूर्वस्तत्स्थानादनुनासिकः ।

—ऋ०प्रा०, ४.८०

(ग) अनितिपरो ग्रहोख्ययाज्यापृष्ठ्यहिरण्यवर्णीयेष्ठी कारो कारपूर्वो रेफमाकारपूर्वश्च य कारम् । लुप्येते त्ववर्णपूर्वौ यवकारौ ।

—तै०प्रा०, ९.२० एवं १०.१९

(घ) नृन् पकारे विसर्जनीयम् । शत्रून् परिधीन् कतून् । वनस्पतीन् स्वरे रेफम् । —वा०प्रा०, ३.१४१.१४२

(ङ) आकारोपधस्योपवद्धवादीनां स्वरे । नाम्युपधस्य रेफ ऋतूंरत्सृज्यते । वशीत्येवमादीनास् । —च०अ०, २.२७.२९

(१) सा०वे०, १.२२९ (२) ऋ० १.१८४.२

(३) सा०वे०, १.२९२ (४) सा०वे०, १.३८१

(५) सा०वे०, १.९७ (६) सा०वे०, १.५१२

१. घाद् ग्रा । —ऋ०तं०, ३.६.३

से यकार का लोप तथा 'आरक्तः' (ऋ०त०, ३.६.४) सूत्र से आकार सानुनासिक होकर उपर्युक्त रूप निष्पन्न हुआ है ।

मूर्धन्य-भाव

किसी समीपवर्ती ध्वनि के प्रभाव से दन्त्यवर्ण का मूर्धन्य हो जाना मूर्धन्य-भाव कहलाता है । इसे 'नति'[1] और 'विनाम'[2] भी कहा गया है । ऋक्तन्त्र के पञ्चम प्रपाठक के षष्ठ और सप्तम दशक में मूर्धन्यभाव का विशद विवेचन किया गया है, जो इस प्रकार है—

नकार का मूर्धन्यभाव

(१) एक पद में र से परे नकार हो तो वह मूर्धन्य हो जाता है ।[3] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) गिरीनाम् ।	=	गिरीणाम् ।
(२) तरनिम् ।	=	तरणिम् ।
(३) अप्रऽहनम् ।	=	अप्रहणम् ।

उपर्युक्त स्थलों पर र के पूर्ववर्ती होने से नकारको मूर्धन्य ण हो गया है ।

---

१. (क) एषा नतिदन्त्यमूर्धन्यभावः । —ऋ०प्रा०, ५.६.१

(ख) दन्त्यस्य मूर्धन्यापत्तिर्नतिः । —वा०प्रा०, १.४२

२. (क) विनामे । —वा०प्रा०, ४.१६२

(ख) विनाम शब्देन दन्त्यस्य मूर्धन्यभाव उच्यते ।

—वा०प्रा०, ४.१६२ पर उ०भा०

(ग) विनामे च —च०अ०, ४.३४

३. दे नो मूर्धन्यम् । —ऋ०तं०, ५.६.७

तु० (क) ऋकाररेफषकारानमन्ति समानपदे वग्रहेनमन्ति । अन्तः पदस्थम् ककार पूर्वाअपि सन्ध्याः ।। —ऋ०प्रा०, ५.४०

(ख) ऋषरेभ्यो नकारो णकारं समानपदे । —वा०प्रा०, ३.८५

(ग) ऋवर्णरेफषकारेभ्यः समानपदे नो णः । —च०अ०, ३.७५

(घ) रषाभ्यां नो णः समानपदे । —पा०सू०. ८.४.१

(१) सा०वे०, १.१४३   (२) सा०वे०, १.२०४

(३) सा०वे०, १.३५७

(२) एक पद में ऋकार और षकार का परवर्ती नकार मुर्धन्य हो जाता है ।[1] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) पितृनाम् ।	=	पितृणाम् ।
(२) पोषिनाम् ।	=	पोषिणाम् ।
(३) सुऽस्वानासः ।	=	सुष्वाणासः ।

इन उदाहरणों में ऋकार और षकार के परवर्ती नकार को णकार हो गया है ।

(३) नः पद वकार-युक्त पाद वाली ऋचाओं में मुर्धन्य हो जाता है।[2] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) ऊर्ध्वः । ऊँ इति । सु । नः	=	उर्ध्व उ षु णः ।
(२) गव्यः । सु । नः ।	=	गव्यो षु णः ।

यह पाद के वकार युक्त होने से णः हो गया है ।

नकार के मुर्धन्यभाव का अपवाद

य, व, मध्यवर्गीय वर्ण, ल, श, स एवं च के बाद आया हुआ न मूर्धन्य को प्राप्त नहीं करता ।[3] यथा;

(१) ह्रस्वेन । (२) शाक्वर लोमायनम् । (३) क्षितीनाम् ।

---

१. ऋषाभ्याम् । —ऋ०तं०, ५.६.८

तु० (क) ऋ०प्रा०, ५.४० (ख) वा०प्रा०, ३.८५

(ग) च०अ०, ३.७५ (घ) पा०सू०, ८.४.१

(१) ऋ०, १.१०६.३ (२) सा०वे०, १.५८

(३) सा०वे०, १.३१७

२. नो वः । ऋ०तं०, ५.६.६

तु० (क) ···परीति तैर्नः । —ऋ०प्रा०, ५.५८

(ख)···रक्षाणः पूषः···आयूंषि । —वा०प्रा०, ३.८७

(ग) नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः । —पा०सू०, ८.४.२७

(१) सा०वे०, १.५७ (२) सा०वे०, १.१८६

३. न मध्यमवर्गीयैर्व्यवेतं लशसैश्च । —ऋ०तं०. ५.६.१४

(१) सा०वे०, १.२६२ (२) सा०वे०, १.४७४

(३) सा०वे० १.६६

इसके अतिरिक्त अन्य उदाहरणों के स्थल निर्दिष्ट नहीं है ।

(४) दधसाधन । (५) राजानम् । (६) वृषलेन ।
(७) दर्शनीयेन । (८) विष्वक्सेनः । (९) प्रमोचनम् ।

सकार का मूर्धन्य-भाव

(१) ककार एवं रेफ के बाद विभक्ति का सकार मूर्धन्य हो जाता है ।[1] यथा;

(१) ऋक्सु = ऋक्षु = ऋक्षु ।
(२) वणिक्सु = वणिक्सु = वणिक्षु ।*

यहाँ ककार एवं रेफ के परवर्ती विभक्ति के सकार को मूर्धन्य हो गया है ।

(२) सामगान में उ और ग बाद में होने पर सकार मूर्धन्य हो गया है ।[2] यथा;

सुगायत = षू गा य ता = ३३३ = षू गा ३ या ३ ता ३

(३) अन्ताक्षर अर्थात् सन्ध्यक्षर के बाद आने वाला सकार मूर्धन्य हो जाता है ।[3] यथा;

(१) ब्राह्मणेसु = ब्राह्मणेषु । (२) एसु = एषु ।
(३) तेसु = तेषु ।

(४) उपसर्ग से परे सकार मूर्धन्य हो जाता है ।[4] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) सु । सुतः ।	=	सुषुतः ।
(२) अभि । सतः ।	=	अभीषतः ।

(५) रेफ, आकार और मकारयुक्त पद में तथा ण और सु युक्त पाद में भी सकार मूर्धन्य हो जाता है ।[5] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) अभिऽस्याम्	=	अभीष्याम् ।

---

१. क्राभ्यां सो वैभक्तः । —ऋ०तं०, ५.७.१

२. उगि । —ऋ०तं०, ५.७.२ (१) सा०वे०, १.२५५ (सामगान)

३. अन्ताक्षरात् । —ऋ०तं०, ५.७.३
तु० (क) इणकोः । आदेश प्रत्यययोः । पा०सू०, ८.३.५७, ५९

४. उपसर्गात् । —ऋ०तं०, ५.७.४
(१) सा०वे०-१.५६१ (२) सा०वे०-१.३०९

५. राम् ण सु । —ऋ०तं०-५.७.५ (१) सा०वे०-१.३३६

(६) उ के बाद प्रथम पाद में विद्यमान सकार मूर्धन्य हो जाता है।[1] यथा;

पदपाठ	संहितापाठ
(१) आ। इहि। ऊँ इति। सु।	= एह्युषु।
(२) मा। ऊँ इति। सु। त्वा।	= मोषुत्वा।
(३) कुऽस्थः	= कुष्ठः।

उपर्युक्त उदाहरणों में उ के बाद अवस्थित सकार प्रथम पाद में मूर्धन्य हो गए हैं।

(७) जगती छन्दस्क पाद में एकाक्षरीय पद के परे सकार मूर्धन्य हो जाता है।[2] यथा;

पदपाठ	संहितापाठ
(१) महान्। हि। सः।	= महाँ हि षः।
(२) शग्धि। ऊँ इति। सु।	= शग्ध्यू षु।

उपर्युक्त पद जगती छन्द के हैं अतः एक पाद में अवस्थित एकाक्षरीय पद हि तथा उ के परवर्ती सकार मूर्धन्य हो गये हैं।

(८) सन्धिज अन्तिम अक्षर से पर सकार मूर्धन्य हो जाता है।[3] यथा;

पदपाठ	संहितापाठ
(१) चतुःऽपात्।	= चतुष्पात्।
(२) ज्योतिः। कृणोति	= ज्योतिष्कृणोति।

यहाँ सर्वप्रथम विसर्जनीय को सकार, तदनन्तर मूर्धन्य भाव होकर पदों की सिद्धि हुई है।

---

१. उद आद्ये। —ऋ०तं०, ५.७.६
(१) सा०वे०,१.७ (२) सा०वे०-१.२८४ (३) सा०वे०, १.३०५

२. क्षाज्जागते। —ऋ०तं०, ५.७.७
(१) सा०वे०,१.३८१ (२) सा०वे०-१.२५३

३. सन्ध्यः। —ऋ०तं०, ५.७.८
तु० (क) सन्ध्य उष्माण्यनिङ्गये। —ऋ०प्रा०, ५.४१
(ख) इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य। —पा०सू०, ८.३.४१
(१) सा०वे० १.३६७, (२) सा०वे०, १.३०३

(९) पाद में दन्त्य स्पर्श परे रहते संयुक्त सकार मूर्धन्यभाव को प्राप्त होता है।[1] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) नकिः । तम् ।	=	नकिष्टम् ।
(२) योनिः । ते ।	=	योनिष्टे ।
(३) दुःऽतरम् ।	=	दुष्टरम् ।

यहाँ सर्वप्रथम 'ठ्यदन्त्ये परे' (ऋ०तं०-४.१.७) सूत्र से विसर्जनीय को सकार तदनन्तर प्रस्तुत सूत्र से सकार को मूर्धन्य और 'षाद्दन्त्यः' (ऋ०तं०-५.७.११) सूत्र से तकार को टकार हो गया है।

(१०) दो अक्षर वाले पद में अवस्थित संयुक्त सकार पकारस्थ पाद के परे रहने पर ही मूर्धन्य को प्राप्त करता है।[2] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
अग्निः । तपति ।	=	अग्निष्टपति ।

यहाँ सर्वप्रथम 'पि' (ऋ०तं०-४.१.६) सूत्र से विसर्ग को सकार और प्रस्तुत सूत्र से सकार को मूर्धन्य एवम् 'षाद्दन्त्यः' (ऋ०तं०, ५.७.११) सूत्र से तकार को टकार हो गया है।

अपवाद

ऊष्म वर्ण के वाद अवस्थित विसर्जनीय विकार को प्राप्त नहीं करता।[3] यथा;

क्षप्यः ।

दन्त्य का मूर्धन्यभाव

षकार के बाद विद्यमान दन्त्य मूर्धन्य हो जाता है।[4] यथा;

---

१. दन्त्ये स्पर्शे । —ऋ०तं०, ५.७.९ तु०—(क) ऋ०प्रा०, ५३३-३८ (ख) वा०प्रा०, ३.७४-७९ (ग) पा०सू०, ८.३.१०१, १०४
(१) सा०वे०, १.२४३ (२) सा०वे०, १.३१४ (३) सा०वे०, १.२९९

२. द्विवति परे । —ऋ०तं०, ५.७.१० (१) स्तोभ गान, १.५११

३. नोष्मपरे । —ऋ०तं०, ४.२.१
तु० (क) तै०प्रा०, ९.३ (ख) शर्प्परेविसर्जनीयः । —पा०सू०, ८.३.३५

४. षाद्दन्त्यः । ऋ०तं०, ५ ७.११ (१) सा०वे०, १.३०५

पदपाठ	संहितापाठ
कुऽस्थः ।	कुष्ठः ।

यहाँ सर्वप्रथम 'सन्ध्यः' (ऋ०तं०-५.७.८) सूत्र से सकार को मूर्धन्य, तदनन्तर ष के बाद अवस्थित थ को मूर्धन्य ठ हो गया है।

द्वित्त्व

दो वर्णों के मेल के फलस्वरूप एक वर्ण के स्थान पर द्विवर्ण हो जाना द्वित्त्व कहलाता है। ऋक्तन्त्र में द्वित्त्व-संबंधित अधोलिखित नियमों का प्रतिपादन किया गया है—

(१) स्वर बाद में हो तो पूर्ववर्ती पद का वर्ग का अन्तिम अक्षर द्वित्त्व को प्राप्त हो जाता है।[1] यथा;

पदपाठ संहितापाठ

(१) प्रत्यङ् । उदेषि । = प्रत्यङ्ङुदेषि ।

(२) अजगन् । अपः । = अजगन्नपः ।

उपर्युक्त पदों में स्वर परे होने के कारण वर्गीय अन्तिम अक्षर ङ् और न् को द्वित्त हो गया है।

(२) ह्रस्व स्वर के परे अवस्थित छ द्वित्त्व को प्राप्त होता है।[2] यथा;

(१) अहि छत्रा = अहिच्छत्रा । (२) सु छिन्नम् = सुच्छिन्नम् ।*

---

१. रेऽन्त्यो प्रतिषेधे । —ऋ०तं०, ५.५.१०

तु० (क) पादान्तीयो ह्रस्वपूर्वो ङ्कारो नकारश्च क्रामत उत्तरे स्वरे । —ऋ०प्रा०, ६.१५

(ख) संयुक्तं तु व्यञ्जनं शाकलेन । —ऋ०प्रा०, ६.१४

(ग) ह्रस्वपूर्वो ङकारो द्विवर्णन् । नकारश्च । —तै०प्रा०, ९.१८, १९

(घ) ङनौ चेद्ध्रस्वपूर्वौ स्वरेपदान्तौ । —वा०प्र०, ४.१०.६

(ङ) ङणनाह्रस्वोपधाः स्वरे । —च०अ०, ३.२७

(च) ङमो ह्रस्वादपि ङमुण्नित्यम् । —पा०सू०, ८.३.३२

(१) आ०सं०-५२ (२) सा०वे०-१.५३

२. छः । —ऋ०तं०-५.६.७

तु० (क) असंयोगादिरपिच्छकारः । —ऋ०प्रा०, ६ २

(ख) छे च । —पा०सू०, ६.१.७३

* उदाहरण लौकिक है।

उपर्युक्त स्थलों पर स्वर के बाद अवस्थित छकार को द्वित्व प्राप्त हुआ और छकार को चकार होकर उपर्युक्त पद निष्पन्न हुये हैं ।

(३) मा के बाद अवस्थित छकार द्वित्व को प्राप्त हो जाता है ।[1] यथा;

(१) मा छादयमानम् = माच्छादयमानम् ।

(२) मा छेदयमानम् = माच्छेदयमानम् ।

(३) मा छिन्नम् = माच्छिन्नम् ।

(४) मा छिदता = माच्छिदता ।

यहाँ मा के बाद विद्यमान छकार को द्वित्व और छकार को चकार होकर उपर्युक्त रूप निष्पन्न हुये हैं ।

विसर्जनीय का विकार

दो पदों की संहिता के फलस्वरूप जब पूर्ववर्ती विसर्जनीय परवर्ती वर्ण के प्रभाव से विकृत होकर अन्य वर्णों में परिवर्तित हो जाता है, तो उसे विसर्जनीय-विकार कहा जाता है । ऋक्तन्त्र के अनुसार विसर्जनीय रेफ, यकार, ओकार, सकार आदि विकारों को प्राप्त करता है; जिनका विवरण इस प्रकार है ।

विसर्जनीय का रेफभाव

(१) घोष वर्ण परे हो तो पूर्ववर्ती विसर्जनीय रेफ में परिवर्तित हो जाता है ।[2] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) निः ऽऋतीनाम् ।	=	निर्ऋतीनाम् ।
(२) उर्मिः । अपाम् ।	=	ऊर्मिरपाम् ।
(३) मनुष्येभिः । अग्निः	=	मनुष्येभिरग्निः ।

उपर्युक्त स्थलों पर बाद में ऋ और अ होने के कारण पूर्ववर्ती विसर्जनीय रेफ में परिवर्तित हो गया है ।

---

१. माभ्याम् । —ऋ०तं०, ५.६.३

तु० (क) सोष्मा तु पूर्वेण सहोच्यते सक्तृत्स्वेन । —ऋ०प्रा०, ६.२

(ख) आङ्माङोश्च । —पा०सू०, ६.१७५

२. रं विसर्जनीयो घोषे । —ऋ०तं०, ३.६.५

(१) सा०वे०, १.३९६ (२) सा०वे०, १.५८४ (३) सा०वे०, १.७९

(२) र जात विसर्जनीय ही रेफ को प्राप्त करता है।[1] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) जरितः । विश्पतिः ।	=	जरितर्विश्पतिः ।
(२) त्रातः । ऋतः ।	=	त्रातर्ऋतः ।
(३) प्रातः । अग्निः ।	=	प्रातरग्निः ।
(४) प्रातः । जुषस्व ।	=	प्रातर्जुषस्व ।

इन उदाहरणों में पूर्ववर्ती पद के तः का विसर्जनीय मूलतः र था, अतएव प्रस्तुत सूत्र से तः का विसर्जनीय रेफ को प्राप्त हो गया है।

विसर्जनीय का ओकारभाव

(१) यदि विसर्जनीय से पहले अकार हो तो वह ओ हो जाता है।[2] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) मन्दिष्ठः । वाजानाम् ।	=	मन्दिष्ठो वाजानाम् ।
(२) तरःऽभिः । वः । विदत् ।	=	तरोभिर्वो विदत् ।

(२) स्वर परे होने पर पूर्ववर्ती पद का विसर्जनीय ओ हो जाता है।[3] यथा;

---

१. र प्रकृतिः । ऋ०तं०, ३.६.६ तु०—(क) ऋ०प्रा०, १.७६-१०३
(ख) तै०प्रा०, ८.८.१५ (ग) वा०प्रा०, १.१६०-१६८
(१) सा०वे०, १.३९ (२) सा०वे०, १.४२
(३) सा०वे०, १.८५ (४) सा०वे०, १.२१०

२. ओम् अः । —ऋ०तं०, ३.६.८
तु०—(क) उर्द्ग्रहाणां पूर्वरुपाण्यकारे प्रकृत्या द्वे ओ भवत्येकमाद्यम् । —ऋ०पा०, २.३३
(ख) घोषवत्परश्च । —तै०प्रा०, ९.८
(ग) सर्वो अःकार ओकारम् । —वा०प्रा०, ४.४.१
(घ) घोषवति च । —च०अ०, २.५४
(ङ) दृशि च । —पा०सू, ६.१.११४
(१) सा०वे०, १.२२६ (२) सा०वे०, १.२३७

३. रे । —ऋ०तं०, ३.६.९
तु०—(क) ओकारो संहिता कारः व्यञ्जनपरः । —तै०प्रा०, ४.६
(ख) अकारे च । —वा०प्रा०, ४.४२
(ग) अतोरोरप्लुदादप्लुते । —पा०सू०, ६.१.११३
(१) सा०वे०, १.४६१ (२) सा०वे०, १.२६५ (३) सा०वे० १.५

पदपाठ		संहितापाठ
(१) पुरः । अग्निम् ।	=	पुरोअग्निम् ।
(२) द्विषः । अंहः ।	=	द्विषो अंहः ।
(३) कः । अद्य ।	=	को अद्य ।

स्वर परे रहते पूर्ववर्ती विसर्जनीय ओ हो गया है।

(३) षकार परे हो तो तः का विसर्जनीय ओ हो जाता है।[1] यथा;

(१) परीतः षिञ्चता = परीतोषिञ्चता ।

(४) 'अहःरात्रिः' और 'स्वः रुहाणाः' में अहः तथा स्वः का विसर्जनीय ओ हो जाता है।[2] यथा;

(१) अहः रात्रिः = अहोरात्रिः ।
(२) स्वः रुहाणाः = स्वो रुहाणाः ।*
(३) ऊधः वा अन्तरिक्षम् = ऊधर्वा अन्तरिक्षम् ।

उपर्युक्त उदाहरणों में विसर्जनीय को विकल्प से यकार तथा रेफ प्राप्त होता है। यकार का 'य' (ऋ०तं०, ४.१.९) सूत्र से लोप होने पर, विसर्गविहीन रप विसर्जनीय का रेफ होने पर रकार-युक्त हुए हैं।

विसर्जनीय का यकारभाव

(१) असमान वर्ण परे हो तो पूर्ववर्ती विसर्जनीय यकार को प्राप्त हो जाता है।[3] यथा;

---

१. तो षि । —ऋ०तं०, ३.७.१
(१) सा०वे०, १.५१२
२. हो-रा-स्वो-रु । —ऋ०तं०, ३.७.२
तु० (क) रो सुपि । —पा०सू०, ८ २.६९
(ख) रुपरात्रिरथन्तरेषु रुत्वं वाच्यम् ।
—पा०सू० ८.२.६९ पर वार्त्तिक ।
* उदाहरण लौकिक है।
३. अस्थाद् यम् । —ऋ०तं०, ३.६.७
तु० (क) अथ स्वरपरो यकारम् । —तै०प्रा०, ९.१०
(ख) कण्ठ्पूर्वी यकारमरिपितः । —वा०प्रा०, ४.३६
(ग) स्वरे यकारम् । —च०अ०, २.४१
(१) सा०वे०, १.५६ (२) सा०वे०, १-७५ (३) सा०वे०, १.३७०

पदपाठ		संहितापाठ
(१) देवाः । यज्ञम्	=	देवा यज्ञम् ।
(२) विश्वाः । हि ।	=	विश्वा हि ।
(३) पृतनाः । अभिऽभूतरम्	=	पृतना अभिभूतरम् ।

उपर्युक्त स्थलों पर प्रस्तुत सूत्र से विसर्जनीय को यकार हुआ, तदनन्तर 'यः' (ऋ०तं०-४.३.८) सूत्र से यकार का लोप होकर उपर्युक्त रूप निष्पन्न हुआ है।

विसर्जनीय का यकार या रेफ भाव

(१) 'भुवः', 'अम्नः', 'ऊधः', और 'अवः' का विसर्जनीय यकार अथवा रेफ को विकल्प से प्राप्त हो जाता है।[1] यथा;

(१) भुवः इति । = भुव इति = भुवरिति ।
(२) अम्नः इति = अम्न इति, अम्नरिति ।
(३) उधः इति = ऊध इति, ऊधरिति ।
(४) अवः इति = अव इति, अवरिति ।
(५) भुवः इति दक्षिणाग्निम् = भुवरिति दक्षिणाग्निम् ।
(६) ऊधः वा अन्तरिक्षम् = ऊधर्वा अन्तरिक्षम् ।*

उपर्युक्त उदाहरणों में विसर्जनीय को विकल्प से यकार तथा रेफ प्राप्त होता है। यकार का 'यः' (ऋ०तं०-४.१.६) सूत्र से लोप होने पर, विसर्ग-विहीन रप विसर्जनीय का रेफ होने पर रकार-युक्त हुए हैं।

विसर्जनीय का सकारभाव

(१) समस्त पद में कृ और कम् धातु से निष्पन्न पद बाद में रहने पर पूर्व पद के विसर्जनीय को सकार हो जाता है[2]। यथा;

(१) श्रेयः-कार = क्षेयस्कारः । (२) तेजः-कारः = तेजस्कारः ।

---

१. उभयथाभुवोम्न ऊधरवः । —ऋ०तं०, ३.७.४

तु० (क) अवर्महः । अनर्धर्चान्तेस्वरघोषवत्परमूधः ।—ऋ०प्रा, १.६६,६७

(ख) ऊधोऽम्नोभुवसाम् । —च०अ०, २.५२

(ग) अम्नरुधरवरित्युभयथा छन्दसि । भुवश्च महाव्याहृतेः । —पा०सू०, ८.२.७०, ७१

* उदाहरण लौकिक है ।

२. यश्चातिशये । —ऋ०तं०, ३.७.६

(३) यशः-कारः = यशस्कारः । (४) श्रेयसः-कामः = श्रेयस्कामः ।*

(२) कृ धातुज रूप परे रहते यः का विसर्जनीय सकार हो जाता है, यदि पद से अतिशय का बोध हो[1] । यथा;

(१) अयः कारायते = अयस्कारायते ।

(२) पापीयः कारायते = पापीयस्कारायते ।**

(३) ककार, मकार, वकार और यकार जिनके आदि में हो उन पदों के परे रहते विसर्जनीय को सकार हो जाता है।[2] यथा;

(१) अजः कम् = अजस्कम् । (२) पयःकम् = पयस्कम् ।
(३) यशःकम् = यशस्कम् । (४) तेजःकम् = तेजस्कम् ।
(५) आयुःमत् = आयुष्मत् । (६) सर्पिःमत् = सर्पिष्मत् ।
(७) ज्योतिःमत् = ज्योतिष्मत् । (८) ऊर्जःवती = ऊर्जस्वती ।
(९) पयःवती = पयस्वती । (१०) रजःवला = रजस्वला ।
(११) चतुरःया = चतुरस्या । (१२) शिरःया = शिरस्या ।
(१३) पयःया = पयस्या । (१४) यशः या = यशस्या ।***

(४) कौतस्कुतादि गुण में पठित शब्दों का विसर्जनीय सकार हो जाता है[3] । यथा;

(१) कौतःकुतः = कौतस्कुतः । (२) कः कः = कस्कः ।
(३) शिरःपदम् = शिरस्पदम् । (४) अधःपदम् = अधस्पदम् ।
(५) अयःपात्रम् = अयस्पात्रम् । (६) पयःकामः = पयस्कामः ।
(७) अयःपिण्डः = अयस्पिण्डः ।

---

* उदाहरण लौकिक है ।

१. सप्रकृतिर्मासे संस्कृकमोः । —ऋ०तं०, ३.७.५
तु० (क)···नीललोहितश्रेयस्कर···। —वा०प्रा०, २.२०
(ख) कखपकारपरः षमकारपूर्वः समवग्रहः । —तै०प्रा०, ८.२३
(ग) अतः कृकमिकसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य ।—पा०सू०, ८.३.४६

** उदाहरण लौकिक है ।

२. अङ्गे च क्म्व्यादौ । —ऋ०तं०, ३.७.७

*** उदाहरण लौकिक है ।

३. कौतस्कुतादीनाम् । —ऋ०तं०, ३.७.८
तु०, अधः शिरसी पदे। कस्कादिषु च। छन्दसि वा आम्रेडितयोः। षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्टपारपदपयस्पोषेषु ।
—पा०सू०, ८.३ ४७, ४८, ४९, ५३

(८) पुत्रादिन्याःपुत्रः=पुत्रादिन्यास्पुत्रः ।*

ये शब्द कौतस्कुतादि गण में पठित हैं, अतः इनके विसर्जनीय सकार हो गये हैं ।

(५) 'पर्व' अर्थ में 'सद्यःकाला' का विसर्जनीय सकार हो जाता है[1] । यथा;

(१) सद्यस्काला पौर्णमासी । (२) सद्यस्कालामावस्या ।**

पौर्णमासी और अमावस्या पर्व का सूचक होने के कारण सद्यस्काला पद में विसर्जनीय सकार हो गया है । पर्व से अन्य अर्थ में 'सद्यःकाला' ही होता है ।

(६) सामर्थ्यसूचक पद में विसर्जनीय के बाद यदि अघोषवर्ण हो तथा पहले नामिन (इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ तथा औ) वर्ण हों तो विसर्जनीय सकार हो जाता है[3] । यथा;

(१) यजः कुण्डम्=यजुष्कुण्डम् ।

(२) ज्योतिःकुण्डम्=ज्योतिष्कुण्डम् ।

(३) शोचिःकेशम्=शौचिष्केशम् ।***

इन उदाहरणों में विसर्जनीय से पूर्व उ, उ-ये नामिन् वर्ण हैं, तथा बाद में अघोष वर्ण क है । अतएव विसर्जनीय को सकार हो गया है । तदनन्तर 'सन्ध्यः' (ऋ० तं०-५.७.८) सूत्र से मूर्धन्य आदेश होने पर उपर्युक्त पद निष्पन्न हुए हैं ।

(७) नामिन् से परे विसर्जनीय को अघोष वर्ण परे रहते सकार हो जाता है[3] । यथा;

(१) ज्योतिःकुण्डम्=ज्योतिष्कुण्डम् ।****

इसमें दोनों पदों का विग्रह प्राप्त है । अतः विसर्जनीय को सकार, तदनन्तर पूर्वोक्त सूत्र से मूर्धन्य आदेश हो गया है ।

---

* उदाहरण लौकिक है ।

१. पर्वणि सद्यस्काला । —ऋ०तं०, ३.७.६

** उदाहरण लौकिक है ।

२. नामिनोऽघोषे सामर्थ्ये । —ऋ०तं०, ३.७.१०

*** स्थल निर्दिष्ट नहीं है ।

३. विग्रहे च । —ऋ०तं०, ३.८.२

तु० इसुसोः सामर्थ्ये । —पा०सू०, ८.३.४४

***** स्थल निर्दिष्ट नहीं है ।

(८) निः का विसर्जनीय अघोष वर्ण परे होने पर सकार हो जाता है[1]। यथा;

(१) निःकृतम्=निष्कृतम्। (२) निःस्वादितम्=निष्वादितम्।
(३) निःपीतम्=निष्पीतम्।*

इन उदाहरणों में 'निः' के बाद अघोष वर्ण होने के कारण विसर्जनीय को सकार हो गया है, और सकार को 'सन्ध्य' (ऋ० तं०-५.७.८) सूत्र से मूर्धन्य आदेश।

(९) अघोष वर्ण परे हो तो दुः का विसर्जनीय सकार हो जाता है[2]। यथा;

(१) दुःकृतम्=दुष्कृतम्। (२) दुः पीतम्=दुष्पीतम्।**

इन दोनों स्थलों पर क और ६ अघोष वर्णों के परे होने के कारण दुः का विसर्जनीय स हो गया है, तथा उसको पूर्वोक्त सूत्र से मूर्धन्य आदेश।

अपवाद

(१) दुःख सूचक 'दुः' के बाद ख होने पर विसर्जनीय सकार को नहीं प्राप्त होता है[3]। यथा;

(१) दुःखा बुभुक्षा। (२) दुःखा पिपासा। (३) दुःखो रथः।***

उपर्युक्त उदाहरणों में बुभुक्षा, पिपासा, रथः के कष्ट-दायक होने के कारण विसर्जनीय को सकार नहीं हुआ है।

---

१. निः। —ऋ०तं, ३.८.३

तु० (क) आविर्निरिङः शश्वतो पसोदेवरिषों हसो तिदिवोविश्वतो श्मनस्तमसः। —तै०प्रा०, ३.२४

(ख) ककारपकारयोः सकारम्। भाव्युपधः षकारम्। —वा०प्रा०, ३.२१, २२

(ग) निर्दुराविर्हविरसमासे। —च०अ०, २.६३

(घ) इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य। —पा०सू०, ८.३.४१

* उदाहरण लौकिक है।

२. दुः। —ऋ०तं०, ३.८.४

तु०, निर्दुराविहविरसमासेऽपि। —च०अ०, २.६३

** उदाहरण लौकिक है।

३. असुखे खे। —ऋ०तं०, ३.८.५

*** उदाहरण लौकिक है।

(२) दुः के बाद पाप-अर्थ का सूचक ख्याति पद हो तो विसर्जनीय सकार-भाव को प्राप्त नहीं करता ।[1] यथा;

(१) दुःख्यातिश्चायं वैधतेयः ।*

यहाँ वैधतेयः की ख्याति पाप कर्म में है । अतः सकार-भाव का निषेध हो गया है ।

(१०) अघोष वर्ण परे रहते द्विः का विसर्जनीय सकार हो जाता है[2] । यथा;

(१) द्विःकृतम् = द्विष्कृतम् । (२) द्विःखातम् = द्विष्खातम् ।
(३) द्विःपीतम् = द्विष्पीतम् । (४) द्विःपाटितम् = द्विष्पाटितम् ।**

इन उदाहरणों में अघोष वर्ण परे होने के कारण द्विः का विसर्जनीय सकार होकर पूर्वोक्त नियम से मूर्धन्य हो गया है ।

(११) त्रिः का विसर्जनीय अघोषवर्ण बाद में होने पर सकारभाव को प्राप्त कर लेता है[3] । यथा;

(१) त्रिःखातम् = त्रिष्खातम् । त्रिःकृतम् = त्रिष्कृतम् ।
(३) त्रिःपीतम् = त्रिष्पीतम् । (४) त्रिःपाटितम् = त्रिष्पाटितम् ।***

यहाँ ख, क, प परे रहते विसर्जनीय सकार होकर पूर्वोक्त सूत्र से मूर्धन्य हो गया है ।

(१२) अघोष वर्ण परे हो तो चतुः का विसर्जनीय सकार हो जाता है[4] यथा;

(१) चतुःकृतम् = चतुष्कृतम् । (२) चतुःखातम् = चतुष्खातम् ।

---

१. ख्यातौ च । —ऋ०तं०, ३.८.६

* उदाहरण लौकिक है ।

२. द्विः । ऋ०तं०, ३.७.८.

तु० द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोऽर्थे । —पा०सू०, ८.३.४३

** उदाहरण लौकिक है ।

३. त्रिः । —ऋ०तं०, ३.८.८

तु० (क) त्रिः । —च०अ०, २.६४

(ख) पा० सू०, ८.२,४३

*** उदाहरण लौकिक है ।

४. चतुः । —ऋ०तं०, ३.८.९

तु० पा०सू०, ८.३.४३

(३) चतु:पीतम् = चतुष्पीतम् ।

(४) चतु:पाटितम् = चतुष्पाटितम् ।*

(१३) 'वहिः' का विसर्जनीय अघोष वर्ण बाद में होने पर सकार को प्राप्त हो जाता है[1]। यथा;

(१) बहिः कृतम् = बहिष्कृतम् (२) वहिःखातम् = वहिष्खातम् ।

(३) बहिःपीतम् = बहिष्प्रीतम् ।

(४) बहिःपाटितम् = बहिष्पाटितम् ।**

उपर्युक्त परिस्थितियों के विद्यमान होने पर इन रूपों की सिद्धि हुई है।

(१४) कृ धातु से निष्पन्न पद बाद में रहने पर 'आविः' आदि पदों का विसर्जनीय सकार हो जाता है[2]। यथा;

(१) आविः कृतम् = आविष्कृतम् । (२) प्रादुः कृतम् = प्रादुष्कृतम् ।

(३) तिरः कृतम् = तिरस्कृतम् । (४) नमः कृतम्—नमस्कृतम् ।***

कृ धातुज रूप परे होने के कारण विसर्जनीय सकार हो गया है, तदनन्तर मुर्धन्यादेश पूर्ववत् हुआ है।

(१५) कृ धातुज पद बाद में हो तो, पुरः' का विसर्जनीय सकार हो जाता है[3]। यथा;

---

* उदाहरण लौकिक है।

१. बहिः। —ऋ०तं०, ३.८.१०

तु० इदुदुपधस्य चापत्ययस्य। —पा०सू०, ८.३.४१

** उदाहरण लौकिक है।

२. आविरादीना करोतौ। —ऋ०तं०, ४.१.१

तु०(क) आविर्हविर्ज्योतिरित्युत्तरश्चेत्काकारः। —ऋ०प्रा०, ४.४७

(ख) तै०प्रा०, ८.२४

(ग) नमस्करो परः। —तै०प्रा०, ८.३०

(घ) वा०प्रा०, ३.२३

(ङ) निर्दुराविर्हविरसमासे पि। —च०अ०, ३.६३

(च) नमस्पुरसोगत्योः। —पा०सू०, ८.४.४०

*** उदाहरण लौकिक है।

३. पुरः। —ऋ०तं०, १.१.२

तु० (क) पूर्वःपुरःपूरिति···। —ऋ०प्रा०, ४.५०

(ख) पा०सू०, ८.३.४०

(१) पुरःकृतो ब्राह्मणः = पुरस्कृतो ब्राह्मणः ।
(२) पुरःकृतः रथः = पुरस्कृतो रथः ।
(३) पुरःकृता कन्या = पुरस्कृता कन्या ।*

(१६) पाद क मध्य में विद्यमान विसर्जनीय का कृ धातुज रूप परे रहते सकार हो जाता है ।[1] यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) औषधीः । कृधि ।	=	औषधीष्कृधि ।
(२) अथ । नः । वस्यसः । कृधि ।	=	अथा नो वस्यसस्कृधि ।
(३) सा । रान्ताता । मयः । करत् । अप	=	साशन्ताता मयस्करदप ।
(४) प्र । तवसः । कृतानि ।	=	प्र तवसस्कृतानि ।
(५) ज्योतिः । कृणोति ।	=	ज्योतिष्कृणोति ।

उपर्युक्त स्थलों पर पाद के मध्य में अवस्थित विसर्जनीय कृ धातुज पद बाद में होने के कारण सकार हो गया है । सकार का मूर्धन्य भाव पूर्ववत् हुआ है ।

(१७) इ अथवा व युक्त ऋचाओं में विसर्जनीय के बाद ऋकारपरक अघोष वर्ण हो तो विसर्जनीय सकार हो जाता है[2] । यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
(१) ज्योतिः । कृणोति ।	=	ज्योतिष्कृणोति ।
(२) परिः । कृण्वन् ।	=	परिष्कृण्वन् ।

यहाँ विसर्जनीय के बाद ऋ परक अघोष वर्ण होने के कारण विसर्जनीय को सकार होने के अनन्तर मूर्धन्य भाव की प्राप्ति पूर्ववत् हुई है ।

(१८) पादोपान्त में यदि रेफ हो तो पूर्ववर्ती पद का विसर्जनीय सकार को प्राप्त हो जाता है ।[3] यथा;

---

* उदाहरण लौकिक है ।

१. अडि । —ऋ०तं०, ४.१.३
तु०—(क) ऋ०प्रा०, ४.४३ (ख) च०अ०, २.६५ (ग) पा०सू०; ८.३.५०
(१) सा०वे०, १.१४२ (२) सा०वे०, २.३९८ (३) सा०वे०, १.१०२
(४) सा०वे०, १.७८ (५) सा०वे०, १.३०३

२. इवऋ । —ऋ०तं०, ४.१.४
(१) सा०वे०, १.३०३ (२) सा०वे०, २.२४९

३. रि खिडि । —ऋ०तं०, ४..१५
तु०, करं कृतं कृधि करत्करित्यपि परेषु । —ऋ०प्रा०, ४.४३
(१) सा०वे०, १.१०२

पदपाठ		संहितापाठ
मयः । करत् ।	=	मयस्करत्

यहाँ पादोपान्त में रकार है। अतएव विसर्जनीय सकार हो गया है।

(१९) रेफ पर, पकारयुक्त पादोपान्तीय पद परे रहते विसर्जनीय सकार-भाव को प्राप्त हो जाता है।[1] यथा;

	पदपाठ		संहितापाठ
(१)	श्रृणुहि । विश्वतः । परि ।	=	श्रृणुहि विश्वतस्परि ।
(२)	दिवः । अन्तेभ्यः । परि ।	=	दिवो अन्तेभ्यस्परि ।
(३)	दिवः । सदःऽभ्यः । परि ।	=	दिवो सदोभ्यस्परि ।
(४)	देवः । देवेभ्यः । परि ।	=	देवो देवेभ्यस्परि ।
(५)	च्यावय । सदः । परि ।	=	च्यावया सदस्परि ।

उपर्युक्त सभी स्थलों पर पादोपान्त में रेफपरक पकार होने के कारण पूर्ववर्ती विसर्जनीय सकार हो गया है।

(२०) कण्ठ्य या दन्त्य अक्षर जिसके बाद में है, ऐसे पकार के परे रहते पूर्ववर्ती विसर्जनीय सकार को प्राप्त हो जाता है[2]। यथा;

---

१. पि। —ऋ०तं०, ४.१.६

तु० (क) पादान्तगते परीति च। —ऋ०प्रा०, ४.४४

(ख) परावसान। —वा०प्रा०, ३.३१

(ग) दिव सहसस्परिपुत्परः। —तै०प्रा०, ८.२८

(घ) ततस्परौ ब्रह्मपरे। पञ्चम्याश्चाङ्भ्यः पयादिवर्जम्। —च०अ०, २.६६, ६७

(ङ) पञ्चम्याः परावध्यर्थे। —पा०सू०, ८.३.५१

(१) सा०वे०, १.९५ (२) सा०वे०, १.३६७ (३) सा०वे०, १.३१२ (४) सा०वे०, २.१०९ (५) सा०वे०, १.२९८

२. ठ्यदन्त्यपरे। —ऋ०तं०, ४.१.७

तु० (क) अन्तःपादं विग्रहेऽकारपूर्वः पति शब्देद्वयक्षरे पुंस्प्रवादे। —ऋ०प्रा०, ४.४२

(ख) पत्नीवेन्नतीपतेन्नतयेपतिष्पतिपरः। —तै०प्रा०, ८.२७

(ग) यः पतौ गवानस्याः परवर्नम्। इडायास्पदे। —च०अ०, २.७०, ७२

(घ) षष्ठयाः पतिपुत्रपृष्टपारपदपद्यपयस्पोषेषु। —पा०सू०, ८.३.५३

पदपाठ		संहितापाठ
(१) ब्रह्मणः । पते ।	=	ब्रह्मणस्पते ।
(२) इषः । पते ।	=	इषस्पते ।
(३) इडः । पते ।	=	इडस्पते ।
(४) शवसः । पतिः ।	=	शवसस्पति ।
(५) मित्राः । पान्ति ।	=	मित्रास्पान्ति ।

यहाँ पकार के बाद दन्त्य अक्षर होने के कारण विसर्जनीय को सकार हो गया है।

(२१) तृतीय पाद में विसर्जनीय के बाद दीर्घ अक्षर हो तो विसर्जनीय सकार हो जाता है[1]। यथा;

पदपाठ		संहितापाठ
मित्राः । पान्ति ।	=	मित्रास्पान्ति ।

यह उदाहरण तृतीय पाद में आया है तथा दीर्घ अक्षर के बाद होने के कारण विसर्जनीय सकार हो गया है।

(२२) पकार बाद में हो तो पूर्ववर्ती यः का विसर्जनीय सकार हो जाता है[2]। यथा;

---

(१) सा०वे०, १.३९, ४८, (२) सा०वे०, १.५७९
(३) सा०वे०, १.६३ (४) सा०वे०, १.२४८
(५) सा०वे०, १.२०९

१. घेणः । —ऋ०तं०, ४.१.८
तु०, अघो पान्तपश्यन्ति शब्दौ । —ऋ०प्रा०, ४.४८
(१) सा०वे०, १.२०६

२. यः । —ऋ०तं०, ४.१.९
तु० (क) कामपोष पूर्धि शब्देषु रायः । —ऋ०प्रा०, ४.५५
(ख) रायस्पोपरः । —तै०प्रा०, ८.२९
(ग) रायः सहसः पोषपुत्रयोः । —वा०प्रा०, ३.२५
(घ) रायस्पोषाढिषु च । —च०अ०, २.८०
(ङ) पा०सू०, ८.३.५३
(१) ऋ०, १.१२५.१ (२) सा०वे०, १.३४६

पदपाठ		संहितापाठ
(१) रायः । पोषेण ।	=	रायस्पोषेण ।
(२) रायः । पूर्धि ।	=	रायस्पूर्धि ।

उपरि-वर्णित सभी विकारों के पर्यालोचन से ज्ञात होता है कि ऋक्तन्त्र के विकारों की अपनी विशिष्ट विशेषता है। इसमें वर्णित अनेक विकार ऐसे हैं, जिनका सम्बन्ध केवल सामगान और सामवेद से ही है। कतिपय विकारों के तुलनात्मक स्थल प्रातिशाख्यों में भी प्राप्त होते हैं। कुछ विकार ऐसे हैं, जिनकी तुलना पाणिनि से ही की जा सकती है। विकारों के विवेचन के प्रसङ्ग में ऋक्तन्त्र में तत्कालीन भाषा के उदाहरणों को भी स्थान दिया गया है।

परिशिष्ट

प्रथम परिशिष्ट

ऋक्तन्त्र के सूत्रों का टिप्पणी सहित अनुवाद

अथ ऋक्तन्त्रम्

ओं नमः श्रीसामवेदाय ।

प्रथम प्रपाठक प्रारम्भ

अथ वाचो वृत्तिं व्याख्यास्यामः । वायुं प्रकृतिमाचार्याः ।* वायुर्मूर्छञ्छ्वासीभवति । श्वासो नाद इति शाकटायनः । वायुरयमस्मिन् काये मूर्छत्यटतीत्येषो थः । स खलु खविशेषं प्रतिपन्नः कण्ठं प्रतिपन्नः श्वसितिर्भवति । सश्वसितिः शिरः प्रतिपन्न आकाशमद्वारकं नदतिर्भवति । तस्येदानी तदतेर्जिह्वाग्रेणेर्यमाणस्य व्यक्तयः प्रादुर्भवन्ति वर्णानामोष्ठयाः कण्ठ्यास्तालव्या मूर्धन्या दन्त्या नासिक्या जिह्वामूलीया इति । तद्यथा ऋपुकारस्त्रपु विलाप्य विंवे निषिज्वेद्यं यं बिम्बदेशं तत्त्रपु ।

अब वाणी की निष्पत्ति का व्याख्यान प्रारम्भ किया जाएगा । वायु ध्वनि-निष्पत्ति का मूल है—ऐसा आचार्यों का मत है ।** वायु मूर्च्छित होकर श्वास

---

* अपने शिष्यों को परम्परागत उपदेश, सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों का दशन और बौद्धिक शक्ति को विकसित करने के कारण आचार्य का अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण स्थान है । आचार्य के मानदण्ड सर्वत्र समान नहीं हैं ।—

(क) आचार्य आचारं ग्राहयति, आचिनोति अर्थान्, आचिनोति बुद्धिं वा ।
—नि० १.४

त० ऋ०प्रा०वि०व०, ८

आचार्याचारात् संज्ञासिद्धिः । आचार्याचारात् संज्ञासिद्धिः भविष्यति ।
—म०भा०, १.१.३ मनु स्मृति, १२.११.१३ इत्यादि ।

** विवृत्त अवस्था में निः सृत वायु को श्वास कहा जाता है। इस अवस्था में अघोष ध्वनियों का उच्चारण होता है।

(क) ऋ०प्रा०, १३.१.४ (ख) तै०प्रा०, २.५.१०

(ग) च०अ०, १.१२

हो जाती है। श्वास नाद हो जाती है—यह शाकटायन का मत है। वायु इस शरीर में परिभ्रमण करती है--इसका यह आशय है। यह (वायु) मुख और कण्ठ से संयुक्त होकर श्वास हो जाती है। यह श्वास शिर से संयुक्त आकाशमान् कण्ठ विवर में अवरुद्ध होकर नाद हो जाती है। यह नाद जिह्वाग्र से विभिन्न उच्चारण स्थलों पर अवरुद्ध होती हुई ओष्ठ्य, कण्ठ्य, तालव्य, मूर्धन्य दन्तय, नासिक्य, जिह्वामूलीय वर्णों को प्रादुर्भूत करती है। जिस प्रकार त्रपुकार द्रवित रांगा को काञ्चनमणिनिषिच्यते ततस्ततो द्रव्याणां व्यक्तिर्भवति काञ्चिमणिके रुचकः स्वस्तिक इत्येवं यं यमयं खविशेषं जिह्वाग्रेण स्पृशति ततस्ततो वर्णानां व्यक्तिर्भवत्योष्ठयानां कण्ठयानां तालव्यानां मूर्धन्यानां दन्त्यानां नासिक्यानां जिह्वामूलीयानामिति। एवमुत्पन्नानां वर्णानामुपदेशोद्देशाः। उद्देशे संज्ञाकरणम्। उपदेशे प्रत्याहारः सिद्धस्तद्यथाध्वर्योरपदेशं वक्ष्यामः। अथ वर्णाः* संज्ञाप्रत्याहारसमताः।

अ इति आ इति इ इति ई इति उ इति ऊ इति ऋ इति ॠ इति ऌ इति ॡ इति समानानि। ए इति ऐ इति ओ इति औ इति सन्ध्यक्षराणि। आयाहीवोयीनाम् (१.१) गतिरन्त इति स्वराः। अथ व्यञ्जनानि। किति खिति गिति घिति ङिति कवर्गः। चिति छिति जिति झिति जिति चवर्गः। टिति ठिति डिति ढिति णिति टवर्गः। तिति थिति दिति धिति निति तवर्गः। पिति फिति बिति भिति मिति पवर्गः। इति स्पर्शाः अथान्तस्थाः। यिति रिति लिति वित्यन्तस्थाः। अथोष्माणो हिति शिति षिति सिति योगवाहाः। अथायोगवाहाः। अः इति विर्सजनीयः। क इति जिह्वामूलीयः। प इत्युपध्मानीयः। हुमित्यनुनासिकः। अध यमाः। कुँ इति खुँ इति गुँ इति घुमिति यमाः। अनन्त्यान्त्यसंयोगे मध्ये यमः पूर्वगुणः। अथानुखारौ। अं आं इत्यनुस्वारौ।

रुचक, स्वस्तिक आदि आभूषणों के बिम्व (गड्ढा) में उसका आधान करता है। उसी-उसी में उसकी अभिव्यक्ति होती है। उसी प्रकार यह कण्ठविवर जिस-जिस स्थान विशेष पर जिह्वाग्र से स्पर्श किया जाता है तदनुरुप ओष्ठ्य, कण्ठ्य तालव्य, मूर्धन्य, दन्त्य, नासिक्य जिह्वामूलीय वर्णों की अभिव्यक्ति होती

---

* इस अवस्था में कण्ठ द्वार बन्द सा रहता है और वायु घर्षण करती हुई निकलती है। स्वर और अघोष वर्णों का उच्चारण 'नाद' अवस्था में ही किया जाता है—

(क) ऋ०प्रा०, १३.१.४ (ख) तै०प्रा०, २.४.८

(ग) च०अ०, १.१३

है। इस प्रकार उद्भूत वर्णों को उपदेश और उद्देश इन दो भागों में विभक्त किया जाता है। उद्देश संज्ञाकरण और उपदेश से प्रत्याहार की सिद्धि होती है। उसे अध्वर्यु को उपदेश दिया जाएगा। अब वर्णों का संज्ञा और प्रत्याहार पूर्वक विवेचन किया जा रहा है।

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ एवं ॡ समानाक्षर हैं। ए, ऐ, ओ, औ सन्ध्यक्षर हैं। 'आयाहीवोयीनाम् पदों में सामगान की गति में अन्त होने वाले भी स्वर हैं। अब व्यञ्जन आते हैं। क, ख, ग, घ, ङ, कवर्ग। च, छ, ज, झ, ञ चवर्ग। ट, ठ, ड, ढ, ण टवर्ग। त, थ, द, ध, न तवर्ग। प, फ, ब, भ, म पवर्ग -- ये स्पर्श कहे जाते हैं। अब अन्तस्था आते हैं। य, र, ल, व अन्तस्था है। इसके बाद ऊष्म वर्ण आते हैं। ह, श, ष, स ऊष्म है। उपर्युक्त सभी वर्णों को योगवाह कहा जाता है। अब अयोगवाह आते हैं। अः विर्सजनीय है। क जिह्वामूलीय है। प उपध्मानीय है। डं अनुनासिक है। अब यम आते हैं। कुं, खुं, गुं, घुं यम हैं। अनुत्तमस्पर्श (वर्ग के प्रथम चतुर्थ वर्ण) तथा उत्तम स्पर्श (वर्ग का पञ्चम वर्ण) का संयोग होने पर मध्य में पूर्ववर्ती स्पर्श गुण से युक्त यम का आगम होता है। इसके बाद अनुस्वार आते हैं। अं आं अनुस्वार हैं।

ह्रस्वाद्दीर्घो दीर्घाद्ध्रस्वः। वर्ण इति पूर्वः कारादाख्यायाम्*। व्यञ्जन-मकार-पूर्वात्। रिति रेफात्। स्पृष्टं करणं स्पर्शानाम्। दुस्पृष्टमन्तस्थानाम्। विवृतं स्वरोषाणाम्। विवृततरमकारैकारौकाराणाम्। संवृतो घोषवान्। विवृतो घोषो नादानुप्रदानाः स्वरघोषवन्तः। श्वासो-घोषाणाम्। तनीयान्** प्रथमानामुभौ ह चतुर्थानां*** संनिवेशो न्यः। प्रत्याहारार्थो वर्णो नुबन्धो व्यञ्जनं यावतिथस्तावतां तदादीनां ततः पराणाम्॥ ३॥

---

* कार शब्द का प्रयोग अ आदि वर्ण विशेषों के साथ प्रयुक्त होकर उस वर्ग-विशेष का बोधक होता है। जैसे अकार, ककार, टकार, हकार आदि। यह प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से होता चला आ रहा है।

(क) तेभ्यो भितप्तेभ्यस्त्रयोवर्णा अजायन्त अकार उकारो मकार इति।
—ऐ०ब्रा०, २५.७

(ख) ऋ०प्रा०, १.३८, ४१ तै०प्रा०, १.१६ वा०प्रा०, १.३७, ३८ च०अ०, १.४, ३४, ३६

(ग) पा०सू०, ३.३.१०८ परवार्तिक हेम० ७.२.१५६ इत्यादि

** तु० तै०प्रा० २.१०.११

*** तु० ऋ०प्रा०, १३.२, ६, तै०प्रा०, २.४, ६, च०अ०-१.१३

पद में ह्रस्व से परे दीर्घ और दीर्घ से परे ह्रस्व वर्ण होते हैं। पूर्ववर्ती वर्णों की आख्या कार से भी होती है। अकार सहित व्यञ्जन वर्ण होते हैं। र रेफ से सम्बोधित किया जाता है। स्पर्श वर्णों का उच्चारण प्रयत्न स्पृष्ट, अन्तस्थों का दुःस्पृष्ट, स्वर एवं ऊष्म का विवृत, अकार, ऐकार और औकार का विवृततर प्रयत्न होता है। संवृत अवस्था में घोष वर्णों का और अघोष वर्णों का उच्चारण विवृत अवस्था में होता है। स्वर और घोष वर्णों का अनुप्रदान नाद और अघोष वर्णों का श्वास है। वर्ग के प्रथम वर्ण, क, च, ट, त, प के उच्चारण में कम श्वास लगती है। वर्ग के चतुर्थ वर्ण घ, झ, ढ, ध, भ और ह की निष्पत्ति में संवृत-विवृत और श्वास-नाद दोनों मूल कारण होते हैं। पहले संज्ञा के लिये उद्देश क्रम से स्वर और व्यञ्जन का विवेचन किया गया। अब प्रत्याहार के लिये परवर्ती क्रम अर्थात् उपदेश क्रम से वर्णों का विवेचन किया जा रहा है।

ए ओ ऐ औ आ ॠ लृ ई ऊ ॠ इ उ आः। र य व लाः। ङ ज ण न माः। घ झ ढ ध भाः। ग ज ड द बाः। ख छ ठ थ प्लः। क च ट त पाः। ह श ष साः। आः क पाः। हुं कुं खुं गुं घुं अं आं एवमुपदेशे स्वराणां सन्ध्यक्षराणां दीर्घाणां* ह्रस्वानां समानानामन्तस्थानामुत्तमानां स्वरान्तस्थोत्तमानामकारघोषाणां हकारस्तु** घोषवतामघोषाणां सोष्मणामूष्मणां च। प्रत्याहारे रहस्योर्वर्गसंज्ञानुस्थानांनामसिद्धिरिति चेद्ध्स्वतरनासिक्यस्थानेषु मात्राकरणं विशिष्टानामपि प्राप्तिस्तथा सिद्धमिति। इदमक्षरं छन्दोवर्णशः*** समनुक्रान्तम्। यथाचार्या उचुर्ब्रह्माबृहस्पतये प्रोवाच बृहस्पतिरिन्द्रायेन्द्रो भरद्वाजाय भरद्वाज

---

* तु० ॠ०प्रा०, १३.१५

** तु० ॠ०प्रा०, १३.१७

*** अक्षर परिमाण को छन्द कहते हैं।[1] छन्दों को वेद का पाठ कहा गया है।[2] यह स्वर्गादि प्राप्ति में सहायक है। इसका ज्ञान न होने पर प्रत्येक कार्य निष्फल हो जाता है।[3] इसका वर्ण कपिश माना गया है।[4]

१. (क) यदक्षरपरिगाणं तच्छन्दः ॠक्सर्वानुक्रमणी। २.६

(ख) छन्दो क्षरसंख्यावच्छेदकमुच्यते। वृहत्सर्वानुक्रमणी, ८.१

२. छन्दः पादौ तु वेदस्य··· । पा०शि० ४१

३. ॠ०प्रा०वि०व० ७। तु० —ॠक् सर्वानुक्रमणी १.१

४. ॠ०प्रा०, १७.१८

ऋषिभ्य* ऋषयों ब्राह्मणेभ्यस्तं** स्त्विममक्षरसमान्नायमित्याचक्षते । न भुक्त्वा न नक्तं प्रब्रूयाद् ब्रह्मराशिरिति च ब्रह्मराशिरिति च*** ॥ ४॥

ए, ओ, ऐ, औ, आ, ऋ, लृ, ई, उ, ऋ, लृ, इ, उ, अ । र, य, व, ल । ङ, ज, ण, न, म । घ, झ, ढ, ध, भ । ग, ज, ड, द, ब । ख, छ, ठ, थ, फ । क, च, ट, त, प । ह, श, ष, स । अः क, प । हुं, कुं, खुं, गुं, घुं, अं, आं । इस प्रकार उपदेश क्रम में स्वरों में सन्ध्यक्षर, दीर्घ, ह्रस्व समानाक्षर, अन्तस्था, वर्ग के पञ्चम वर्ण, (ग, ज, ड, द, ब की) घोषवत्ता अकार और (घ, झ, ढ, ध, भ की) सघोषता हकार को बतलाते हुए सोष्म और ऊष्म वर्णों का कथन किया जाता है। इस प्रकार प्रत्याहार में वर्ग, संज्ञा और उच्चारण स्थान सिद्ध होते हैं, जिससे कि नासिक्य, स्थान, ह्रस्वतर मात्राकरण आदि का विशिष्ट ज्ञान भी सिद्ध होता है । ये अक्षर छन्द में वर्णशः परिव्याप्त रहते हैं ।

आचार्यों के अनुसार ऐसा कहा जाता है कि इस अक्षर-समाम्नाय का उपदेश ब्रह्मा ने बृहस्पति को, बृहस्पति ने इन्द्र को, इन्द्र ने भरद्वाज को, भरद्वाज ने ऋषियों को, और ऋषियों ने ब्राह्मणों को दिया । भोजन के अनन्तर और

---

* ऋषि ने मन्त्रों का दर्शन किया था । अतएव ऋषियों को कवि भी कहा गया है । ज्ञान-प्रसार में इन ऋषियों की अहम् भूमिका रही है । ज्ञान-श्रोत के रूप में इनका विवेचन प्राप्त होता चला आ रहा है।

(क) ऋषयः कवयः । —श०ब्रा०, १.७.३.४

(ख) ये वैतेन ऋषयः पूर्वे प्रेतास्ते वैकवयः । —ऐ०ब्रा०, ६.२०

(ग) अजान् ह्वै प्रश्नी स्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वध्यानर्षत् तदृषयो भवन तदृषीणां ऋषित्वम् । —तै०आ०, २.९.१

(ङ) जै०ब्रा०, २.२६६ (च) छा०उ०, १.३.१०

(छ) बृ०उ०, १.४.१०; २.२.३

** चतुवर्ण में ब्राह्मण का अत्यन्त विशिष्ट स्थान है। ब्राह्मण ही अध्ययन-अध्यापन का कार्य करते थे। यह जाति अत्यन्त प्राचीन काल से विद्या प्रसार के क्षेत्र लगी हुई है। प्राचीन काल में वर्ण-व्यवस्था कर्मानुसार भी वंशानुसार नहीं । इस वर्ण को अत्यन्त ही विशिष्ट स्थान प्राप्त था ।

(क) आ ब्रह्मन् ब्राह्मणों ब्रह्मवर्चसी जायताम् । —तै०सं ७.५.१८.१

(ख) श०ब्रा०, ३.९.१.२ (ग) गो०ब्रा०, १.२.२३ (घ) छा०उ०, १.८.२

(ङ) बृ०उ०, १.४.५ (च) गीता २.२४, ५.१८

*** तु० (क) वा०प्रा०, ३.१५ (ख) म०भा०, १.१.२

रात्रि में अक्षर-समाम्नायात्मक ब्रह्म राशि का अवचन नहीं करना चाहिए, ब्रह्मराशि का प्रवचन नहीं करना चाहिए।

प्रथम अध्याय

द्वितीय प्रपाठक प्रथम दशक

१. मासे* यथा दृष्टः ॥ १ ॥

समास में (वर्ण) जैसे दृष्टि-गोचर हो वैसे ही जानना चाहिए।

२. हाः कण्ठे ॥ २ ॥

हकार, अकार, आकार तथा विसर्जनीय—ये सब वर्ण कण्ठ स्थानीय हैं।

३. उरसि विसर्जनीयो वा ॥ ३ ॥

अथवा विसर्जनीय का उच्चारण उर में किया जाता है।

४. जिह्वामूले क्‍ ॥ ४ ॥

ᳵक, क, ऋ और ॠ का उच्चारण जिह्वामूल में किया जाता है।

५. तालुनि श्व्ये ॥ ५ ॥

शकार, चकार, यकार, इकार, ईकार और एकार तालुस्थानीय हैं।

६. मूर्धनि षटौ ॥ ६ ॥

षकार और टवर्ग मूर्धा में उच्चरित होते हैं।

७. दन्ते त्स्लाः ॥ ७ ॥

तकार, शकार और लकार दन्त्य है।

८. रेफो मूले वा ॥ ८ ॥

रेफ का उच्चारण स्थान दन्त अथवा दन्तमूल है।

९. ओष्ठये वोᳵपू ॥ ९ ॥

वकार, ओकार, औकार, उपध्मानीय (ᳵप) पकार, उकार और ऊकार ओष्ठ स्थानीय हैं।

१०. किटंकिडाकारो हन्वाम् ॥ १० ॥

किट् किट् स्वरूपा ध्वनि हनु में होती है।

---

* यह समास का संक्षेप है। समास का अर्थ होता है, संक्षिप्त कथन। भिन्नार्थक अनेक पदों के परस्पर मिलकर सकार्थवाचक होने से जो संक्षिप्त प्रक्रिया होती है, उसे ही समास कहते है।

—द्रष्टव्य बृ०दे० २.१०, १०५।

द्वितीय अध्याय

द्वितीय दशक

११. अविशेषस्थानौ संस्वादनिगारौ ॥ ११ ॥

सर्व स्थान प्राप्त होने पर पकार, नकार और यकार=प्न्य का उच्चारण संस्वाद में और हकार, मकार और नासिक्य=ह्‌ का उच्चारण निगार में किया जाता है।

१२. नासिकायां यमानुस्वारनासिक्याः ॥ २ ॥

यम, अनुस्वार और नासिक्य नासिका स्थानीय होते हैं।

१३. स्पर्शे र्गस्य ॥ ३ ॥

स्पर्श वर्ण में प्रथम वर्ण का ग्रहण करने पर सम्पूर्ण वर्ग का ग्रहण मानना चाहिए।

१४. उत्तमा घोषाः ॥ ४ ॥

वर्ग के अन्तिम तीन वर्ण घोष होते हैं।

१५. हान्तस्थाः ॥ ५ ॥

हकार और अन्तस्था—य, र, ल, व भी घोष कहलाते हैं।

१६. युग्माःसोष्माणः ॥ ६ ॥

युग्म अर्थात् वर्ग के द्वितीय और चतुर्थ वर्ण सोष्मन कहलाते हैं।

१७. अन्त्योऽनुनासिकः ॥ ७ ॥

वर्ग के अन्तिम वर्ण—ङ, ज, ण, न, म अनुनासिक होते हैं।

१८. साक्षरःपदान्तोऽवसितः ॥ ८ ॥

पदान्त अवसान में अवस्थित अक्षर सहित समानाक्षर अनुनासिक होता है।

१९. येकवचने ॥ ९ ॥

संयुक्त ईकार एक बचन में अनुनासिक होता है।

२०. व्यञ्जनं पूर्वस्यान्तस्वरम् ॥ १० ॥

व्यञ्जन पूर्ववर्ती स्वर के अन्त्य स्वर का अङ्गहोता है।

तृतीय दशक

२१. अभिनिधानः ॥ १ ॥

क्रमज पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है।

२२. व्यञ्जने ।। २ ।।

पद के अन्त में व्यञ्जन हो तो वह पूर्ववर्ती पद के अन्त्य स्वर का अङ्ग होता है ।

२३. अनुस्वारौ च ।। ३ ।।

अनुस्वार पूर्ववर्ती अन्त्य स्वर का अङ्ग होता है ।

२४. रलावव्यपरौ ।। ४ ।।

व्य बाद में न हो तो र, ल पूवन्ति स्वर के अङ्ग होते हैं ।

२५. स्पर्शः स्वे ।। ५ ।।

ह्रस्व स्वर परे रहते स्पर्श व्यञ्जन पूर्वान्त स्वर का अङ्ग होता है ।

२६. रादि रमन्यत् ।। ६ ।।

स्वरों के मध्य वर्तमान व्यञ्जन परवर्ती अन्त्य स्वर का अङ्ग होता है ।

२७. सयुक् सण् ।। ७ ।।

संयुक्त व्यञ्जन संयोगसंज्ञक होता है ।

२८. मात्रार्ध-मात्रा वा ।। ८ ।।

व्यञ्जन एक मात्रा अथवा आधी मात्रा काल वाले होते हैं ।

२९. तिश्च* त्रिकला वा ।। ९ ।।

गति मात्रा, अर्धमात्रा अथवा त्रिकला मात्रा काल वाली होती है ।

३०. सन्ध्याद्यश्च् ।। १० ।।

ए, ओ, ऐ, औ—ये सन्ध्यक्षर त्रिकला** मात्रा काल वाले होते हैं ।

---

* सामगान में आ के बाद इ और उ या इ के बाद ओ जोड़कर उच्चारण करना गति कहलाता है । गति शब्द यहाँ सामगान की इस विशेषता के लिए ही प्रयुक्त है । अधोलिखित साम मन्त्र के गान से गति का स्पष्टीकरण हो जाता है—

मन्त्र —तरोभिर्वा विद्वसुमिन्द्र सबाध ऊतये । —सा०वे० १.३७ पूर्वार्द्ध

सामगान—तरोमा ३वोविद्वसूम् । इन्द्रां सबा । घ ऊतया २३३ इ ।

** उच्चारण के काल का कला अत्यन्त प्राचीन मापदण्ड था । इसका वास्तविक परिणाम निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है । अतः इस विषय में विप्रतिपत्ति बनी हुई है ।

(क) ऋ० ८.४.७ त०सं० ६.१.१०.१ मै०सं० ३.७.७ अथर्व० ६.९६

(ख) श०ब्रा०, ३.३.३.१

चतुर्थ दशक

३१. द्रुतायां मात्रा ॥ १ ॥

द्रुत वृत्ति में मात्रा त्रिकला होती है।

३२. चतुष्कला मध्यमायाम् ॥ २ ॥

मध्यम वृत्ति में मात्रा चतुष्कला होती है।

३३. पञ्चकला विलम्बितायाम् ॥ ३ ॥

विलम्बित वृत्ति में मात्रा पञ्चकला होती है।

३४. वर्णान्तरं परमाणु ॥ ४ ॥

एक वर्ण के अन्तर का परिमाण परमाणु अर्थात् अर्द्ध कला मात्र होता है।

३५. स्वरयोरर्धमात्रा ॥ ५ ॥

दो स्वरों के मध्य आधी मात्रा का अन्तर होता है।

३६. विरामे मात्रा ॥ ६ ॥

विराम होने पर वाक्य के अनन्तर एक मात्रा का अन्तर होता है।

३७. नित्यविरते द्विमात्रम् ॥ ७ ॥

आधी ऋचा के अन्तर्गत नित्य विराम होने पर दो पदों में मात्रा का अन्तर होता है।

३८. गाथासु* ॥ ८ ॥

गाथा में नित्य विराम होने पर दो पदों में दो मात्रा का अन्तर होता है।

(ग) गताःकलाःपञ्चदश प्रतिष्ठाः। मुण्डको उपनिषद् ३.२.७

(घ) कला यस्मिन् प्रतिष्ठिताः। तै०उ०, ६.६

(ङ) कला मुहूर्त्ताः काष्ठाश्च। मै०उ०, १.८

(च) कला त्रयानना वापि तासां मात्रा। नाद बिन्दु ८

* आख्यानपरक पद्य अथवा गान को गाथा कहते हैं। इस सूत्र के वृत्ति में दोनों प्रकार के उदाहरणों को स्थान दिया गया है। गाथा शब्द का प्रयोग संहिता काल से होता रहा है।

(क) गाथाभ्य स्वाहा। —तै०सं०, ७.५.११.२

(ख) विवाहे गाथा गीयते। —मै०सं०, ३.७.३

(ग) अथर्व०, २०.१२७. (घ) श०ब्रा०, ११.५.१०

(ङ) ऐ०ब्रा०, ७.१८ (च) ऐ०आ०, २.३.६

(छ) एषा ब्राह्मणमनुगाथा। —छा०उ०, ४.१७.८

(ज) राजेमा गाथां जगाद। —मै०उ०, १.२

(झ) सगाथा अधीते। —नृसिंहतापनीयोपनिषद्, ५ ९

३९. त्रिमात्रं सामसु ॥ ९ ॥

सामगान में गान के विभाग के अन्त में दो पदों के मध्य तीन मात्रा का अन्तर होता है।

४०. अकालो ह्रस्वः ॥ १० ॥

अ, इ, उ, ऋ, लृ ह्रस्व स्वर अकार काल वाले होते हैं।

पञ्चम दशक

४१. अर्धमणु ॥ १ ॥

अर्द्ध अकार का काल अणु संज्ञक होता है।

४२. मात्रा ॥ २ ॥

मात्रा अकार कालिक होती है।

४३. द्वे दीर्घम् ॥ ३ ॥

दो मात्रा कालिक स्वर दीर्घ संज्ञक होता है।

४४. तिस्रो वृद्धम् ॥ ४ ॥

तीन मात्रा कालिक स्वर वृद्ध संज्ञक होता है।

४५. वैश्वर्ये स्वरस्त्रिमात्रः ॥ ५ ॥

वैस्वर्य में स्वर तीन मात्रा काल वाला होता है।

४६. अक्षरम् ॥ ६ ॥

ह्रस्व, दीर्घ, वृद्ध स्वर अक्षर संज्ञक होते हैं।

४७. वर्ति ॥ ७ ॥

अकारादि में व्यञ्जन वर्तमान रहते हैं अतः ये अकारादि वर्ति होटे हैं।

४८. भूयान् ॥ ८ ॥

अनेक व्यञ्जनों से युक्त स्वर वर्ति होने से अक्षर संज्ञक होता है।

४९. गुरु सणि ॥ ९ ॥

संयोग परे रहते पूर्ववर्ती स्वर गुरु होता है।

५०. घम् ॥ १० ॥

दीर्घ स्वर गुरु संज्ञक होता है।

षष्ठ दशक

५१. उदात्तमत् ॥ १ ॥

उदात्त की उत संज्ञा होती है।

५२. वान्तसन्धिः ॥ २ ॥

उदात्त स्वरों की संधि भी उत्संज्ञक होती है।

५३. आद्यार्थमात्रा स्वरितम् ॥ ३ ॥

स्वरित की प्रारम्भिक आधी मात्रा उदात्त होती है।

५४. उन्नीचे मे ॥ ४ ॥

स्वरित के बाद अनुदात्त या विराम हो तो वह स्वरित उदात्त हो जाता है।

५५. नीचमुच्चात् ॥ ५ ॥

उदात्त से परे अनुदात्त होने पर वह स्वरित हो जाता है।

५६. संयोगात् ॥ ६ ॥

उदात्त तथा अनुदात्त के संयोग से स्वरित होता है।

५७. क्वेयहीन्द्रनी-वे ति ॥ ७ ॥

'क्व-इयथ' 'हि-इन्द्र' 'नि-इव' इनमें संधि होने पर स्वरित होता है।

५८. तो-र्धे स्तेम् ॥ ८ ॥

तो, धे और ते के साथ 'अ' की सन्धि होने पर स्वरित होता है।

५९. नैगिनोभयथा ॥ ९ ॥

आचार्य नैगि का मत है कि उदात्त अथवा स्वरित दोनों हो सकते हैं।

६०. न्यायेनौदव्रजिः ॥ १० ॥

औद व्रजि के अनुसार सामान्यः उदात्त की सन्धि से उदात्त स्वर ही होता है।

तृतीय अध्याय

प्रथम दशक

६१. तस्मादुच्चश्रुतीनि ॥ १ ॥

स्वरित के परवर्ती अनुदात्तों का उच्चश्रुति स्वर होता है।

६२. पदमेकोच्चम् ॥ २ ॥

एक पद में एक ही अक्षर उदात्त होता है।

६३. प्रकृतिः ॥ ३ ॥

प्रकृति अर्थात् धातु भी पद होती है।

६४. मान् विकारः ॥ ४ ॥

विकार प्रकृति युक्त होता है।

६५. समासे ॥ ५ ॥

समास में एक ही अक्षर उदात्त होता है ।

६६. विभक्ति लोपः ॥ ६ ॥

समास में विभक्ति-लोप होता है ।

६७. सन्निकर्षः संहिता ॥ ७ ॥

पदों का आनन्तर्य अर्थात् अत्यन्त सानिध्य संहिता है ।

६८. न वृद्धं रे ॥ ८ ॥

वृद्ध स्वर परवर्ती स्वर के साथ संनिकर्ष नहीं प्राप्त करता । अर्थात् इनमें सन्धि नहीं होती ।

६९. दमु ॥ ९ ॥

पद रूप उकार परवर्ती स्वर के साथ संनिकृष्ट नहीं होता ।

७०. ओभूतं च ॥ १० ॥

ओकार प्राप्त उ पद परवर्ती स्वर के साथ संनिकृष्ट नहीं होता ।

द्वितीय दशक

७१. आणि ॥ १ ॥

आकार पादादि स्वर के साथ सन्निकृष्ट नहीं होता ।

७२. न वन्वा च ॥ २ ॥

'वन' 'वा' पद सन्निकर्ष को प्राप्त होते हैं ।

७३. औ ॥ ३ ॥

औकार परवर्ती स्वर के साथ सन्निकर्ष को प्राप्त होता है ।

७४. द्वयर्थे ॥ ४ ॥

दो पदार्थों के वाचक पद का स्वर परवर्ती स्वर के साथ सन्निकर्ष को नहीं प्राप्त कर सकता ।

७५. ई न वपरे ॥ ५ ॥

व परे होने पर संयुक्त ईकार संनिकर्ष को प्राप्त नहीं करता ।

७६. अवयावे न्यूने ॥ ६ ॥

पाद के मध्य में वर्तमान एकार तथा औकार, अकार के साथ संनिकर्ष को प्राप्त नहीं होते ।

७७. त्रोणि ॥ ७ ॥

…'त्रो' परवर्ती पादादि स्वर के साथ सन्निकर्ष को नहीं प्राप्त करता।

७८. नृपोप वो ङि ॥ ८ ॥

अप परे रहते नृतो का ओकार तथा अङि परे रहते…वो का ओकार सन्निकर्ष को प्राप्त नहीं करते।

७९. गो ॥ ९ ॥

गो शब्द परवर्ती स्वर से सन्निकृष्ट नहीं होता।

८०. न वा ॥ १० ॥

अथवा 'गो' शब्द परवर्ती स्वर से कभी सन्निकर्ष को प्राप्त नहीं करता है और कभी संनिकृष्ट भी हो जाता है।

तृतीय दशक

८१. अवं वा ॥ १ ॥

अथवा 'गो' पद का ओकार परवर्ती स्वर के साथ मिलकर अव हो जाता है।

८२. त्वे ॥ २ ॥

'त्वे' शब्द परवर्ती स्वर के साथ सन्निकर्ष को नहीं प्राप्त करता।

८३. लुबन्यः ॥ ३ ॥

परवर्ती अकार का लोप हो जाता है।

८४. पूर्ण इतिकरणाभ्यस्ते ॥ ४ ॥

पाद के पूर्ण होने पर इतिकरण तथा अभ्यस्त का लोप हो जाता है।

८५. ऋति ॥ ५ ॥

स्वर के बाद 'ऋत' पद हो तो संनिकर्ष नहीं होता।

८६. ओजि ॥ ६ ॥

स्वर के बाद 'ओज' पद हो तो संनिकर्ष नहीं होता।

८७. शकन्धुकादीनाम् ॥ ७ ॥

शक्र-अन्धुक आदि पद संनिकर्ष को प्राप्त नहीं होते।

८८. कि-इन्-वी-उत् ॥ ८ ॥

…'कि-इन' तथा…'वी-उत्' परस्पर संनिकृष्ट नहीं होते।

८९. स्मिन्-न्न-न्मन्-यम् ॥ ९ ॥

…'स्मिन-न्न' 'न्मन्-यम्' संनिकृष्ट नहीं होते।

९०. महुं युक ॥ १० ॥

हिंकारयुक्त मकार संनिकर्ष को नहीं प्राप्त करता।

चतुर्थ दशक

९१. विकारः ॥ १ ॥

विकार संनिकर्ष से होता है।

९२. सस्थानः ॥ २ ॥

विकार सस्थानीय होता है।

९३. रौ घम् ॥ ३ ॥

दो समानस्थानीय स्वर मिलकर दीर्घ हो जाते हैं।

९४. अस्थनामिनी सन्ध्यम् ॥ ४ ॥

नामिन् (इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ए, ओ, ऐ, औ) स्वर के साथ मिलकर अकार सन्ध्यक्षर भाव को प्राप्त हो जाता है।

९५. सन्ध्यं द्विवर्णम् ॥ ५ ॥

अकार सन्ध्यक्षर के साथ मिलकर द्विवर्ण अर्थात् ऐ, औ को प्राप्त हो जाता है।

९६. भाषायां णी परयोः ॥ ६ ॥

भाषा में अकार के बाद णी परक स्वर होने पर दोनों स्वर मिलकर द्विवर्ण को प्राप्त हो जाते हैं।

९७. उपसर्गादूहेष्यौ प्रेष्यार्थे ॥ ७ ॥

उपसर्ग के बाद प्रेष्यार्थक ऊह, ईष्य पद हो तो दोनों के स्वर मिलकर द्विवर्ण को प्राप्त हो जाते हैं।

९८. सन्ध्ये परं सामर्थ्ये ॥ ८ ॥

उपसर्ग के बाद सन्ध्यक्षर हो तो दोनों परभाव को प्राप्त हो जाते हैं।

९९. समासे ॥ ९ ॥

समास में सन्ध्यक्षर परभाव को प्राप्त हो जाता है।

१००. न वा ॥ १० ॥

अथवा समास में सन्ध्यक्षर परभाव को प्राप्त नहीं होता या तो वह द्विवर्ण को प्राप्त होता है अथवा द्विवर्ण को भी प्राप्त नहीं होता।

पञ्चम दशक

१०१. ह्रस्वमृचि ॥ १ ॥

ह्रस्व अकार के बाद 'ऋच्' शब्द हो तो दोनों (अ+ऋ) मिलकर ह्रस्व हो जाते हैं।

१०२. ऋमप्येके ॥ २ ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि ऋम् शब्द परे हो तो भी ह्रस्व अकारि तथा ऋ दोनों मिलकर ह्रस्व हो जाते हैं।

१०३. मासे घमृति ॥ ३ ॥

समास में अकार के बाद 'ऋत' पद हो तो दोनों मिलकर दीर्घ हो जाते हैं।

१०४. म क्रियायाम् ॥ ४ ॥

'म' शब्द क्रिया पद के 'ऋ' के साथ मिलकर दीर्घ हो जाता है।

१०५. उपसर्गःसामर्थ्ये ॥ ५ ॥

सामर्थ्य सूचक पद में उपसर्ग के बाद 'ऋच' पद हो तो दोनों (अ+ऋ) मिलकर दीर्घ हो जाते हैं।

१०६. वत्सतरादीनामृणि ॥ ६ ॥

वत्सतर आदि पदों के बाद 'ऋण' पद हो तो दोनों (अ+ऋ) मिलकर दीर्घ हो जाते हैं।

१०७. रमृस्थमस्वे ॥ ७ ॥

ऋकार के बाद ह्रस्व अ हो तो दोनों मिलकर रेफ हो जाते हैं।

१०८. ह्रस्वमेके ॥ ८ ॥

कुछ आचार्यों का मत है ऋकार के बाद ह्रस्व अकार हो तो ह्रस्व ही रह जाता है।

१०९. अन्तस्थाम् ॥ ९ ॥

ह्रस्व अकार से पहले यदि असवर्ण ह्रस्व स्वर हो तो दोनों मिलकर अन्तस्था को प्राप्त हो जाते हैं।

११०. तिः ॥ १० ॥

गति अन्तस्था को प्राप्त हो जाती है।

षष्ठ दशक

१११. सन्ध्यमयवायावम् ॥ १ ॥

ए, ओ, ऐ तथा औ के बाद ह्रस्व स्वर हो तो ये क्रमशः अय्, अव्, आय् और आव् हो जाते हैं।

११२. घान्नोडि विसर्जनीयं यवोहिषु ॥ २ ॥

पाद के मध्य में दीर्घ स्वर से परे नकार य, व, ओ, इ, ह, व हो तो विसर्जनीय हो जाता है।

११३. घाद्र ग्रा ॥ ३ ॥

ग्रामेगेयगान में ही दीर्घ स्वर से परे संयुक्त नकार विसर्जनीय होता है।

११४. आरक्तः ॥ ४ ॥

आकार अनुमासिक हो जाता है।

११५. रं विसर्जनीयो घोषे ॥ ५ ॥

घोष वर्ण बाद में हो तो विसर्जनीय रेफ हो जाता है।

११६. र प्रकृतिः ॥ ६ ॥

रकार-जन्य विसर्जनीय ही रेफ होता है।

११७. आस्थाद् यम् ॥ ७ ॥

आकार के बाद अवस्थित विसर्जनीय यकार हो जाता है।

११८. ओम् अः ॥ ८ ॥

मन्दिष्ठः आदि पदों का विसर्जनीय ओकार हो जाता है।

२१९. रे ॥ ९ ॥

संयुक्त अकार के परवर्ती विसर्जनीय के बाद ह्रस्व अकार हो तो विसर्जनीय ओ हो जाता है।

१२०. नौ ॥ १० ॥

'नौ' शब्द का आकार ओ हो जाता है, यदि उसके बाद ह्रस्व अकार हो।

सप्तम दशक

१२१. तो षि ॥ १ ॥

···'तः' का विसर्जनीय ओकार हो जाता है। मूर्धन्य षि परे रहते हैं।

१२२. हो-रा स्वो-रु ॥ २ ॥

'अहो रात्रिः' 'स्वोरुहाण्णाः' का विसर्जनीय ओकार हो गया है।

१२३. राजने च ॥ ३ ॥

'स्वः' का विसर्जनीय ओ हो जाता है, यदि राजन् परे हो।

१२४. उभयथा भुवोम्न ऊधरवः ॥ ४ ॥

'भुवः' 'अम्नः, 'ऊधः' तथा 'अवः' का विसर्जनीय यकार अथवा रेफ हो जाता है।

१२५. स प्रकृतिर्मासि सं कृकमोः ।। ५ ।।

समास में 'कृ' तथा 'कम्' धातु से निष्पन्न 'कार' और 'काम' शब्द परे हों तो विसर्जनीय सकार हो जाता है।

१२६. यश्चातिशये ।। ६ ।।

अतिशयार्थक पद में कार शब्द परे हो तो···'यः' का विसर्जनीय सकार हो जाता है।

१२७. अङ्गे च कृम्व्यादौ ।। ७ ।।

अङ्ग के आदि में ककार, मकार, वकार, यकार, हों तो उनके परे रहते विसर्जनीय सकार हो जाता है।

१२८. कौतस्कुतादीनाम् ।। ८ ।।

कौतस्कुतादि गण में पठित पदों का विसर्जनीय सकार हो जाता है।

१२९. पर्वणि सद्यस्काला ।। ९ ।।

पर्व के अर्थ का वाचक पद में 'सद्यः काला' का विसर्जनीय सकार हो जाता है।

१३०. नामिनो घोषे सामर्थ्ये ।। १० ।।

सामर्थ्य सूचक पद में विसर्जनीय सकार हो जाता है, यदि उसके पहले नामिन् अक्षर हो तथा उसके बाद अघोष वर्ण हों।

अष्टम् दशक

१३१. मिथुनाख्ये वा ।। १ ।।

मिथुन वाचक पद में विसर्जनीय ऊष्मन षकार, सकार अथवा प्रकृति भाव को प्राप्त होता है।

१३२. विग्रहे च वा ।। २ ।।

विग्रह में विसर्जनीय ऊष्मन् षकार, सकार अथवा प्रकृति भाव को प्राप्त होता है।

१३३. निः ।। ३ ।।

'निः' का विसर्जनीय भी सकार अथवा प्रकृतिभाव को प्राप्त हो जाता है।

१३४. दुः ।। ४ ।।

दुः का विसर्जनीय सकार हो जाता है।

१३५. असुखे खे ।। ५ ।।

असुख के सूचक पद में 'दुः' के परे ख होने पर विसर्जनीय सकार को नहीं प्राप्त होता।

१३६. ख्यातौ च ॥ ६ ॥

कुख्याति सूचक पद में 'दुः' के बाद 'ख्याति' पद हो तो विसर्जनीय सकार को नहीं प्राप्त करता।

१३७. द्विः ॥ ७ ॥

द्विः का विसर्जनीय सकार हो जाता है।

१३८. त्रिः ॥ ८ ॥

'त्रिः' का विसर्जनीय सकार हो जाता है।

१३९. चतुः ॥ ९ ॥

'चतुः' का विसर्जनीय सकार हो जाता है।

१४०. बहिः ॥ १० ॥

'बहिः' का विसर्जनीय सकार हो जाता है।

चतुर्थ अध्याय

प्रथम दशक

१४१. आविः ॥ १ ॥

'आविः' आदि पदों का विसर्जनीय सकार हो जाता है, 'कृ' धातुज रूप परे रहते।

१४२. पुरः ॥ २ ॥

कृ धातुज रूप परे रहते 'पुरः' पद का विसर्जनीय सकार हो जाता है।

१४३. अडि ॥ ३ ॥

पाद के मध्य में कृ धातुज रूप परे हो तो विसर्जनीय सकार को प्राप्त हो जाता है।

१४४. इव ऋ ॥ ४ ॥

इकार तथा वकार युक्त ऋचाओं में विसर्जनीय के बाद ऋ अथवा अघोष वर्ण हो तो वह सकार हो जाता है।

१४५. रि खिडि ॥ ५ ॥

पादोपान्त में रेफ परे हो तो पूर्ववर्ती विसर्जनीय सकार हो जाता है।

१४६. पि ॥ ७ ॥

पादोपान्त में रेफ परे हो तो पूर्ववर्ती विसर्जनीय सकार हो जाता है।

१४७. ठ्यदन्त्य रे ॥ ७ ॥

विसर्जनीय के परवर्ती पकार कसे परे कण्ठ्य या दन्त्य वर्ण हो तो विसर्जनीय सकार हो जाता है ।

१४८. घेणः ।। ८ ।।

तृतीय पाद में ही विसर्जनीय के बाद दीर्घ अक्षर हो तो विसर्जनीय सकार होता है।

१४९. यः ।। ९ ।।

...'यः' का विसर्जनीय सकार हो जाता है ।

१५०. भे स्वे मान्तस्थी ।। १० ।।

स्तोभ में मकारान्तस्थ* विसर्जनीय के बाद ह्रस्व अक्षर हो तो विसर्जनीय सकार हो जाता है।

द्वितीय दशक

१५१. नोष्म परे ।। १ ।।

ऊष्म वर्ण बाद में हो तो विसर्जनीय विकार को नहीं प्राप्त करता ।

१५२. पुं स्पर्शे ।। २ ।।

'पुं' के बाद स्पर्श वर्ण हो तो सकार हो जाता है ।

१५३. नो मध्यमवर्गे ।। ३ ।।

'नकार' के बाद वर्ग के मध्यम वर्ग हो तो वह सकार कों प्राप्त हो जाता है ।

१५४. ऋक् चे ।। ४ ।।

आचिक में संयुक्त नकार को ही सकार होता है ।

१५५. कान्त् स्वे ।। ५ ।।

'कान्' शब्द के बाद कान् पद हो तो नकार सकार हो जाता है ।

१५६. बुदेषसस्य व्यञ्जने ।। ६ ।।

उदात्त 'एषः' 'सः' तथा 'स्यः' के बाद व्यञ्जन हो तो विसर्जनीय का लोप हो जाता हैं ।

---

* गाये हुए सामगानों को स्तोभ, स्तोम या स्तोत्र कहा गया है। स्तोभ का प्रयोग यज्ञ, यागों में किया जाता है। स्तोभ की संख्या नौ बतायी गयी है, जिनमें त्रि वृत, पञ्चदश, सत्तदश एकविंश, त्रिणव, त्रयस्त्रिंश, चतुर्विश, चतुश्चत्वारिंश और अष्ट चत्वारिंश परिगणित हैं ।

१५७. नान्पूर्वः ।। ७ ।।

'एषः' के पूर्व अन् हो तो विसर्जनीय का लोप नहीं होता ।

१५८. यः ।। ८ ।।

आगम के यकार का व्यञ्जन परे रहते लोप हो जाता है ।

१५९. र मध्ये ।। ९ ।।

नैगि के अनुसार दो स्वरों के मध्यवर्ती यकार का लोप हो जाता है ।

१६०. वमेके ।। १० ।।

कुछ आचार्यों का मत है कि दो स्वरों के मध्यवर्ती वकार का भी लोप हो जाता है ।

तृतीय दशक

१६१. अर्धं वा ।। १ ।।

यकार और वकार में विकल्प से लोप होता है ।

१६२. वंनैगिरस्थे ।। २ ।।

नैगि के अनुसार बाद में वकार में 'उ' हो तो उसका लोप हो जाता है ।

१६३. नो तौ ।। ३ ।।

वकार के बाद ओ हो तथा उसके बाद तु पद हो तो वकार का लोप नहीं होता ।

१६४. अत् पटादीनामितौ ।। ४ ।।

पटत् आदि पदों के बाद इति पद हो तो अत् अंश का लोप हो जाता है ।

१६५. दोऽभ्यासे ।। ५ ।।

पटत् आदि पदों के अभ्यस्त दकार का 'इति' परे होने पर लोप हो जाता है ।

१६६. पृषोदरादीनाम् ।। ६ ।।

'पृषोदरादि' गण में पठित शब्दों के दकार का लोप हो जाता है ।

१६७. उद् स्थास्तम्भोः ।। ७ ।।

उत् पूर्वक 'स्था' और 'स्तम्भ' धातुओं के आदि सकार का लोप हो जाता है ।

१६८. तुल्ये ।। ८ ।।

समानस्थानीय वर्ण परे रहते उच्चारण में प्राप्त प्रथम वर्ण का लोप हो जाता है ।

१६९. रात् स्थाजपरे ॥ ९ ॥

स्वर के बाद अन्तस्थाजय वर्ण होने पर उच्चारण प्राप्त द्वित्व वर्ण का लोप हो जाता है ।

१७०. रः ॥ १० ॥

रेफ के बाद तुल्य स्थानीय वर्ण रेफ हो तो उसका लोप हो जाता है।

चतुर्थ दशक

१७१. सोष्मण ऊष्मा ॥ १ ॥

उच्चारण-प्राप्त ऊष्मण वर्ण का लोप हो जाता है, यदि तुल्य स्थानीय सोष्मन वर्ण परे हो ।

१७२. तृतीयः परगुणम् ॥ २ ॥

वर्ग के तृतीय वर्ण परभाव को प्राप्त होते हैं ।

१७३. अन्त्ये ॥ ३ ॥

वर्ग के तृतीय वर्ण के बाद यदि वर्ग का अन्त्य वर्ण हो तो तृतीय वर्ण अन्त्य वर्ण हो जाता है ।

१७४. दन्त्याच्छश्छम् ॥ ४ ॥

दन्त्य वर्ण के बाद शकार हो तो वह शकार छकार हो जाता है।

१७५. चलोदयमेके ॥ ५ ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि दन्त्य वर्ण का परवर्ती शकार ही रहता है।

१७६. तृतीयाव्दश्चतुर्थम् ॥ ६ ॥

वर्ग के तृतीय वर्ण के बाद हकार हो तो वह उस वर्ण का चतुर्थ वर्ण हो जाता है ।

१७७. उष्मा स्थानम् ॥ ७ ॥

उष्मन् वर्ण परभाव को प्राप्त हो जाता है ।

१७८. दन्त्य मध्यमवर्गे ॥ ८ ॥

दन्त्य वर्ण परभाव को प्राप्त हो जाता है । यदि उसके बाद मध्यमवर्गीय वर्ण हो तो ।

१७९. श्लोः ॥ ९ ॥

शकार तथा लकार बाद में हों तो दन्त्य वर्ण परस्थानीय हो जाता है ।

१८०. मो सन्ध्यः ॥ १० ॥

संयुक्त मकार पर भाव को प्राप्त हो जाता है ।

१८१. रणमपि स्थायाम् ॥ ११ ॥

संयुक्त मकार के बाद अन्तस्था वर्ण हो तो मकार पूर्व का अङ हो जाता है।

१८२. अनुस्वारमेके ॥ १२ ॥

कतिपय आचार्यों का मत है कि सन्ध्य मकार अनुस्वार हो जाता है।

१८३. रेफोष्मसु ॥ १३ ॥

रेफ और ऊष्मन वर्ण बाद में हों तो सन्ध्य मकार अनुस्वार हो जाता है।

१८४. हि नमपरे च तत्परम् ॥ १४ ॥

'ह' के बाद 'न' हो तो पूर्ववर्ती संयुक्त मकार क्रमशः नकार और मकार हो जाता है।

पञ्चम दशक

१८५. व्यवधानोऽन्त्यविकारे ॥ १ ॥

अन्त्य विकार होने पर अनुस्वार का व्यवधान होता है।

१८६. अन्त्यात्प्रथमोऽघोषे ॥ २ ॥

वर्ग के अन्तिम वर्ण के बाद अघोष वर्ण हो तो वर्ग के प्रथम वर्ण का व्यवधान हो जाता है।

१८७. नात् सि ॥ ३ ॥

नकार के बाद स हो तो तकार का व्यवधान होता है।

१८८. टान्तमेके ॥ ४ ॥

टकार के बाद सकार हो तो तकार का व्यवधान होता है।

१८९. स संकरोतो ॥ ५ ॥

सम् के बाद 'कृ' धातुज रूप हो तो सकार का व्यवधान होता है।

१९०. अङ्गव्यवाये चाङ्गपरः ॥ ६ ॥

सम् के बाद व्यवाय होने पर भी कृ धातुज के ककार से पूर्व सकार का व्यवधान होता है।

१९१. कृ चकारमस्वयं दृष्टे ॥ ७ ॥

सम् पूर्वक कृ धातु को चकार हो जाता है यदि परोक्ष व्यापार का अर्थ व्यक्त हो।

१९२. पर्युप भूषणप्राचुर्यवाक्येषु ॥ ८ ॥

भूषण, प्राचुर्य आदि अर्थ होने पर पूर्ववर्ती परि, उप आदि के बाद कृ धातुज रूप होने पर शकार का व्यवधान होता है।

१९३. अव मर्यादावर्त्तस्कयोः ॥ ९ ॥

मर्यादा, वर्चस्क* अर्थक पदों में अव के बाद कृ धातुज रूप हो तो सकार का व्यवधान होता है।

१९४. पार पर्वते ॥ १० ॥

पर्वत संज्ञक पद में 'पाद' के बाद कृ धातुज रूप हो तो सकार का व्यवधान होता है।

षष्ठ दशक

१९५. अपरथे ॥ १ ॥

रथ संज्ञक पद में अप के बाद कृ धातुज रूप हो तो सकार का व्यवधान हो जाता है।

१९६. किरतावध्यात्मम् ॥ २ ॥

स्वयं परक पद में 'अप' के बाद लवनार्थक कॄ धातु का रूप हो तो सकार का व्यवधान होता है।

१९७. उपप्रती स हिंसायाम् ॥ ३ ॥

हिंसार्थक पद में उप तथा प्रति के बाद लवनार्थक कृ धातु का रूप हो तो सकार का व्यवधान होता है।

१९८. वि** शकुनौ ॥ ४ ॥

शकुनि वाची पद में वि के अनन्तर लवनार्थक कृ धातु का रूप हो तो सकार का व्यवधान होता है।

१९९. कुस्तुम्बुरु*** जातिः ॥ ५ ॥

जाति संज्ञक कुस्तुम्बुरु पद में सकार का व्यवधान निपातित है।

---

* कुत्सितं व र्चो, वर्चस्कमन्नमलम्। —पा०सू० ६.१.१४८ पर काशिका

** विकिर शब्दाभिधेयो वा शकुनिर्भवति। सर्वे शकुनयो भक्ष्या विष्किरा-कुक्कुटापते। विष्करो वा शकुनाविति···।

—पा०सू० ६.१.५० पर काशिका

*** कुस्तुम्बुरु नाम औषधिर्जातिः। धान्यकम्। तत्फलानि कुस्तुम्बरुणि। कुत्सितानि तुम्बुरणि कुतुम्बुरुणि। तुम्बुरूशब्देनात्र तिन्दुकीफलान्युच्यन्ते। समासेन तेषां कुत्सां। —पा०सू० ६.१.१४३ पर काशिका

२००. आस्पदमास्थायाम् ॥ ६ ॥

आस्था के अर्थ में 'आस्पद' पद में सकार का व्यवधान होता है ।

२०१. अपरस्परं* सातत्ये ॥ ७ ॥

सातव्य द्योतक अपरस्पर पद में सकार का व्यवधान होता है ।

२०२. प्रस्कण्व ऋषिः ॥ ८ ॥

ऋषि संज्ञक कण्व पद के पूर्व प्र हो तो सकार का व्यवधान होता है ।

२०३. गोष्पदमुदकमाने ॥ ९ ॥

उदक के परिमाणवाची 'गोष्पद' शब्द में सकार का व्यवधान होता है ।

२०४. अगोष्पदमनाचरिते ॥ १० ॥

अनाचरित अर्थ में 'अगोष्पद' शब्द में भी सकार का व्यवधान होता है ।

सप्तम दशक

२०५. आश्चर्यमनित्ये ॥ १ ॥

अनित्य वाचक आश्चर्य पद में सकार व्यवधान होता है ।

२०६. आस्क्रा आस्क्रभो विस्फुलिङ्गाः ॥ २ ॥

आस्का, आस्कभ तथा विस्फुलिङ्ग पदों में सकार का व्यवधान होता है ।

२०७. समास ऋक्षु चन्द्रे ॥ ३ ॥

समस्त पद में चन्द्र शब्द बाद में हो तो ऋचा में सकार का व्यवधान होता है ।

२०८. कास्तीराजस्तुन्दे नगरे ॥ ४ ॥

नगर संज्ञक 'कास्तीर'-और 'अजस्तुन्द' शब्द में सकार का व्यवधान होता है ।

२०९. नदी रथस्या ॥ ५ ॥

नदी संज्ञक 'रथस्या' पद में सकार का व्यवधान होता है ।

२१०. मस्करो** वेणुः ॥ ६ ॥

वेणु संज्ञक 'मस्कर' पद में सकार का व्यवधान होता है ।

२११. तस्करस्तेनः ॥ ७ ॥

स्तेनार्थक 'तस्कर' पद में सकार का व्यवधान होता है ।

---

* अपरस्परा सार्था गच्छन्ति । सन्ततमविच्छेदेन गच्छन्तीत्यर्थः ।

—पा०सू० ६. .१४४ पर काशिका

** मस्करो वेणुः ''माकरणशीलो मस्करी । —पा०सू० ६.१.५४ पर काशिका

२१२. दीर्घ भाषायां प्राप वृणोतौ संवरणे ॥ ८ ॥

भाषा में 'प्र' और 'अप' के बाद संवरणाक वृ धातु का रूप हो तो प्र और अप का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है।

२१३. अच्छ वदतौ ॥ ९ ॥

वद् धातुज रूप बाद में होने पर 'अच्छ' पद का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है।

२१४. समासे गिरौपेषुणगोपवत्सकयवाञ्जनभञ्जनाम ॥१०॥

समास में 'गिरि' शब्द बाद में हो तो पेषुण, गोप, वत्सक, यव, अञ्जन, भञ्जन पदों का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है।

पञ्चम अध्याय

प्रथम दशक

२१५. वर्णस्य शृङ्गे ॥ १ ॥

शृङ्ग पद बाद में हो तो वर्ण का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है।

२१६. वृषस्य कपिमोदनीदर्भरवेषु ॥ २ ॥

कपि, मोदनी, दर्भ और रव पद बाद में हों तो वृष पद का अन्तिम अक्षर दीर्घ होता है।

२१७. कर्णे प्लीहाङ्कुशकुण्डलोपरिष्टाध्यक्षतवाणानाम् ॥३॥

कर्ण शब्द बाद में हो तो प्लीह, अङ्कुश, कुण्डल, उपरिष्ट, अधि, अक्षत और वाण शब्द का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है।

२१८. विश्वस्य नरवसुराट्सु ॥ ४ ॥

नर, वसु, राट पद बाद में हो तो विश्व पद का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है।

२१९. मित्र ऋषौ ॥ ५ ॥

'मित्र' शब्द बाद में हो तो ऋषि अर्थ में विश्व पद का अन्तिम अक्षर दीर्घ होता है।

२२०. श्ववित्पदवराहकर्णदन्तदंष्ट्रष्वसंप्रति चेत् ॥ ६ ॥

वित्, पद, वराह, कर्ण, दन्त और दंष्ट्र पद बाद में हो तो 'श्व' पद का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है।

२२१. सर्वनाम्नो दृशि ॥ ७ ॥

दृश बाद में हो तो सर्वनाम का अन्तिम अक्षर दीर्घ होता है।

२२२. उक्षवेहती ॥ ८ ॥

वेहती शब्द बाद में हो तो 'उक्ष' पद का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है।

२२३. उप नखे ।। ९ ।।

नख शब्द बाद में हो तो उप उपसर्ग का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है ।

२२४. साङ्गेन च समागमे * ।। १० ।।

साङ्ग समागम सूचक समस्त पद में पूर्व पद का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है ।

द्वितीय दशक

२२५. अष्ट ।। १ ।।

'अष्ट' पद का अन्तिम अक्षर समस्त पद में दीर्घ होता है ।

२२६. प्राक् सताच्च ।। २ ।।

सौ से कम संख्या के वाचक पद परे रहते अष्ट का अन्तिम अक्षर दीर्घ होता है ।

२२७. पदगोयुक्तदन्तशालीये च तीर्थे ।। ३ ।।

पद, गोयुक्त, दन्त, शालीय तीर्थअर्थक पद बाद में हो तो 'अष्ट' पद का अन्तिम अक्षर दीर्घ होता है ।

२२८. नाम्नां षाडि ।। ४ ।।

षाट् पद बाद में हो तो सज्ञा का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है ।

२२९. वने यक्षरप्रभृतीनां प्राच्यभरतसंज्ञा चेत् ।। ५ ।।

'वन' पद बाद में हो तो यक्षरात्मक पद का अन्तिम दीर्घ अक्षर हो जाता है, यदि प्राच्यभरत संज्ञा अभिप्रेत हों ।

२३०. उपसर्गस्य धातावेकाक्षरे नामभूते ।। ६ ।।

एकाक्षरात्मक नामभूत धातु बाद में होने पर उपसर्ग का अन्तिम अक्षर दीर्घ होता है ।

२३१. द्वयक्षरे गुर्वादावकाराङ्गे ।। ७ ।।

उपसर्ग का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है यदि उसके बाद गुरु अकाराङ्ग वाली द्वयक्षरात्मक वह धातु हो ।

---

* साङ्ग समागम का अर्थ है—शारीरिक अङ्गों के समागम या मिलने के फलस्वरूप क्रिया का सम्पादन । पाणिनि ने इसको अधिक स्पष्ट किया है । इनके अनुसार समास में दोनों पद परस्पर सरूप होते हैं और उनका अन्तिम अक्षर दीर्घ भाव को प्राप्त कर लेता है ।

द्रष्टव्य—पा०सू० २.२.२६; ५.४.१२७ एवं ६.३.१३७

२३२. प्रदन्त्यादौ सादसूदसङ्गसेनेषु ।। ८ ।।

दन्त्य प्रथम वर्ण से युक्त साद, सूद, सङ्ग और सेन पद बाद में हो तो प्र का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है ।

२३३. न सत्त्वभावे लुडिते च ।। ९ ।।

द्रव्यवाची षष्ठ्यन्त पद बाद में रहने पर 'द्र' दीर्घ नहीं होता ।

२३४. निष्ठायामित तादौ ।। १० ।।

निष्ठा प्रत्यय के विषय में तकारादि धातु बाद में होने पर उपसर्ग का इकार दीर्घ हो जाता है ।

२३५. उ च काशे दर्शने ।। ११ ।।

दर्शनार्थक काश् धातु बाद में होने पर पूर्ववर्ती उकार और इकार दीर्घ हो जाते हैं ।

तृतीय दशक

२३६. युग्मं घु ।। १ ।।

पाद के द्व्यक्षरात्मक पद का अन्तिम लघु अक्षर दीर्घ हो जाता है ।

२३७. घोर्घुनि घोषादिः ।। २ ।।

घोष वर्ण से संयुक्त एवं लघु उकार के पूर्व और पश्चात् ह्रस्व वर्ण हो तो वह दीर्घ हो जाता है ।

२३८. इ ।। ३ ।।

घोष वर्ण से संयुक्त एवं लघु इकार के पूर्व और परे ह्रस्व वर्ण हो तो वह दीर्घ हो जाता है ।

२३९. सोष्मि दन्त्ये क्षे ।। ४ ।।

सोष्मन से संयुक्त इकार के बाद दन्त्य पद हो तो इकार दीर्घ हो जाता है ।

२४०. कण्ठ्ये ।। ५ ।।

सोष्मन् से संयुक्त इकार के पूर्व कण्ठ्य वर्ण हो और उसके बाद दन्त्य वर्ण हो तो वह दीर्घ हो जाता है ।

२४१. व्यादेः ।। ६ ।।

संयुक्त तालव्य वर्ण के बाद दन्त्य वर्ण अथवा कण्ठ्य वर्ण परे रहते वह दीर्घ हो जाता है ।

२४२. क्षमवि ।। ७ ।।

यदि वकार बाद में न हो तो एकाक्षरात्मक पद तथा संयुक्त अक्षर दीर्घ हो जाते हैं ।

२४३. तृतीयम् ॥ ८ ॥

एकाक्षरात्मक पद परे रहते तीन अक्षर के पद का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है।

२४४. य तौ ॥ ९ ॥

पक्षर पद के अन्त में यदि य, त हो तो वे दीर्घ हो जाते हैं।

२४५. ष्मिणोर्द्विवतः ॥ १० ॥

एक पद में दो अक्षरों के बाद य और त दीर्घ हो जाते हैं, यदि ऊष्मन् वर्ण बाद में हों।

चतुर्थ दशक

२४६. णि ॥ १ ॥

णकारियुक्त पाद में पद का अन्तिम त दीर्घ हो जाता है।

२४७. नीचस्य चु प्रथमे ॥ २ ॥

सर्वानदात्त द्वयक्षर पद के बाद वर्ग का प्रथम वर्ण हो तो पूर्ववर्ती पद का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है।

२४८. म ॥ ३ ॥

'म' दीर्घ हो जाता है।

२४९. तम् ॥ ४ ॥

ऋचा में तद् का कोई रूप बाद में हो तो म दीर्घ हो जाता है।

२५०. इमम् ॥ ५ ॥

ऋचा में इमम् पद हो तो म दीर्घ हो जाता है।

२५१. तेः ॥ ६ ॥

वर्ग का प्रथम अक्षर बाद में हो तो ते युक्त पद का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है।

२५२. अयुस्त्य ॥ ७ ॥

पाद के अन्त में प्रयुक्त संयुक्त 'सत्य' पद का ही अन्तिम अक्षर दीर्घ होता है।

२५३. वा इ वर्तनीः ॥ ८ ॥

···वा-इ···और वर्तनीः पद का अन्तिम अक्षर दीर्घ होता है।

२५४. यमः ॥ ९ ॥

दो लघु स्वरों का मध्यवर्ती यकारपरक पद का अन्तिम अक्षर दीर्घ हो जाता है।

२५५. प्रा चु सौष्मिणि ॥ १० ॥

जिनके आदि में प्र है उनके बाद अवस्थित अपदान्त सोष्मन् वर्ण दीर्घ हो जाता है।

पञ्चम दशक

२५६. अरस्य ॥ १ ॥

संयुक्त र और स्य का अन्तिम अक्षर दीर्घ नहीं होता।

२५७. र सन्धिः ॥ २ ॥

स्वर सन्धि प्राप्त पद का अन्तिम अक्षर दीर्घ नहीं होता।

२५८. उपसर्गः ॥ ३ ॥

उपसर्ग दीर्घ नहीं होते।

२५९. द्य ॥ ४ ॥

द्य शब्द दीर्घ नहीं होता।

२६०. मि तृतीयी ॥ ५ ॥

मकार बाद में हो तो वर्ग का अन्तिम अक्षर दीर्घ नहीं होता।

२६१. अनुषगादिः ॥ ६ ॥

'अनुषक्' पद का आदि अक्षर दीर्घ होता है।

२६२. अवः ॥ ७ ॥

'अवः' पद का अन्तिम अक्षर दीर्घ होता है।

२६३. ह्रस्वात पुरुषः ॥ ८ ॥

ह्रस्व स्वर से परे पुरुष पद का आदि अक्षर दीर्घ हो जाता है।

२६४. द्वि स्पर्शः ॥ ९ ॥

ह्रस्व अक्षर से परे स्पर्श वर्ण का द्वित्त्व उच्चारण होता है।

२६५. रे न्त्यो प्रतिषेधे ॥ १० ॥

स्वर परे रहते संयुक्त व्यञ्जन द्वित्व को प्राप्त होता है यदि पदान्त में हो तो।

षष्ठ दशक

२६६. हुर्मू ॥ १ ॥

बाद में स्वर हो तो हुम् शब्द का मकार द्वित्त्व को प्राप्त हो जाता है।

२६७. छः ॥ २ ॥

'छ' द्वित्त्व को प्राप्त हो जाता है ।

२६८. माभ्याम् ॥ ३ ॥

मा के बाद छ को द्वित्त्व हो जाता है ।

२६९. रात सए् ॥ ४ ॥

स्वर से परे पदादि संयुक्त व्यञ्जन क्रम को प्राप्त होता है।

२७०. रं हात् ॥ ५ ॥

स्वर से परे रेफ और हकार क्रम को प्राप्त होते हैं ।

२७१. ऊष्मा व्यञ्जने ॥ ६ ॥

व्यञ्जन परे रहते संयुक्त ऊष्मन् द्वित्व उच्चारण को प्राप्त हो जाता है।

२७२. दे नो मूर्धन्यम् ॥ ७ ॥

एक पद में रेफ के बाद आने वाला मकार मूर्धन्य हो जाता है ।

२७३. ऋषाभ्याम् ॥ ८ ॥

एक पद में ऋकार और षकार से परे नकार मूर्धन्य हो जाता है ।

२७४. नो वा ॥ ९ ॥

वकार युक्त पाद वाली ऋचाओं में 'नः' मूर्धन्य होता है ।

२७५. न मध्यमवर्गीयैर्व्यवेतं लशसैश्च ॥ १० ॥

य, व, वर्ग के मध्यम वर्ण, ल, श, स, एवं च—इन वर्णों के बाद न मूर्धन्य भाव को प्राप्त नहीं होता ।

सप्तम दशक

२७६. क्राभ्यां सो वैभक्तः ॥ १ ॥

ककार एवं रेफ के बाद अवस्थित विभक्ति का सकार मूर्धन्य हो जाता है ।

२७७. उ गि ॥ २ ॥

सामगान में उ और ग बाद में हो तो सकार मूर्धन्य हो जाता है ।

२७८. अन्ताक्षरात् ॥ ३ ॥

अन्ताक्षर (सन्ध्यक्षर) के बाद आने वाला सकार मूर्धन्य हो जाता है ।

२७९. उपसर्गात् ॥ ४ ॥

उपसर्ग से परे सकार मूर्धन्य हो जाता है ।

२८०. राम् ण सु ॥ ५ ॥

रेफ, आकार और मकार युक्त पद में तथा 'ण' और सु युक्त पाद में आने वाला संयुक्त सकार मूर्धन्य भाव को प्राप्त होता है।

२८१. उद आद्ये ॥ ६ ॥

प्रथम पाद में उ के बाद विद्यमान सकार मूर्धन्य हो जाता है।

२८२. क्षाज्जागते ॥ ७ ॥

जगती छन्द के पाद में एकाक्षरीय पद के परे सकार मूर्धन्य हो जाता है।

२८३. सन्ध्यः ॥ ८ ॥

संयुक्त अक्षर से परे सकार हों तो वह मूर्धन्य हो जाता है।

२८४. दन्त्ये स्पर्शे ॥ ९ ॥

पाद में दन्त्य स्पर्श ही बाद में होने पर संयुक्त सकार मूर्धन्य भाव को प्राप्त होता है।

२८५. द्विवति परे ॥ १० ॥

द्वयक्षरात्मक पद में वर्तमान संयुक्त सकार पकार परे रहते मूर्धन्य हो जाता है।

२८६. षाद्दन्त्यः ॥ ११ ॥

षकार के बाद विद्यमान दन्त्य मूर्धन्य हो जाता है।

द्वितीय परिशिष्ट

ऋक्तन्त्र में उद्धृत आचार्यों का संक्षिप्त विवरण

सुबोध बनाने की दृष्टि से इस परिशिष्ट की महती आवश्यकता है अतः इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर आचार्यों के संक्षिप्त परिचय को प्रस्तुत किया जा रहा है, जो इस प्रकार है—

इन्द्र

प्राचीन वैय्याकरणों में इन्द्र का अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्द्र ने सर्वप्रथम देवों की प्रार्थना पर अव्याकृत संस्कृत भाषा को व्याकृत किया और प्रतिपद प्रकृति-प्रत्यय विभाग का विचार करके शब्दोपदेश की प्रक्रिया प्रचलित की।[१] इन्द्र ने बृहस्पति,[२] प्रजापति,[३] अश्विनों,[४] मृत्यु अथवा यम[५] एवं कौशिक विश्वामित्र[६] समस्त शास्त्रों का अध्ययन किया था। इन्द्र जन्मना ब्राह्मण और कर्मणा क्षत्रिय थे।[७] इनकी मन्त्रिपरिषद में एक सहस्र ऋषि थे।[८] उसने अध्यात्म ज्ञान की प्राप्ति के लिये एक सौ एक वर्ष ब्रह्मचर्य का पालन किया।[९]

---

१. (क) वाग्वे पराच्यव्याकृतावदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति।··· तमिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्।

—तै०सं० ६.४.७

(ख) तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययविभागं सर्वत्राकरोत्।

—तै०सं०, ६.४.७ पर सायण

२. बृहस्पतिरिन्द्राय। —ऋ०तं०, १.४ तु०म०भा०, १.१.१

३. गो०ब्रा० १.१.२५

४. (क) अश्विभ्यां भगवाञ्छक्रः। —चरक सूत्र, १.५

(ख) अश्विभ्यामिन्द्रः। —सुश्रुत सूत्र, १.२०

५. वायु पुराण, १०३०.६०

६. जै०ब्रा०, २.७९

७. इन्द्रो वै ब्रह्मणः पुत्रः कर्मणा क्षत्रियोऽभवत्। —महा० शान्तिपर्व, २१.११

८. इन्द्रस्य हि मन्त्रिपरिषद् ऋषीणां सहस्रम् —कौटिल्य अर्थशास्त्र, २.१५

९. छा०उ०, ८.७, ११

अपने प्रिय शिष्य भरद्वाज को तृतीय पुरुषायुष की समाप्ति पर वेद की अनन्तता का उपदेश इन्द्र ने दिया।[1]

इन्होंने 'ऐन्द्र व्याकरण' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया था, जो अब अनुपलब्ध है। व्याकरण ग्रन्थों में बहुशः इनके सूत्रों और मतों को उद्धृत किया गया है,[2] जिससे उनकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

औदव्रजि

आचार्य औदव्रजि का उल्लेख स्वरों की संधि के प्रसंग में ऋक्तन्त्र में किया गया है।[*] नारदीय-शिक्षा में प्राचीन औदव्रजि का स्मरण किया गया है।[3] पाणिनि-शिक्षा की पञ्जिका व्याख्या में अनेक स्थलों पर इनके मतों को उद्धृत किया गया है।[4] भट्टोजि दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ में इनको ऋक्तन्त्र का कर्ता कहा है।[5] इनसे संबंधित इससे अधिक विवरण प्राप्त नहीं होता।

बृहस्पति

ऋक्तन्त्र के अनुसार ब्रह्मा से बृहस्पति ने अक्षर-ज्ञान प्राप्त किया तथा

---

१. तै०ब्रा० ३.१०.११

२. (क) जराया ङसीन्द्रस्याचि। —शाकटायन व्याकरण १.२.२७

(ख) ऐन्द्रेशानादिषु व्याकरणेषु चान्झलादिरुपस्यासिद्धेः।

—हैमबृहद्वृत्यवचूर्णि, पृ० १०

(ग) ब्राह्मैशानमैन्द्रं च प्राजापत्यं बृहस्पतिम्।
त्वाष्ट्रमापिशलं चेति पाणिनीयमथाष्कम्॥ —वही, पृ० ३

(घ) इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशलीशाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टदिशाब्दिकाः॥

—वोपदेव, कपिकल्पद्रुम, प्रारम्भिक श्लोक

(ङ) ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम्।
सारस्वतं चापिशलं शाकल्यं पाणिनीयकम्॥

—श्री तत्त्वनिधि, पृ० ५०

* न्यायेनौदव्रजिः। —ऋ० तं०, २.६.१०

३. तेनास्यकरणं सौक्ष्म्यं माधुर्यं चोपजायते।
वर्णाश्च कुरुते सम्यक् प्राचीनौदव्रजिर्यथा॥ —ना०शि०, २.८.५

४. पा०शि०, पृ० १०, ११, १२, १४, १६ इत्यादि।

५. शब्दकौस्तुभ, पृ० १४३

इन्द्र को उसका उपदेश दिया ।[1] बृहस्पति को बुद्धि का अधिष्ठाता माना जाता है ।[2] अतएव इन्हें 'वाचस्पति'[3] एवं 'बृहतीपति'[4] अभिधानों से भी अभिहित किया गया है । ऐतरेयब्राह्मण में इन्हें देवों का पुरोहित कहा गया है ।[5] छान्दोग्योपनिषद् में बृहस्पति के सामगान को क्रौन्च पक्षी के स्वर के सदृश्य बतलाया गया है ।[6] बृहस्पति के द्वारा रचित अर्थशास्त्र का भी उल्लेख मिलता है । बृहस्पति ने इन्द्र के लिए प्रतिपद-पाठ निर्धारण विषयक 'शब्द-पारायण' नामक शास्त्र का प्रवचन किया था ।[7] इन्हें वास्तुशास्त्र का उपदेशक भी कहा गया है ।[8] बृहस्पति स्मृति का अभिधान नीतिशास्त्र से इनका सम्बन्ध व्यक्त करती है । परम्परा इन्हें चार्वाकदर्शन से भी सम्बद्ध मानती है ।

ब्रह्मा

ऋक्तन्त्र के अनुसार व्याकरणशास्त्र का आदि प्रवक्ता ब्रह्मा है । इन्होंने

---

१. ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय··· । —ऋ०तं०, १.४
तु० (क) महा०, १२.८५.३-१० (ख) म०भा०, १.१.१

२. मै०सं०, २.६ ३. श०ब्रा०, १४.४.१.१ तु० मत्स्यपुराण, २३.४

४. एष एव उ बृहस्पतिर्वाग्वै बृहती तस्या एव पतिस्तमादु बृहस्पतिः ।
बृ० उ०, १.३.२०

५. बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहितः । —ऐ०ब्रा०, ८.२६

६. विनर्दि साम्नो वृणे···क्रौन्चं बृहस्पतेरपध्वान्तं वरुणस्य··· ।
—छा०उ०, २.२२.१

७. बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्ष सहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच । —म०भा०, १.१.१

तु० (क) दिव्यं वषसहस्रमिन्द्रो बृहस्पतेः सकाशात् प्रतिपदपाठेन शब्दान् पठन् नान्तं जगामेति । —प्रक्रियाकौमुदी भाग-१, पृ० ७

(ख) शब्दपारायणशब्दो योगरूढः शास्त्रविशेषस्य ।
—म०भा०, १.१.१ पर कैयट

(ग) शब्दपारायणं रूढि शब्दोऽयं कस्यचित् ग्रन्थस्य ।
—भर्तृहरि, महाभाष्य दीपिका, पृ० २१

८. तथा शुक्र बृहस्पती··············· ।
अष्टादशैते विख्याता वास्तुशास्त्रोपदेशकाः ।। —मत्स्यपुराण, २५१.३-४

अक्षर-समाम्नाय का सर्वप्रथम उपदेश बृहस्पति को दिया था।[1] परमेष्ठिन्[2] और अथर्वन् ने ब्रह्मा से ब्रह्मविद्या का ज्ञान प्राप्त किया। प्राचीन भारतीय वाङ्मय के आदि प्रवक्ता के रूप में ब्रह्मा का उल्लेख किया गया है। पाठ्य, गीत, अभिनय तथा रस को क्रमशः ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद से संगृहीत कर नाटकों की रचना का श्रेय ब्रह्मा को ही दिया जाता है।[4] इन्हें वास्तु शास्त्र[5] और दण्डनीति विषयक[6] ग्रन्थों का रचयिता भी कहा गया है।

भरद्वाज

ऋक्तन्त्र के अनुसार भरद्वाज ने इन्द्र से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था।[7] इन्द्र ने ही भरद्वाज को घोष और ऊष्म वर्णों का उपदेश[8] दिया तथा आयुर्वेद का ज्ञान कराया था।[9] तृणञ्जय[10] और भृगु[11] ने इनको क्रमशः पुराण और धर्मशास्त्र का उपदेश दिया था। इन्द्र से उपलब्ध व्याकरण के ज्ञान को भरद्वाज ने ऋषियों को प्राप्त कराया।[12] आत्रेय पुनर्वसु[13] और गौतम[14] ने इनसे क्रमशः आयुर्वेद और पुराण का अध्ययन किया था। वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में आख्यात=क्रिया को भरद्वाज से विशेष रूप से सम्बद्ध बताया गया है। इससे

---

१. ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच। —ऋ०तं०, १.२

२. परमेष्ठिनः परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म···। —बृ० उ०, २.६.३

३. मुण्डकोपनिषद्—१.१.३

४. जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥ —ना०शा०, १

५. मत्स्यपुराण, २५२.२

६. महा०, १२.५६.८७

७. इन्द्रो भरद्वाजाय। —ऋ०तं०, १.४

८. तस्य यानि व्यञ्जनानि तच्छरीरम्, यो घोषः स आत्मा, य ऊष्माण स प्राणः ·····एतदु हैवेन्द्रो भरद्वाजाय प्रोवाच। —ऐ०आ० २.२.४

९. तस्मै प्रोवाच भगवानायुर्वेदं शतक्रतुः। —चरक संहिता, १.२३

१०. तृणञ्जयो भरद्वाजाय। —वायुपुराण, १०३.६३

११. भृगुणाऽभिहितं शास्त्रं भरद्वाजायपृच्छते। —महा०, १२.१८२.५

१२. भरद्वाज ऋषिभ्यः। —ऋ० तं०, १.४

१३. ऋषयश्च भरद्वाजात्···।
अथ मैत्रीपरः पुण्यमायुर्वेदः पुनर्वसुः। —चरक संहिता, १.२७

१४. ···गौतमाय भरद्वाजः। —वायुपुराण, १०३.६३

ज्ञात होता है कि इनका आख्यात विषयक मत सर्वमान्य था।[1] काशिका में भरद्वाज के इक्कीस अपत्यों का निर्देश है।[2]

शाकटायन

वैयाकरण-सम्प्रदाय में आचार्य शाकटायन का नाम अत्यन्त ही आदर के साथ लिया गया है। ऋक्तन्त्र को इन्हीं की कृति माना जाता है।[3] शैशिरीय शिक्षा के अनुसार शैशिर परम्परा का आचार्य माना गया है।[4] वोपदेव के कविकल्पद्रुम[5] और वैष्णव ग्रन्थ श्रीतत्त्वनिधि[6] के प्रारम्भ में प्रमुख वैयाकरणों में शाकटायन का भी स्मरण किया है। शाकटायन का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त है—सम्पूर्ण नाम शब्दों को धातुज मानना।[7] इनके मतों का निर्देश प्रातिशाख्यों ने,[8] बृहद्देवता ने,[9] तथा पाणिनि[10] ने बहुशः किया है।

ऋक्तन्त्र तथा उसकी वृत्ति में ऐतिकायन,[11] जालकाक,[12] नकुलमुख[13] और नैगि[14] का भी उल्लेख हुआ है, परन्तु इनका निर्देश अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। अतः इनके सम्बन्ध में विशेष कुछ ज्ञात नहीं है।

---

१. भारद्वाजकमाख्यातं भार्गवंनाम भाष्यते।
वासिष्ठ उपसर्गस्तु निपातः काश्यपः स्मृतः॥ —वा०प्रा०, ८.६५

२. पा०सू०, २; १.१९ पर काशिका

३. व्याकरणे शकटस्य च तोकम् वैयाकरणानां च शाकटायन आह।
म०भा०, ३.३.१

४. शैशिरस्य तु शिष्यस्य शाकटायन एव च। —शै०शि०प्रारम्भिक श्लोक।

५. इन्द्रश्चन्द्र काशकृत्स्नापिशलीशाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्राः जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः॥ —कविकल्पद्रुम प्रारम्भ।

६. ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम्।
सारस्वतं चापिशलं शाकल्यं प्राणिनीयकम्॥ —श्री तत्त्वनिधि प्रारम्भ।

७. तत्र नामाख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्त समयश्च। —नि० १.१३
तु० वृहद्देवता, २.९

८. (क) ऋ०प्रा०, १०.४७ (ख) वा०प्रा०, ३.८; ४.५
(ग) च०अ०, २.२४, ३०

९. बृहद्देवता, २.१; ३.१५६; ४.१३८; ६.४३

१०. पा०सू०, ४.१.८६, ८७ एवं इस पर काशिका

११. ऋ०तं०, ४.५.४ पर वृत्ति

१२. ऋ०तं०, २.४.८ पर वृत्ति

१३. ऋ०तं०, ३.३.१०

१४. ऋ०तं०, २.६.६; ४.३.१

तृतीय परिशिष्ट

ऋक्तन्त्र की विशिष्ट पारिभाषिक शब्दावली

ऋक्तन्त्र में उपलब्ध पारिभाषिक शब्द	सन्दर्भ	प्रातिशाख्यों एवं ऋक्तन्त्र-वृत्ति में प्रयुक्त शब्दावली
अड्	३.६.२; ४.१.३	पादमर्धीय
अण्	३.२.१; ३.२.७	पादादि
अयुक	५.४.७	अयुक्त
अर्	५.५.१	अक्षर
उत्	२.६.१, ४,५; ४.२.६	उदात्त
उच्चश्रुति	३.३.१	प्रचय
ऋक्	४.२.४	आर्चिक
कला	२.४.२-४	
क्ष	५.७.७	अक्षर
खिड्	४.१.५	पादोपान्तीय
र्ग	२.२.३	वर्ग
ग्रा	३.६.३	ग्रामगेयगान
घ	२.५.१०;३.४.३; ३.५.३; ३.६.२	दीर्घ
घु	५.३.१,२	लघु
चु	५.४.२०; ५.५.१०	दीर्घभाव
ण	४ १.८	पादान्तीय
पठ्य	४.१.७	कण्ठ्य
ति	२.३.९; ३.५.१०	गति
द	३.१.९	पद
द्विवर्ण	३.४.५	वृद्धि
द्वैध	वृत्ति ५.३.२,३	द्विपद
प्रत्यय	वृत्ति ५.६.६	पश्चात्

ऋक्तन्त्र में उपलब्ध पारिभाषिक शब्द	सन्दर्भ	प्रातिशाख्यों एवं ऋक्तन्त्र-वृत्ति में प्रयुक्त शब्दावली
प	४.२.६	लोप
निगार	२.२.१	
भ	४.१.१०	स्तोभ
म	२.६.४	विराम
मत्	३.१.४	प्रकृतिमत्
मास	५.७.५	समास
युर्क्	३.३.१०	युक्त
र	३.५.७; ३.६.५	रेफ
र	२.३.६;३.१.८	स्वर
र	५.६.५	पर
रण	४.४.११	करण
लुप्	३.३.३	लोप
वत्	२.६.२	उदात्तवत
व्यवधान	४.५.१	आगम
व्य	५.३.६	तालव्य
वृद्ध	२.५.४; ३.१.८	प्लुत
सण्	२.३.७; २.५.९; ५.६.४; ३.४.५	संयोग
सन्ध्य	३.४.८	
समान	१.२	समानाक्षर
संस्वाद	२.२.१	
स्व	३.५.७; ४.१.१०; ४.२.५	ह्रस्व
स्था	४.३.९	अन्तस्था
स्य	वृत्ति ५.७.२	ऊह रहस्यगान
ष्मिन्	५.३.१०	ऊष्मन्
हुम्	५.६.१	

चतुर्थ परिशिष्ट

प्रमुख पारिभाषिक शब्दों के समानार्थक अंग्रेजी शब्द

पारिभाषिक शब्द	अंग्रेजी समानार्थक शब्द
अक्षर	Syllable
अक्षर-विभाजन	Syllabic Division
अक्षर-समाम्नाय	Alphabetic Scheme
अघोष	Voiceless, Surd Consonants
अभिनिधान	Incomplete Articulation
अनुदात्त	Grave
अनुनासिक	Nasal
अनुप्रदान	External Efforts
अन्तस्थ	Semi-Vowels
आगम या व्यवधान	Augment
अनुस्वार	Unmodified or Pure Nasal (After-Sound)
अयोगवाह	
आभ्यन्तर प्रयत्न	Internal Efforts
ईषत्स्पृष्ट	Slight Contact
उपध्मानीय	Bi-labial spirant (Literal meany on Breathing)
उदात्त	Acute
उच्च श्रुति	Protracted Acute
उपसर्ग	Prefix
ऊष्मन्	Sibilant, Spirant
ओष्ठ्य	Labial
कण्ठ्य	Guttural Velar

पारिभाषिक शब्द	अंग्रेजी समानार्थक शब्द
काल	Notion of time, Time quantity
गुरु	Long, Heavy
घोष	Voiced,Sonat
जिह्वामूलीय	Guttural Spirant*
तालव्य	Palatal
दन्त्य	Dental
दीर्घ	Long
दुःस्पृष्ट	Incomplete contect
द्वित्त्व	Doubled
नासिक्य	Nasalised
नाद	Tone
निगार	
प्रगृह्य	Seperate (Absence of vowel Saṁdhi).
मात्रा	Mora, Quantity, Degree
मूर्धन्य	Cerebral, Retroflex
यम	
रक्त	Coloured by Nasalisation
रेफ	
लघु	Short, Light
लोप	Elision
वर्ग	Group, Sereis
वर्ण	Letter
वाह्य प्रयत्न	External Efforts
विसर्ग	
विराम	Pause
विकार	Change, Modification
विवृत	Open
विवृति	Hiatus
विवृततर	

*Literal meaning being formed at the root of the tongue.

पारिभाषिक शब्द	अंग्रेजी समानार्थक शब्द
वृद्धि	
व्यञ्जन	Consonant
व्यञ्जन-संधि	Consonant-combination
श्वास	Breath
समास	Compound
सन्ध्यक्षर	Dipthong
सवर्ण	Cofinte, Homi-phonic
समानाक्षर	Simple Vowel,
स्पर्श	Cognate, Plosive, Mute
स्वर	Vowel
स्वर	Accent
स्वरित	Circumflex
स्वर-संधि	Vowel-combination
संवृत	Closed
संधि	Conjunction
संहिता	Euphonic Combination
हनुमूल	Root of the Jaw
ह्रस्व	Short

पञ्चम परिशिष्ट

सामवेद का स्वराङ्कन–प्रकार

सामवेद की कौथुमी और जैमिनीया दो संहिताएँ प्रसिद्ध हैं। जैमिनीय-संहिता का प्रकाशन स्वर-रहित ही किया गया है। कौथुम-संहिता स्वर-युक्त प्रकाशित है। इसका स्वराङ्कन इस प्रकार किया गया है—

उदात्त

१. साम-संहिता में उदात्ता "१" संख्या से अङ्कित किया जाता है।

 २३ ३१ २
 अग्न आ याहि (सा०वे०, १.१)

 यहाँ 'आ' उदात्त है।

२. अनेक उदात्तों के एक साथ प्रयुक्त होने पर प्रथम उदात्त ही अङ्कित किया जाता है।

 ३ १र २र १ २
 पाहि विश्वस्या अरातेः (सा०वे०, १.६)

 यहाँ 'हि' 'वि' दो उदात्त हैं, जिनमें प्रथम अङ्कित है द्वितीय नहीं।

३. जिन उदात्तों से परे स्वरित होता है, उनमें प्रथम उदात्त पर '१' अङ्क के साथ 'र' का अङ्कन भी किया जाता है।

 ३ १र २र
 ब्रह्मा कस्तं सपर्यति

 'ह्‍मा' पर '१ र' का सङ्केत है; क्योंकि उसके परे 'स' स्वरित है

४. विराम से पूर्व उदात्त-अङ्कन '२' अङ्क से किया जाता है।

 १ २ ३ २
 विश्वेषां हितः (सा०वे०, १.२)

 यहाँ 'तः' उदात्त से परे विराम है। अतः 'तः' के ऊपर २ अङ्क लगाया गया है।

५. उदात्त के वाद अनुदात्त हो तो वह उदात्त '२' अङ्क से निर्दिष्ट होता है।

 २ ३ १
 अग्न आ (सा०वे०, १.१)

यहाँ 'ग्न' के अनुदात्त होने के कारण 'अ' का अङ्कन '२' संख्या से किया गया है।

६. यदि उदात्त के बाद स्वरित हो तो प्रथम उदात्त '१ र' से अङ्कित होता है।

३ १र २र
पाहि विश्वस्या (सा०वे०)

यहाँ 'व' के स्वरित होने के कारण 'हि' का अङ्कन '१ र' से किया गया है।

अनुदात्त

१. अनुदात्त स्वर का निर्देश '३' अङ्क से किया जाता है।

२ ३
अग्न (सा०वे०, १.१)

यहाँ 'ग्न' अनुदात्त है।

२. एक साथ अनेक अनुदात्त होने पर प्रथम अनुदात्त पर ही '३' संख्या का अङ्कन किया जाता है।

३ १२
दूरेदृशं (सा०वे०)

यहाँ 'दू' 'रे' दोनों अनुदात्त है अतएव प्रथम 'दू' ही अङ्कित किया गया है।

३. क्षैप्र, जात्य प्रश्लेष स्वरितों के रहने पर अनुदात्त '३क' से निर्दिष्ट होता है।

२ ३क २र
अधा हीन्द्र (सा०वे०)

यहाँ हीन्द्र के इ पर प्रश्लेष स्वरित है अतएव उससे पूर्ववर्ती अनुदात्त 'धा' को '३क' से निर्दिष्ट किया गया है।

स्वरित

१. स्वरित '२' अङ से निर्दिष्ट होता है।

१ २
आ याहि (सा०वे०, १.१)

यहाँ 'या' का अङ्न २ संख्या से किया गया है।

२. अनेक उदात्तों से परवर्ती स्वरित '२र' से निर्दिष्ट किया जाता है

३१र २ र
ब्रह्मा कस्तं सपर्यति

अनेक अ उदात्तों के बाद स्वरित होने के कारण 'स' '२र' से निर्दिष्ट किया गया है।

३. अनुदात्त, एकश्रुति और विराम परे होने पर स्वरित '२र' से निर्दिष्ट होता है।

३क २र ३ २र
तन्वा गिरा (सा०वे०)

'न्वा' के बाद अनुदात्त होने के कारण यह '२र' से निर्दिष्ट किया गया है।

उच्चश्रुति

उच्चश्रुति सर्वत्र अनङ्कित होती है।

१ २
व्यदातये (सा०वे०, १.१)

यहाँ 'त' और 'ये' के स्वरों में उच्चश्रति स्वर है।

षष्ठ परिशिष्ट

स्वरों का आङ्गिक प्रदर्शन

स्वर-उच्चारण का सम्वन्ध मुख के उच्चारण-अवयवों से है, परन्तु वेद में उच्चारण के साथ-साथ हस्त प्रचालन भी प्रचलित है।[1] मुख के स्वर के अनुकूल हस्त-प्रदर्शन होना चाहिए। हस्त-स्वर प्रदर्शन के बिना वेदपाठी अभीष्ट फल की अप्राप्ति, मानव से भिन्न योनि और ब्राह्मणत्व से च्युति को प्राप्त करता है।[2] हस्त-स्वर प्रदर्शन-युक्त मन्त्रों का पाठ करने वाला ब्रह्म लोक को प्राप्त करता है। उच्चारण के समय वाणी के विरमित हो जाने पर, प्रक्षिप्त-शर की धनुर्ज्या के समान हाथ अपने पूर्व स्थान पर आ जाता है।[3]

सामवेद के स्वरों का आङ्गिक प्रदर्शन करने के लिए सर्वप्रथम हाथों को

---

१. हस्तेन ते। —वा०प्रा०, १-१२१

तु० (क सम्यगुच्चारयेद् वर्णान् हस्तेन च मुखेन च। —भा०शि०, १-२५

(ख) हस्ताद् भष्टः स्वराद्र भ्रष्टो न वेद फलमश्नुते।—या०शि०, १-२६

(ग) ऋचो यंजूषि सामानि हस्तहीनानि यः पठेत्।
अनृचो ब्राह्मणस्तावद्यान्त्स्वारं न विन्दति। —या०शि०, १-२६

(घ) हस्तहीनं तु योऽधीते स्वरवर्ण विवर्जितम्।
ऋग्युजः सामभिर्दग्धो वयोनिमधिगच्छति॥
—पा०शि०, ५४, एवं या०शि०, १-४१

२. हस्तेन वेद योऽधीते स्वरवर्णार्थसंयुक्तम्।
ऋग्यजुः सामभिः पूतो ब्रह्म लोके महीयते।
—पा०शि०, ५५ तु०या०शि, १-४४

३. (क) यथा वाणी तथा पाणी रिक्तं तु परिवर्जयेत।
यत्र यत्र स्थिता वाणी पाणिस्तत्रैव तिर्ण्यतः।
यथा धनुष्याविततेशेरक्षिण्ते पुनर्गुणः।
स्वस्थानं प्रतिपद्येत् तद्वत हस्तगतः स्वरः॥
—या०शि०, १-४६,४७

(घ) हस्तौ सुसंयतौ धार्यौ जानुनोरूपरि स्थितौ॥ —या०शि०, १-१६

जङ्घा के ऊपर सुस्थित कर दिया जाता है तदनन्तर अन्य प्रक्रिया प्रारम्भ होती है । सामवेद में संहिता और गान के प्रदर्शन में भिन्नता है जो इस प्रकार है—

संहिता में स्वरों का आङ्गिक प्रदर्शन

उदात्त—पूर्वोक्त अवस्थान में आसीन होकर अंगूठे से तर्जनी के मध्यम पूर्व (बीच में) का स्पर्श किया जाता है ।

अनुदात्त—इस स्वर का प्रदर्शन पूर्ववत् अंगूठे से कनिष्ठा के मध्यम पर्व का स्पर्श किया जाता है ।

स्वरित—इस स्वर के आङ्गिक प्रदर्शन के निमित्त अनामिका के मध्यम पर्व का स्पर्श अंगूठे से करते हैं ।

उच्चश्रुति—इसका प्रदर्शन अंगूठे से मध्यमा के मध्यम पर्व का स्पर्श करके किया जाता है ।

अन्य—विसर्गादि के लिए कोई आङ्गिक प्रदर्शन नहीं है ।

गान में स्वरों का आङ्गिक प्रदर्शन

सामगान के निमित्त सामवेद की शाखाओं में प्रयुक्त स्वर को 'साम स्वर' कहते हैं । ये स्वर हैं—

कुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र एवं अतिस्वार्य ।[1]

इन स्वरों का सम्बन्ध षड्ज, ऋषम, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद आदि गान्धर्व या संगीत स्वरों से भी है ।[2] संगीत स्वरों की उत्पत्ति

---

१. (क) सप्त स्वरा ये यमारत्ते । —ऋ०प्रा०, १३-४४

(ख) तथा सामसु-कुष्ट प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थमन्द्रातिस्वार्याः इति ते यमा नाम वेदितव्याः । —ऋ०प्रा०, १३-४४ पर उ०भा०

तु० (क) कुष्टप्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थ मन्द्रातिस्वार्याः । —तै०प्रा० २३-१२

(ख) प्रथमश्च द्वितीयश्च तृतीयोऽथ चतुर्थकः ।
मन्द्रः कुष्टोह्यतिस्वार्य एतान् कुर्वन्ति सामगाः ॥
—ना०शि०, १-१२

२. तै०प्रा०, २३-१२, १३

तु० (यः सामगानां प्रथमः सवेणोर्मध्यमः स्वरः । यो द्वितीयः सगान्धारस्तृतीयस्त्वृषभःस्मृतः चतुर्थ षड्ज इत्याहुः पंचमो द्यैवतो भवेत् । षष्ठो निषादो विज्ञेयः सप्तमः पञ्चमः स्मृतः । —ना०शि०, ५-१-२

उदात्तादि स्वरों से हुई है।[1] अतएव अन्ततः इन सामस्वरों का सम्वन्ध उदात्तादि स्वरों से भी हो जाता है।[2] इस सम्वन्ध को रेखाचित्र के माध्यम से इस प्रकार दिखलाया जा सकता है—

स्वर

उदात्तादि	गान्धर्व	साम
स्वरित	म मध्यम	कृष्ट
उदात्त	ग गान्धार	प्रथम
अनुदात्त	रे ऋषभ	द्वितीय
स्वरित	सा षड्ज	तृतीय
अनुदात्त	ध धैवत	चतुर्थ
उदात्त	नि निषाद	मन्द्र
स्वरित	प पञ्चम	अतिस्वार्य

साम-स्वरों का हस्त-प्रदर्शन अधोलिखित विधि से किया जाता है—

कृष्ट—इस स्वर का उच्चारण दाहिने हाथ के अंगूठे को एक वार हिलाकर किया जाता है।

प्रथम—इसका उच्चारण करते समय तर्जनी से अंगूठे के मध्यम पर्व का स्पर्श किया जाता है।

द्वितीय—इसके उच्चारण में तर्जनी के मध्यम पर्व का स्पर्श अंगूठे से करते हैं।

तृतीय—इसका उच्चारण अंगूठे से मध्यमा के मध्य पर्व का स्पर्श करके किया जाता है।

---

१. उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्तऋषभधैवतौ।
स्वरित प्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः॥ —पा०शि०, १२

तु० गान्धर्ववेदे ये प्रोक्ता सप्त षड्जादयः स्वराः।
त एव वेदे विज्ञेयास्त्रय उच्चादयः स्वराः॥
उच्चौ निषादगान्धारौ नीचावृषभधैवतौ।
शेषास्तु स्वरिता ज्ञेयाः षड्जमध्यमपञ्चमाः॥ —या०शि०, ६, ७

२. गान्धार को मध्यम उच्चजातः षडजर्षभौ द्वौ निहतोद्भवौ स्तः।
स पञ्चको धैवतको निषादः त्रयः स्वराश्च स्वरितात्तु जातः॥
—या०शि०, ८

चतुर्थ—इसके उच्चारण में अंगूठे में अनामिका के मध्यम पर्व का स्पर्श किया जाता है।

मन्द्र—इस स्वर में अंगूठे से कनिष्ठा के मध्यम पर्व का स्पर्श किया जाता है।

अतिस्वार्य—इसका उच्चारण करते समय अंगूठे से कनिष्का के मूल का स्पर्श करके अंगुलियों को खोल दिया जाता है।

सामान्य-विधि—गायन-काल में प्रत्येक र पर बायें हाथ की एक-एक अंगुली बन्द करते जाते हैं सभी अंगुलियों के बन्द हो जाने पर एक-एक अंगुली को खोलते जाते हैं। यह क्रम निरन्तर गायन-काल-पर्यन्त चलता रहता है।

वाजसनेयी, माध्यन्दिन और ऋग्वेद की शाखाओं में स्वरों के अङ्गिक-प्रदर्शन में परस्पर भिन्नता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

मूल संस्कृत ग्रंथ

संहिता

अथर्ववेद	: श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल, पारडी, सूरत, १९६५
Ṛgveda	: F. Maxmuller, London, 1952
काठक संहिता	: श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल, औंध, सतारा, १९४३
तैत्तिरीय संहिता	: महादेव शास्त्री, मैसूर, १८८४
Maitrāyaṇi-Saṁhitā	: Leopold Von Schoeder, Leipzing, 1888.
Vājasaneyi-Saṁhitā	: A. Weper, Berlin, 1852
सामवेद	: श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वध्याय-मण्डल, पारडी, सूरत १९६३
Sāmaveda Saṁhitā: with the commentry of Sāyaṇācārya	: N. K. Sircar, Ganesh Press, Vol. I-IV, 1876
Sāmaveda Saṁhitā	: Narendrachandra, Vedantatirth, Metropolitan Printing & Publishing house LTD. Calcutta, 1936
कौथुमशाख्याः ग्रामेगेय (वेय प्रकृति) गानात्मकः आरण्यगात्मकः (प्रथमभागः)	: श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल, पारड़ी, सूरत, १९५८
कौथुमशाखायाः ऊहगानम् ऊह्य गानम्	: ए० एम० रामनाथ दीक्षित, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रकाशन, १९६७
शुक्ल यजुर्वेद संहिता	: ऋषि कुमार शर्मा, गौड़, सनातन धर्म प्रेस, मुरादाबाद, १९११

ब्राह्मण

आर्षेय ब्राह्मणम् : श्रीमाधवदास, माशिक लता स्ट्रीट, कलकत्ता, १६४०

आर्षेय ब्राह्मणम् : डा० बे० रामचन्द्र शर्मा, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, १६६२

कौषीतकि ब्राह्मण : ई० डी० गोयल, चौखम्वा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १६६२

Gopath-Brāhmana : Rajendra Lal Mitra and H. Vidyabhushan, Calcutta, 1872

Gopath-Brāhmaṇa : D. Gastra, Lieden, 1919

जैमिनीय ब्राह्मण : डा० रघुवीर, नागपुर, १६५०

ताण्ड्महाब्राह्मण : ए० चिन्तामणि शास्त्री, वाराणसी (दो भाग)

तैत्तिरीय ब्राह्मण : नारायणशास्त्री, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, १६०५

सामविधान ब्राह्मण : वी०आर०शर्मा, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, १६६४

शतपथ ब्राह्मणम् (सायणाचार्य भाष्य सहित- ५ भाग) : श्री कृष्णदास गंगा विष्णु, लक्ष्मी वेङ्टेश्वर स्टीम प्रेस, वम्बई, १६४०

आरण्यक

Aitareyāraṇyaka : A. B. Keith, Oxford University, 1969

ऐतसेयारण्यक : काशीनाथ वासुदेव शास्त्री, अभ्यंकर, आनन्दाश्रस संस्कृत ग्रन्थमाला, पूना, १८६८

तैतिरीय आरण्यक : काशीनाथ वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर, आनन्दाश्रम, संस्कृत ग्रन्थमाला, पूना, १६६६

उपनिषद्

छान्दोग्योपनिषद् : गीता प्रेस गोरखपुर, संवत् २०२३

बृहदारण्यकोपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर, सम्वत् २०२१

कठोपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर, सम्बत् २०२२

ईशावास्योपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर, सम्वत् २०३०

माण्डूक्योपनिषद् : आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थमाला, पूना, १९३६

श्रौतसूत्र

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र : आर० गर्बे, कलकत्ता, १८८२

आश्वलायन श्रौतसूत्र : मङ्गलदेव शास्त्री, बनारस, १९३८

कात्यायन श्रौतसूत्र : नित्यानन्द पर्वतीय, चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थ-माला, वाराणसी, १९२८

कात्यायन श्रौतसूत्र : अनन्तराम डोगरा एवं गोपाल शास्त्री, चौखम्बा, संस्कृत ग्रन्थगाला, वाराणसी, १९३९

निरुक्त

निरुक्तम् : पं० शिवदत्त शर्मा, क्षेमराज श्रीकृष्ण दास, मुम्बई, संवत् १९६९

निरुक्त : पं० काशीनाथ राजवाड़े, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थमाला, पूना, १९२१

निरुक्तम् : मुकुन्द शर्मा वख्शी, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९३०

निघण्टु तथा निरुक्त : डा० लक्ष्मण स्वरूप, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६७

प्रातिशाख्य

Atharva Pratisakhya : Dr. Suryakanta, Meharchand Laksamana Das, Delhi, 1968

Atharva Prātiśākhya : W. D. Whitney, Chowkhamba Sanskrit Series, Banaras, 1962

ऋग्वेद प्रातिशाख्य : डा० वीरेन्द्र कुमार वर्मा, काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, १९७०

Ṛgveda Prātiśākhya : M. D. Sastri, First Vol. Indian Press, Allahabad, 1931
Second Vol. Moti Lal Banarasi Das, Lahore. 1937

ऋग्वेद प्रातिशाख्य (एक परिशीलन) : डा० वीरेन्द्र कुमार वर्मा, काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, १९७२

Ṛk-Tantram : Dr. Suryakant, Meharchand Laksamana Dasa, Delhi, 1933, 38

Laghu Ṛk-Tantram Sangraha & Sāmsaptalakṣaṇa : Dr. Suryakant, Meharchand Laksamana Dasa, Lahore, 1940

Ṛk-Tantra : A. C. Burnell, Manglore, 1879

कात्यायन प्रातिशाख्य : युगल किशोर व्यास, मेसर्स ब्रज बी० दास एण्ड कं०, बनारस, १८८८

पुष्पसूत्रम् : लक्ष्मण शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९२२

The Taitiriya Pratiśākhya and Tribhāṣyaratna : W. D. Whitney, Moti Lal Banarasi Das, Varanasi, 1973

तैत्तिरीय प्रातिशाख्यम् (त्रिभाष्य रत्न भाष्य संहितम्) : राजेन्द्रलाल मित्र, एशियाटिक सोसायटी, बंगाल, कलकत्ता, १८७२

Taitirīya Prātiśākhya : K. Rangacharya, Mysore, 1906

Vājasaneyi-Prātiśākhya : V. Venkat Ram Sharma, Madras University, 1934

वाजसनेयि-प्रातिशाख्यम् : रामकुमार लाल, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६३

सामतन्त्रम् : ए० एम० रामनाथ दीक्षित, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, १९६१

शुक्ल-यजुर्वेदप्रातिशाख्यम् अथवा वाजसनेयि-प्रातिशाख्यम् : डा० वीरेन्द्र कुमार वर्मा, ज्ञान प्रकाश प्रतिष्ठान, वाराणसी, १९७५

शुक्ल यजुःप्रातिशाख्यम् : श्रीमती इन्दु रस्तोगी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६७

शुक्ल यजुर्वेद-प्रातिशाख्य : जुगल किशोर व्यास, मेसर्स ब्रज बी० दास एण्ड कं०, वाराणसी, १८८९

शिक्षा

A collection of Sikṣās : Yugal Kishore Vyas, M/s. Braj, B. Das and Co., Benaras, 1891

नारदीय शिक्षा : श्री पीताम्बर पीठ संस्कृत-परिषद्, दतिया, म० प्र० १९६४

कौटलीय शिक्षा : साधुराम, १९३५

पाणिनीय शिक्षा : श्री रुद्रप्रसाद अवस्थी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९७२

Bhardwaja Sikṣā : V. R. Ramachandra Dikshitar, and B. S. Sundıam Ayyar, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1938

माण्डुकी शिक्षा : भागवत दत्त, अनुसंधान विभाग, दयानन्द महाविद्यालय, लाहौर, १९२१

याज्ञवल्क्य शिक्षा : अमरनाथ शास्त्री, ज्योतिष प्रकाश प्रेस, वाराणसी, १९६२

वर्णोच्चारण शिक्षा : भारतीय प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अजमेर, विक्रमी २००७

शिक्षा समुच्चय : डा० पी० एल० वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६०

शिक्षा सूत्राणि : भारतीय प्राच्य विद्या संस्थान, अजमेर, सम्वत् २००५

शिक्षादिवेदषडङ्ग प्रारम्भ : तुकाराम जावजी, निर्णय सागर प्रेस, २३, कोलभर लेन, बम्बई, १९१५

Sarvasammata Sikṣā : A. O. Fıanke, 1886

शौनक शिक्षा : के० एन० एम० दिवाकर गजेन्द्र, १९६२

स्वराङ्कुशः : आचार्य सत्यव्रत सामश्रमी एवं महेन्द्र नाथ सरकार, कलकत्ता, सम्वत् १९५१

व्याकरण

कातन्त्र-व्याकरण विमर्श : डा० जानकी प्रसाद द्विवेदी, अनुसंधान संस्थान, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७५

काशकृत्स्न व्याकरण : डा० युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, अजमेर, विक्रम २०२२

काशिका वृत्ति : ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९५२

चान्द्र व्याकरण : डा० फतह सिंह, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, १९६७

जैनेन्द्र व्याकरण : विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी, मास्टर खेलाड़ी लाल, संकठा प्रसाद, कचौड़ी गली, वाराणसी, वि० २०२०

न्यास-जिनेन्द्र बुद्धि : प्राच्य भारतीय प्रकाशन, वाराणसी, १९६५

पदमञ्जरी-हरदत्त : प्राच्य भारती प्रकाशन, काशी, १९३५

परिभाषेन्दुशेखर : वासुदेव शास्त्री पटवर्धन, राजेश्वरी पुस्तकालय, दुर्गाघाट, वाराणसी, १९४२

प्रयोगरत्नमाला व्याकरण : सिद्धनाथ विद्यावागीश, कूच विहार, साल १२९७ बांगला संस्करण

मुग्धबोध व्याकरणम् : जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, कलकत्ता, १९०२

व्याकरण महाभाष्यम् : वेदव्रत स्नातक, सिद्धान्त शिरोमणि, हरियाणा साहित्य संस्थान, रोहतक, वि० २०१९

Vyākaraṇa Mahā Bhāṣya of Patañjali : F. Keilhorn, Government Central Book Depot, Bombay (Vol. III) 1909

Vyākaraṇa Mahā Bhāṣya of Patañjalī : F. Keilhorn, Bhandarkar oriental, Research Institute Poona, 1906

शाकटायन व्याकरण : शम्भूनाथ त्रिपाठी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, १९७१

संक्षिप्त-सार व्याकरण : जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, कलकत्ता, १९२१ बांगला संस्करण

सारस्वत व्याकरण : नारायण राम आचार्य काव्यतीर्थ, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९५२

सारस्वत व्याकरणम् : नवकिशोर शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९३५

Saraswatī Kaṇṭhābharaṇa of Bhojdeo : T. R. Chintamani, University of : Madras, 1937

सिद्धहेमचन्द्र शब्दानुशासन : पी०एल० वैद्य, भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९५८

सिद्धान्त कौमुदी (भट्टोजिदीक्षित) : जावजी पाण्डुरंग, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९०१

हरिनामामृत व्याकरण : श्री चैतन्य रिसर्च इन्स्टीट्यूट, ७० बी रास विहारी एवेन्यू, कलकत्ता, २६, १९७२

अन्य सन्दर्भग्रन्थ

Abhyankar. K. V. and Limye, V.P. : Vākya-Padiya, University of Poona, Sanskrit and Prakrit Series, Poona-1965

अग्रवाल, वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वाराणसी, वि० २०१२

अभिमन्यु, मन्नालाल : नैषधमहाकाव्यम्, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९४८

Allen, W. S. : Phonetics in Ancient India, Oxford University 1965

आचार्य नारायणराम : मनुस्मृतिः, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९४६

आचार्य नरेन्द्रनाथ : भाषा विज्ञान, रामप्रकाशन मण्डल, लखनऊ, १९६०

उपाध्याय, डा० बलदेव : पुराणविमर्श, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६५

उपाध्याय, डा० बलदेव : वैदिक साहित्य और संस्कृति, शारदा प्रकाशन मन्दिर, काशी, १९६७

कविरत्न, पं० शिवदत्त : सुभाषित रत्नसुधाभाण्डागार, क्षेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, सं० १९८५

कुन्हन राज, सी० : ऋग्वेदानुक्रमणी, मद्रास युनिवर्सिटी, १९३२

Keith, A.B. : The Vedas of the Black Yajus-School, Moti Lal Banarasi Das, Benaras, 1967

Goldsticker, T. : Pāṇini : His Place in Sanskrit Literature, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi 1965

गैरोला, वाचस्पति : कौटिल्य अर्थशास्त्र, चौखम्वा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६३

Thumb and Hirt : Grammatik Der Sanskrit, Heidel-Berg, 1930

शर्मा, जयदेव : ऋगर्थदीपिका, स्वाध्याय मण्डल, औध, सतारा, वि० १९९८

डोगरा, अनन्तराम : चरणव्यूह सूत्रम्, चौखम्वा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९३८

गोपाल शास्त्री : शब्द कौस्तुभ, (दो भाग) चौखम्वा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९२९

त्रिवेदी, पं० रामगोविन्द : वैदिक साहित्य, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रकाशन दिल्ली, १९६८

नारंग, डा० सत्यपाल : वैदिक व्याकरण, देववाणी प्रकाशन, दिल्ली, १९७०

प० शिवदत्त : अमरकोष, निर्णय सागर प्रेस, वम्वई, १९०५

Bloomfield, M. : Vedic concordance, Harward Oriental Series Vol. X 1906

भगवद्दत्त : वैदिक वाङमय का इतिहास (दो भाग) डी०ए०वी० कालेज, लाहौर, १९२७ एवं ३१

भाषिक सूत्रम् (शतपथ ब्राह्मण के साथ प्रकाशित) : श्री कृष्णदास गंगा विष्णु, छेमराज श्रीकृष्ण-दास, बम्वई, १९४०

Max Muller, F. : The vedas, Indological Book House, Varanasi, 1969

Max Muller, F. : Ṛgveda Saṃhita, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1966

Macdonell, A. A. : A Vedic Grammar for students, Oxford University Press, Ely house, London, W-1, 1966

Macdonell, A. A. : History of Sanskrit Literature, Moti Lal, Banarasi Das, Varanasi, 1965

Macdonell, A. A. : Bṛhad-Devata, Harward Oriental Series Vol. V and VI, 1904

Macdonell, A. A. : Ṛgvedānukramaṇi, Oxford, 1886

भानुजिदीक्षित : अमरकोष, (रामाश्रमी व्याख्या) वाराणसी, १९७०

महाभारत : गीताप्रेस, गोरखपुर, १९५५

मिश्र, गोपाल चन्द्र : भामिनीविलास, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६६

मिश्र, गोपाल चन्द्र : सूक्तरत्नसंग्रह, अच्युतग्रन्थमाला, काशी, १९५१

मीमांसक, युधिष्ठिर : वैदिक स्वर मीमांसा, प्यारे लाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, सम्वत् २०१४

मीमांसक, युधिष्ठिर : संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास (तीन भाग) देहरादून, वि० २००७

Renou, Louis : Histoi Dela Langue Sanskrite, Les Langues Du Monde, 1956

Ray, Mansukh : Skand-Purāṇa, Mor Guru Mandala series No. XXII, Calcutta, 1896

राय, डा० रामकुमार : बृहद्देवता, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६३

राधाकान्त : शब्दकल्पद्रुम, मोतीलाल बनारसीदास (५ भाग) १९६१

डा० रामगोपाल : वैदिक व्याकरण (दो भाग) नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली १९६९

व्यास, डा० भोलाशङ्कर : संस्कृत का भाषा शास्त्रीय अध्ययन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, १९६१

Wilson, H. H. : Sanskrit Grammar, Chowkhamba Sanskrit Series Varanasi, 1961

Weber, Albrecht : The History of Indian Literature, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1961

Weber, Albrecht : Indische Studien, Vol. V, Leipzig, 1850

Weber, Albrecht : Pratijñā Sutra, Leipzig, 1871

Whitney, W. D. : Sanskrit Grammar, MotiLal Banarasi Das, Varanasi, 1969

शर्मा, द्वारका प्रसाद : संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, रामनारायण लाल बेनी प्रसाद, इलाहाबाद, १९६७

शर्मा, श्रीराम : अग्निपुराणं, संस्कृति संस्थान, बरेली (दो भाग) १९६८

शास्त्री, श्रीधर एवं सिद्धेश्वर : महाभाष्य शब्दकोशः, भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९२७

शास्त्री, महादेव : परिभाषासूत्रम्, महाराजा मैसूर राजकीय प्रकाशन, मैसूर, १८९३

सारस्वतशर्मा, केदारनाथ : कथासरित्सागर, राष्ट्रभाषा परिषद् पटना (दो भाग) १९६०, १९६१

यज्वा, श्रीनिवास : स्वरसिद्धान्त चन्द्रिका, १९३६

सिंह, डा० रघुनाथ : ऋग्वेद कथा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९६३

वर्मा, सत्यकाम : भाषा तत्त्व और वाक्य पदीय, भारतीय प्रकाशन, नई दिल्ली, १९६४

ज्ञानी, शिवदत्त : वेदकालीन समाज, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १९६७

PARIMAL PUBLICATIONS
A House of Indological Books
27/28, Shakti Nagar, Delhi-110007